रागिनी शर्मा
बी० ए० द्वितीय वर्ष

प्रशासनिक संस्थाएं

पूर्णतः संशोधित संस्करण

ADMINISTRATIVE INSTITUTIONS

प्रशासनिक संस्थाएं

अध्यक्ष
राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग
जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

2000



साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा

all
about the book

I S B N - 81-7288-073-1

Price : Rs. 60 00

Revised Edition : 2000

Paper—Superior Quality

Published by
Sahitya Bhawan Publications
Hospital Road, Agra-282 003

Printed at
Bhawan Printers
Agra

Note : Due care and diligence has been taken while editing and printing the book, neither the author nor the publisher of the book hold any responsibility for any mistakes that may have inadvertently crept in.

प्राक्कथन

कोई सविधान चाहे कितने ही महान् उद्देश्यों को लेकर बनाया गया हो, वह तभी सजीव एवं शक्तिशाली बनता है, जबकि उन उद्देश्यों को व्यवहार में क्रियान्वित किया जाये। वस्तुतः **'प्रशासनिक संस्थाएं'** ही संविधान द्वारा घोषित उद्देश्यों को व्यवहार में लाने का महत्वपूर्ण साधन है। राज्य के स्वरूप एवं लक्ष्यों में परिवर्तन के साथ-साथ 'प्रशासनिक संस्थाओ' में भी परिवर्तन आता रहा है। 'अहस्तक्षेपवादी राज्य' में 'कल्याणकारी समाजवादी राज्य' की तुलना में प्रशासनिक संस्थाओं की गौण भूमिका रहती है। भारत जैसे लोकतान्त्रिक-समाजवादी राज्य मे प्रशासनिक संस्थाओ की बढ़ती हुई भूमिका के कारण इसे 'प्रशासकीय राज्य' कहा जाने लगा है।

प्रस्तुत पुस्तक मे लोकतान्त्रिक-समाजवादी समाज में प्रशासनिक संस्थाओं की भूमिका का विश्लेषण करते हुए अहस्तक्षेपवादी राज्य, कल्याणकारी राज्य तथा प्रशासकीय राज्य की अवधारणाओं का परीक्षण किया गया है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, नौकरशाही, राजनीतिक दल एवं दवाव समूहों का अवधारणात्मक विवेचन किया गया है। भारत के परिप्रेक्ष्य में वित्त आयोग, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद, निर्वाचन आयोग, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, संघ लोक सेवा आयोग, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, रेलवे बोर्ड तथा रिजर्व बैंक के संगठन एवं कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। लेखक का स्पष्ट मत है कि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था के बहुआयामी सूक्ष्म अध्ययन के लिए इन प्रशासनिक संस्थाओं के कार्यकलापो का गम्भीर अध्ययन लोक प्रशासन के अध्येयता के लिए अपरिहार्य है।

- पुस्तक को सरल भाषा एवं रोचक शैली में लिखा गया है। आशा है : संविधान तथा प्रशासनिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली में रुचि रखने वाले विद्वान एवं विद्यार्थी इसका स्वागत करेंगे और इसे उपयोगी पायेंगे।
- पुस्तक को इतना शीघ्र प्रकाशित करने के लिए मै श्री के. एल. बंसल का बड़ा आभारी हूं। पुस्तक के कलेवर को और अधिक उपयोगी बनाने हेतु प्रेषित सुझावो का मै हृदय से स्वागत करूंगा।

(बी. एल. फड़िया)

विषय-सूची

1

लोकतान्त्रिक एवं समाजवादी समाज में प्रशासनिक संस्थाएं

[ADMINISTRATIVE INSTITUTIONS IN A DEMOCRATIC AND SOCIALIST SOCIETY]

आधुनिक युग में दो प्रकार की समाज व्यवस्थाएं पायी जाती हैं—लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था और समाजवादी समाज व्यवस्था। संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, आदि देशों में लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था पायी जाती है जबकि चीन, पूर्व सोवियत संघ तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के देशों (हंगरी, रूमानिया, बल्गारिया, पोलैण्ड, आदि) में समाजवादी समाज व्यवस्था की स्थापना हुई। लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था के बीज हमें जॉन लॉक, जे. एस [illegible]

समाज व्यवस्था के बीज [illegible]

लोकतान्त्रिक समाज में [illegible]

[illegible] अर्थव्यवस्था अपनाकर लोकतन्त्र एवं समाजवाद के गुणों का अपूर्व मिश्रण करने का प्रयास किया। भारत का संविधान और शासन व्यवस्था लोकतान्त्रिक समाजवाद का अनुपम आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

लोकतान्त्रिक समाज की विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF DEMOCRATIC SOCIETY)

लोकतन्त्र शासन का ही प्रकार नहीं है अपितु यह जीवन का एक प्रकार है। लोकतन्त्र केवल अधिकारों पर बल नहीं देता [illegible]

और बन्धुत्व लोकतन्त्र के आदर्श है [illegible]

नहीं हो सकते जब तक व्यक्ति [illegible] नहीं करता। लोकतन्त्र में मर्यादित एवं अनुशासित शासन की स्थापना होती है। मोटे तौर पर लोकतन्त्र

शासन का वह प्रकार होता है जिसमें राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग अथवा वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज के सदस्यों में निहित होती है।

लोकतान्त्रिक समाज की कतिपय विशेषताएं होती हैं। सर्वप्रथम, लोकतान्त्रिक समाज में लिए गए निर्णयों का आधार खुला विचार-विनिमय होता है। लोकतन्त्र में निर्णय चाहे किसी भी स्तर पर लिए जाएं, उनमें जोर-जबरदस्ती के तत्व के बजाय विचार-विमर्श, वाद-विवाद और समझाने-बुझाने का अंश प्रमुख रहता है। चुनाव भी एक तरह से विचार-विनिमय द्वारा निर्णय लेना ही है। अतः स्वतन्त्र व उन्मुक्त प्रचार पर आधारित चुनाव लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया का महत्वपूर्ण आधार माने जाते हैं। निर्णय प्रक्रिया में सम्पूर्ण समाज को सहभागी बनाने का दूसरा नाम ही लोकतन्त्र है। नियतकालिक चुनाव और वयस्क मताधिकार जनसहभागिता के उपकरण हैं। वैसे तो समस्त जनता की सहमति से लिया गया निर्णय आदर्श कहा जा सकता है, पर व्यवहार में सबके सब निर्णयों पर सहमति असम्भव नहीं तो भी दुष्कर अवश्य लगती है। इसलिए सबकी सहमति के अभाव में निर्णय बहुमत के आधार पर किए जाते हैं। इस प्रकार बहुमत के आधार पर लिए गए निर्णय लोकतान्त्रिक ही माने जाते हैं क्योंकि इन निर्णयों में अधिकांश लोगों की सहमति सम्मिलित रहती है। लोकतान्त्रिक समाजो में निर्णय लेने की प्रक्रियाओ के संरचनात्मक आधार संविधान द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। लोकतान्त्रिक ढंग से लिया गया निर्णय संविधान द्वारा व्यवस्थित साधनों की परिधि में ही किया जाता है। हड़ताल, हिंसात्मक तोड़-फोड़ व धरनो के द्वारा शासकों को निर्णय विशेष लेने के लिए बाध्य करना वास्तव में असांविधानिक साधनों के प्रयोग के कारण निर्णय का अलोकतान्त्रिक ढंग माना जाता है। निर्णय प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं हो—(1) जनता के सामने प्रतियोगी पसन्दों के अनेक विकल्प, (2) मताधिकार की पूर्ण समानता, (3) निर्वाचन व निर्वाचित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता, और (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम समरूपता।

किसी भी शासन व्यवस्था को लोकतान्त्रिक तभी कहा जाता है जब राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय लेने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही सम्पादित हो अर्थात् लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। शासन का प्रतिनिधि स्वरूप ही किसी राजनीतिक व्यवस्था को लोकतान्त्रिक कहने के लिए पर्याप्त नही है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि शासन शक्ति के धारक अपने हर निर्णय व कार्य के लिए जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहें। लोकतन्त्र में शासकों को सत्ता जनता की धरोहर के रूप में प्राप्त रहती है तथा इस सत्ता का उन्हें जनता के हित में, जनता की उन्नति व प्रगति के लिए ही प्रयोग करना होता है। अगर शासक ऐसा नही करते हैं तो वह न जनता के सही प्रतिनिधि रह पाते हैं और न ही उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। केवल वही राजनीतिक समाज लोकतान्त्रिक माने जाते है जहां शासक निरन्तर उत्तरदायित्व निभाते हैं।

लोकतन्त्र की जीवन रेखा प्रतियोगी राजनीति है। राजनीतिक समाज में प्रतियोगी राजनीति की व्यवस्था करने के लिए अनिवार्यताएं होती हैं—(1) राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतन्त्रता, (2) दो या दो से अधिक प्रतियोगी दलों या समूहों के रूप में वैकल्पिक पसन्दों की विद्यमानता, (3) मताधिकार की पूर्ण समानता, (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता, और (5) नियतकालिक चुनाव।

लोकतान्त्रिक समाज की पहचान जनता की संप्रभुता होती है। इसके माध्यम से ही जनता सरकार को प्रतिनिधिक, उत्तरदायी व सांविधानिक रख पाती है। आने वाले चुनाव का भय शासकों को उत्तरदायी रखने की प्रभावशाली व्यवस्था माना गया है। अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जनता की संप्रभुता का सिद्धान्त अत्यधिक महत्व का है।

समाजवादी समाज की विशेषताएं
(SALIENT FEATURES OF SOCIALIST SOCIETY)

समाजवादी समाज व्यवस्था में राज्य को विशिष्ट महत्व दिया जाता है। राज्य के माध्यम से समाजवाद लाने का प्रयत्न किया जाता है। राज्य का उपयोग समाजवादी व्यवस्था की स्थापना और पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के लिए किया जाता है। उत्पादन के सभी साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। समाजवाद की मान्यता में लोकतन्त्र तब तक व्यावहारिक नहीं बन सकता जब तक उत्पादन व वितरण के साधनों का स्वामित्व सम्पूर्ण समाज में निहित नहीं होता है।

समाजवादी समाज में राज्य द्वारा शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि श्रमिकों को उचित वेतन मिले, उन्हें आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों तथा मुनाफाखोरी बन्द की जाए। वे मानते हैं कि राज्य रूपी विशाल मशीन का प्रयोग पूंजीवाद के पोषण के स्थान पर पूंजीवाद के अन्त हेतु किया जाए। वे चाहते हैं कि राज्य की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि की जाए तथा राज्य जनकल्याण के अधिक से अधिक कार्य कर सके। "समाजवादी समाज के आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों में राज्य को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। यह आर्थिक तथा सामाजिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप का प्रबल समर्थन करता है। राज्य द्वारा बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए तथा अन्य उद्योगों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाना चाहिए।"[2]

समाजवादी समाज में आर्थिक विषमता दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। धन का वितरण लोगों की योग्यता तथा कार्य के अनुसार करने के लिए अमीरों पर अधिक कर लगाया जाता है ताकि उपलब्ध धनराशि को सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च किया जा सके।

समाजवादी समाज में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है क्योंकि सभी साधन समाज की सम्पत्ति माने जाते हैं, अतः उन पर राज्य, जोकि समाज की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है, का नियन्त्रण रहना चाहिए। राज्य सभी उद्योगों पर समाज के हित में नियन्त्रण रखता है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन राज्य करता है तथा वस्तुओं के निश्चित दाम होते हैं। भूमि का मालिक उसे बनाया जाता है जो भूमि पर काम करता है। जमींदारों से अधिक भूमि को राज्य द्वारा अधिग्रहीत कर लिया जाता है और भूमिहीनों में बांट दिया जाता है।

समाजवादी समाज में सभी के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। राज्य सभी को कुछ-न-कुछ काम देता है और यदि वह किसी को काम देने में असमर्थ हो तो भरण-पोषण के लिए आवश्यक सहायता या वृत्ति देता है।

समाजवादी समाज में उत्पादन किसी वर्ग विशेष के लाभ के लिए न होकर समाज की आवश्यकता की दृष्टि से किया जाता है। समाजवादी देशों में वस्तुओं के मूल्य भी सामाजिक

आवश्यकता को दृष्टि में रखकर निश्चित किए जाते है। कुछ वस्तुओं के मूल्य जो जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, उनकी लागत से कम भी निश्चित किए जा सकते हैं।

भारत : एक लोकतान्त्रिक-समाजवादी समाज
(INDIA . A DEMOCRATIC-SOCIALIST SOCIETY)

सिद्धान्ततः यह कहा जाता है कि लोकतन्त्र एवं समाजवाद साथ-साथ नहीं चल सकते, वे एक-दूसरे के विरोधी हैं तथापि भारत में स्वतन्त्रता के वाद लोकतन्त्र के साथ-साथ समाजवाद के क्रियान्वयन का अद्वितीय प्रयोग किया जा रहा है। संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा गया है कि "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए....।"

भारत में लोकतान्त्रिक व्यवस्था—भारतीय संविधान में लोकतन्त्र की स्थापना सम्बन्धी प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं—

1. **वयस्क मताधिकार और चुनाव**—संविधान द्वारा सभी वालिग स्त्री-पुरुषों को वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया है। भारत में स्वतन्त्रता के तुरन्त वाद सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्रदान कर दिया गया। भारत में संसद और राज्य विधान सभाओं के लिए नियतकालीन चुनावो का प्रावधान है। विभिन्न राजनीतिक दलों एवं गुटो को चुनावों में भाग लेने की पूरी छूट है।

2. **नागरिकों के मौलिक अधिकार**—संविधान का एक पूरा अध्याय नागरिकों के मौलिक अधिकारों की विवेचना करता है, जिसमे प्रमुख है—समता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा धार्मिक स्वतन्त्रता। संविधान द्वारा नागरिकों को विचार, भाषण, सभा-सम्मेलन की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है।

3. **उत्तरदायी कार्यपालिका**—भारत में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था है। संसदीय शासन प्रणाली होने के कारण मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहता है तथा उसका विश्वास खो देने पर उसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

4. **न्यायपालिका की स्वतन्त्रता**—स्वतन्त्र न्यायपालिका लोकतन्त्र का आधार-स्तम्भ है। भारत में न्यायाधीशों को स्वतन्त्र व निष्पक्ष वनाए रखने के लिए संविधान में प्रावधान किए गए हैं। उदाहरण के लिए, उच्च न्यायालय एवं उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, वित्तीय संकट को छोड़कर और किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन या भत्तो में कटौती नहीं की जा सकती। संसद को न्यायाधीशों की आलोचना करने की अनुमति नही है।

5. **पंचायती राज का ढांचा**—लोकतन्त्रात्मक शासन विकेन्द्रीकरण पर वल देता है। इसीलिए भारतीय संविधान मे कहा गया है कि 'राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठाएगा।' 73वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत में पंचायती राज संस्थाओं को सांविधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया है।

संक्षेप में, भारतीय संविधान संसदीय ढांचे के लोकतन्त्र की स्थापना करता है। सच्चा लोकतन्त्र संसदीय लोकतन्त्र ही हो सकता है जिसमें विना हिंसात्मक क्रान्ति के सरकार को बदला जा सकता है। भारत में निर्वाचन व्यक्ति स्वातन्त्र्य और विचार स्वातन्त्र्य के वातावरण मे सम्पन्न होते हैं। चुनाव प्रक्रिया का सार इस बात पर जोर देता है कि अन्ततः आम मतदाता

ही स्वामी है। चुनावों में जिन उम्मीदवारों को जनता का विश्वास प्राप्त होता है वे विजयी होते हैं। लोकसभा में जिस दल का बहुमत होता है उसका नेता प्रधानमन्त्री बनता है। इस प्रकार अपनी पसन्द के प्रधानमन्त्री के जरिए हम अपने ऊपर ही राज करते हैं।

भारत में समाजवादी व्यवस्था—भारतीय संविधान की **प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और नीति निदेशक सिद्धान्तों** में समाजवादी विचारदर्शन के श्रेष्ठतम तत्त्व पाए जाते हैं। प्रस्तावना में सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता तथा प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता की व्यवस्था करने का वायदा किया गया है। प्रस्तावना में **न्याय को स्वतन्त्रता और समता से भी ऊपर रखा गया है।** न्याय की भावना का मूल स्वर है—समाज के विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों के हितों का सामंजस्य और उन सबका समान अभ्युदय। 'अधिकतम संख्या का अधिकतम हित' ही नहीं वरन् सबका, मानव मात्र का अधिकतम हित—सर्वोदय—ही भारतीय संविधान में न्याय का आदर्श है। संविधान के चौथे भाग, अनुच्छेद 38 में इस आदर्श का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राज्य का कर्तव्य होगा कि वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करे जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे और लोककल्याण की उन्नति का पथ प्रशस्त करे।

सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों के समुचित विकास के समान अवसर उपलब्ध हों, किसी भी व्यक्ति का किसी भी रूप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक पवित्र सामाजिक विभूति माना जाए, किसी परोक्ष लक्ष्य की सिद्धि का साधन मात्र नहीं। सामाजिक न्याय के इस मूलभूत समाजवादी सिद्धान्त को संविधान में अनेक रूपों में मान्यता मिली है। संविधान के तीसरे और चौथे भागों में सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिए विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 के अनुसार कानून के समक्ष सबको समान संरक्षण प्राप्त है। अनुच्छेद 15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान आदि के आधार पर विभेद का निपेध करता है। अनुच्छेद 16 के द्वारा राज्याधीन पदों पर नियुक्तियों के सम्बन्ध में सब नागरिको को अवसर की समता दी गई है। अनुच्छेद 23 के द्वारा पण्य और बलात श्रम अथवा बेगार का अन्त कर दिया गया है। अनुच्छेद 41 में कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बीमारी, बुढ़ापा, बेकारी, आदि अभाव की दशाओं मे सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त करने का कार्यसाधक प्रयास करेगा। अनुच्छेद 42 में संविधान में राज्य को निर्देश दिया है कि वह काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करे। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी का प्रबन्ध, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति और अनुच्छेद 47 आहार पुष्टि तल और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार करने का राज्य का कर्तव्य आदि, ऐसे मूल सिद्धान्त हैं जिनका पालन भारत में सामाजिक न्याय का स्वर्ण विहान ला सकता है।

आज के युग में **'आर्थिक न्याय'** के अभाव में सामाजिक न्याय कल्पना मात्र है। आर्थिक न्याय का अभिप्राय है कि धन सम्पदा के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विच्छेद की कोई

दीवार खड़ी नहीं की जा सकती। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का, अथवा एक वर्ग को दूसरे वर्ग का शोषण करने का अधिकार नहीं है। अनुच्छेद 39 में राज्य से कहा गया है कि वह अपनी नीति का संचालन ऐसे करे जिससे समान रूप से सभी नर-नारियों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे अधिकाधिक सामूहिक हित सम्भव हो सकें, आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन का और उत्पादन तथा वितरण के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केन्द्रण न हो; पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमारता का दुरुपयोग न हो, आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर किसी को ऐसे व्यवसाय मे न जाना पड़े जो उसकी आयु अथवा शक्ति के उपयुक्त न हो, और शैशव व किशोर अवस्था का शोषण तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

भारत की विविध पंचवर्षीय योजनाएं आर्थिक न्याय की स्थापना की प्रबल चेष्टाएं हैं। 'समाजवादी ढंग का समाज', 'लोक कल्याणकारी राज्य' और 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' जैसे पदों में व्यक्त होता है कि भारतीय राज्य आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद की स्थापना के लक्ष्य से अनुप्राणित है।

लोकतान्त्रिक-समाजवादी भारत में प्रशासनिक संस्थाएं (ADMINISTRATIVE INSTITUTIONS IN DEMOCRATIC-SOCIALIST INDIA)

भारतीय संविधान में न केवल राष्ट्रपति, मन्त्रिपरिषद, संसद और न्यायपालिका का प्रावधान किया गया है अपितु देश के प्रशासन के संचालन हेतु अनेक प्रकार की प्रशासनिक संस्थाओं एवं सेवाओं का प्रावधान किया गया है। इनमे से कतिपय इस प्रकार हैं—

(1) अखिल भारतीय सेवाएं—संविधान में भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा जैसी अखिल भारतीय सेवा का प्रावधान है। ये सेवाएं केन्द्र तथा राज्यों के लिए साझा सेवाएं हैं। अनुच्छेद 312 संसद को विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन करने की शक्ति प्रदान करता है। 1966 में भारतीय वन सेवा नामक अखिल भारतीय सेवा का गठन किया गया था।

(2) लोक सेवा आयोग—अनुच्छेद 315 संघ के लिए एक संघ लोक सेवा आयोग तथा प्रत्येक राज्य के लिए लोक सेवा आयोग का उपबन्ध करता है। संघ तथा राज्य के लोक सेवा आयोग अपनी-अपनी सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का संचालन करते हैं।

(3) प्रशासनिक अधिकरण—अनुच्छेद 323 क के अधीन संसद को विधि द्वारा संघ एवं राज्य सरकार के लोक सेवको की सेवा शर्तों से सम्बन्धित विवादों के निपटारे के लिए प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना करने की शक्ति प्रदान की गई है। प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 के उपबन्धों के अधीन नवम्बर, 1985 को केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना की गई ताकि केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को उनकी सेवा सम्बन्धी मामलों में शीघ्र तथा सस्ता न्याय प्रदान किया जा सके।

(4) स्वायत्तता प्राप्त आयोग—संविधान में अनेक स्वायत्तता प्राप्त आयोगों का प्रावधान किया गया है। निर्वाचनों के अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण के लिए निर्वाचन आयोग (अनुच्छेद 324); केन्द्र और राज्यों के बीच करों के बंटवारे के सिद्धान्त तय करने के लिए

वित्त आयोग (अनुच्छेद 280); राजभाषा के सम्बन्ध में आयोग (अनुच्छेद 344) का प्रावधान है। हाल ही में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग; राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग तथा राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया है।

(5) **योजना आयोग**—भारत सरकार के संकल्प के तहत मार्च 1950 में योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों से परामर्श करके पंचवर्षीय योजनाएं तथा वार्षिक योजनाएं बनाता है तथा इनके क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करता है।

लोकतान्त्रिक-समाजवादी समाज में प्रशासनिक संस्थाओं की भूमिका
(ROLE OF ADMINISTRATIVE INSTITUTIONS IN DEMOCRATIC-SOCIALIST SOCIETY)

सरकारी कार्यों में वृद्धि और उनकी जटिलता के कारण प्रशासनिक संस्थाओं एवं अभिकरणों की भूमिका पहले से अधिक व्यापक हो गई है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में ऐसा समझा जाता था कि राज्य को मात्र देश की सुरक्षा तथा कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने तक सीमित रहना चाहिए और उसे अर्थव्यवस्था में यथासम्भव कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए, किन्तु आजकल सभी सरकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अर्थव्यवस्था को विनियमित करें जिससे कि उत्पादन में वृद्धि हो सके। अर्थव्यवस्था को इस प्रकार विनियमित करने की आवश्यकता भारत जैसे विकासशील देशों में और भी अधिक है क्योंकि यहां एक ओर व्यापक गरीबी और बेरोजगारी है तो दूसरी ओर एकाधिकारवादियों की प्रबल शक्ति है। सरकार राजकोषीय नीतियों (कर लागू करके) और मौद्रिक नीतियों (मुद्रा की पूर्ति की व्यवस्था करके) के माध्यम से अर्थव्यवस्था का विनियमन करती है। नियोजन, जिसका अर्थ है—किसी केन्द्रीकृत प्रशासनिक प्रक्रिया के माध्यम से संसाधनों का विनिधान करके आर्थिक प्रगति का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। सरकार परिवहन व संचार के साधनों का विकास करती है, उद्योगपतियों और किसानों को ऋण तथा कच्चा माल उपलब्ध कराती है। ये समस्त सरकारी गतिविधियां सरकारी विभागों, राष्ट्रीयकृत बैंकों और अन्य सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा अपने कर्मचारियों के माध्यम से पूरी की जाती हैं। इसलिए प्रशासनिकों एवं प्रशासनिक अभिकरणों की एक बहुत महत्वपूर्ण नयी भूमिका है अर्थात् आर्थिक विकास के अभिकरण के रूप में कार्य करने की भूमिका है।

हाल के वर्षों में यह प्रवृत्ति रही है कि राज्य को सामाजिक सेवाओं के लिए अधिक से अधिक दायित्व सौंपे जाएं। ये सेवाएं हैं—शिक्षा, चिकित्सा, परिवार कल्याण, आदि क्षेत्रों में। इन नए दायित्वों का निर्वाह करने के लिए अनेक प्रकार की प्रशासनिक संस्थाएं जैसे विश्वविद्यालय, हास्पीटल, परिवार कल्याण केन्द्र, आदि अस्तित्व में आए है।

भारत जैसे विकासशील देशों के समाज में अनेक रूढ़ियां और सामाजिक बुराइयां जैसे छुआछूत, बहु विवाह, बाल-विवाह, दहेज प्रथा, आदि विद्यमान हैं। इन बुराइयों को मिटाने के लिए अनेक प्रशासनिक संस्थाएं अस्तित्व में आयी है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विमल जालान[1] ने लिखा है कि 'उदारीकरण' और 'नई आर्थिक नीति' के बावजूद भारत में अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में राज्य की भूमिका अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बनी हुई है। आज भी राज्य अग्रांकित क्षेत्रों में प्रमुख भूमिका निभा रहा है—

1 विमल जालान, **भारत का आर्थिक संकट और समाधान**, 1993, पृ. 56-57.

1. भारत मे आयोजना का प्राथमिक उत्तरदायित्व सरकार पर है।
2. सरकार बहुत से सार्वजनिक उद्यमों की स्वामी और प्रवन्धक है।
3 शिक्षा, स्वास्थ्य और समाज कल्याण के क्षेत्र में सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओ को उपलब्ध कराने मे सरकार की अहम् भूमिका है।
4. वैंकिंग तथा वित्तीय संस्थानो पर सरकार का लगभग पूरा एकाधिकार है।
5. औद्योगिक लाइसेसो, विदेशी मुद्रा के अनुमति पत्रों तथा अन्य नियमनों के द्वारा सरकार निजी क्षेत्र की आर्थिक गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती है।

राज्य की महती भूमिका के कारण सरकार अर्थात् प्रशासन का आकार फैलता गया जिससे राज्य द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली सेवाओं की गुणवत्ता में गिरावट आयी।

संक्षेप में, सामाजिक विनिमय तथा सामान्य सामाजिक कल्याण में राज्य की वढ़ती हुई दिलचस्पी का मतलव है सरकारी कार्यकलापों मे राज्य का अधिक से अधिक योगदान। अव हस्तक्षेप न करने वाले राज्य का युग समाप्त हो गया है। इसके स्थान पर स्थिर गति से निश्चयात्मक हस्तक्षेपवादी कल्याणकारी राज्य का उदय हुआ है। राज्य एक आवश्यक संस्था वन गया है जिसका उद्देश्य नागरिकों के जीवन को स्वस्थ तथा सुखी वनाना है। राज्य जनसेवा का माध्यम है, समाज के तमाम लोगों के हितो की सेवा करने वाली संस्था है, समाज के तमाम हितों में सामंजस्य, मेल-मिलाप करके, वर्ग संघर्ष को खत्म करने तथा समाज के तनावों को दूर करने वाली संस्था है।

अव हर समस्या का समाधान राज्य या सरकार की गतिविधि के प्रसार मे ढूंढा जाने लगा, भले ही उसकी लागत या परिणाम कुछ भी हो। राज्य या सरकार का प्रसार जल्द ही स्वयं मे एक लक्ष्य बन गया और आर्थिक क्षेत्र की प्रत्येक प्राथमिकता या असफलता की प्रतिक्रिया में एक नया निगम पैदा हुआ। सरकार के इस प्रसार को वड़े श्रमपूर्वक उन शक्तिशाली हितों के गठवन्धनो ने वढावा दिया जो राज्य की वढती आर्थिक शक्ति से सीधे-सीधे लाभान्वित होते थे। हर्शमैन ने लिखा है कि ऐसी ही प्रक्रिया अनेक औद्योगिक देशों में घटित हुई। सरकारी सेवाओ के व्यापक प्रसार से उन सेवाओं की औसत गुणवत्ता में ह्रास आया। पश्चिम के देशों में कल्याणकारी राज्य से मोहभग का यह एक महत्वपूर्ण कारण था।

प्रश्न

1. आप क्यो समझते है कि प्रजातान्त्रिक राज्य मे प्रशासनिक संस्थाओ की भूमिका अहम होती जा रही है? अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान, 1992)
2. प्रजातान्त्रिक समाज मे प्रशासनिक संस्थाओ की वढती हुई महत्ता का मूल्यांकन कीजिए। (राजस्थान, 1994)
3. प्रजातान्त्रिक समाज मे प्रशासनिक संस्थाओ के वढते हुए महत्व का मूल्यांकन कीजिए। (राजस्थान, 1996)
4. एक लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज में प्रशासनिक संस्थाओ की भूमिका का वर्णन कीजिए। (अजमेर, 1995)
5. एक प्रजातान्त्रिक समाज मे अधिकारी तन्त्र की भूमिका समझाइए। (राजस्थान, 1998)
6. आपके देश में प्रजातान्त्रिक प्रशासन के प्रमुख लक्षण वताइए। (अजमेर, 1998)

2

अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा

[THE CONCEPT OF LAISSEZ FAIRE STATE]

मानव जीवन के कल्याण के क्षेत्र में राज्य की भूमिका को लेकर विद्वानों में सदैव विवाद रहा है। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार राज्य एक महान् नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। अरस्तू के शब्दों में, "राज्य का उद्‌भव जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ है पर वह अच्छे जीवन के निर्माण के लिए विद्यमान है।" हीगल के लिए राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार था। ट्रीटश्के के अनुसार, "राज्य शक्ति है और हमारा यह कर्तव्य है कि नतमस्तक होकर उसकी पूजा करें।" इसके विपरीत, अराजकतावादी विचारक राज्य संस्था को निरर्थक मानते हुए, उसे समाप्त करना चाहते हैं। क्रोपॉटकिन के अनुसार, "राज्य का कोई स्वाभाविक औचित्य नहीं है।" कार्ल मार्क्स राज्य को पूंजीपतियों की संस्था मानता था जिसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है। वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन समाज ही मार्क्स का अन्तिम लक्ष्य था। महात्मा गांधी जैसे विचारक भी राज्य के विरोधी थे। वे उसे हिंसा पर आधारित मानते थे।

वस्तुतः राज्य की भूमिका को लेकर राजनीति विज्ञान में अनेक अतिवादी विचारधाराएं प्रचलित है। इन्हीं विचारधाराओं में एक है—अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा (The Concept of Laissez Faire State)।

अहस्तक्षेपवादी विचारधारा से अभिप्राय

(THE CONCEPT OF LAISSEZ FAIRE STATE : MEANING)

'लेसेज फेयर' फ्रेन्च भाषा का शब्द है जिससे अभिप्राय है कि व्यक्ति को अकेला छोड़ दो ताकि वह अपना कार्य स्वय अपनी इच्छानुसार कर सके। अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा व्यक्तिवादी चिन्तन एवं विचारधारा पर ही आधारित है। इसे व्यक्तिवाद का पर्यायवाची भी कहा जा सकता है। अहस्तक्षेपवाद (यथेच्छाकारिता या लैसेफेयर) का अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार काम करने दिया जाए क्योंकि वह अपने निजी हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। यह व्यक्ति की प्रधानता को स्वीकार करता है और व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है। इस सिद्धान्त को 'हस्तक्षेप न करने की नीति' (Theory of non-interference) भी कहा गया है। इसका नारा था—"संसार जैसा चलता है चलने दो,

उसके कार्यों में हस्तक्षेप मत करो क्योंकि वह अपना नियन्त्रण स्वयं कर लेता है।" इसे 'रामभरोसे राज्य' का सिद्धान्त भी कहते हैं।

अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा का विकास
(EVOLUTION OF THE DOCTRINE OF LAISSEZ FAIRE STATE)

राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा का उद्‌भव 18वीं शताब्दी मे हुआ जब राज्य द्वारा सभी क्षेत्रों मे व्यक्तियों पर प्रबल नियन्त्रण लागू किए जा रहे थे। वाणिज्य सिद्धान्त (Doctrine of Mercantilism) की मान्यता के चलते राज्य के नियमन तथा नियन्त्रण में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप 'अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा' का जन्म हुआ।

उस समय राज्य अपनी समृद्धि और आर्थिक उन्नति के लिए विदेशों से आने वाली तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर विशेषकर सोने-चांदी के निर्यात पर अनेक प्रकार की पाबन्दियां लगाते थे। व्यक्ति अपना जीवन किस प्रकार बिताएं, अपने भोजन में कौन-सी वस्तुएं खाएं, वेशभूषा किस प्रकार की रखें, इन सबके बारे में राज्य द्वारा अनेक प्रकार के नियम बनाए जाते थे। उस समय यह विचारधारा सर्वमान्य थी कि राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा ऐसे नियन्त्रण लगाए जाने अति आवश्यक है। उदाहरणार्थ, फ्रांस में लुई 14वें के शासनकाल (1643-1715) मे उसने तथा उसके मन्त्री कोल्बर्ट ने फ्रांस को समृद्ध बनाने के लिए विभिन्न उद्योगों विशेषकर वस्त्रोद्योग पर कठोर नियन्त्रण स्थापित किया। सन् 1667 ई. में केवल सर्ज नामक कपडा बनाने वाले कारीगरों पर 56 प्रकार के नियम लागू थे; इंग्लैण्ड ने विदेशों से आने वाले माल पर जबरदस्त चुंगी और तटकर लगा रखे थे।

किन्तु इन नियन्त्रणों से व्यापार और उद्योग का दम घुटने लगा। कतिपय प्रबुद्ध अर्थशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के विकास पर राज्य का कोई नियन्त्रण नही होना चाहिए। इनका यह कहना था कि जिस प्रकार विश्व में अनेक प्राकृतिक नियम हैं और राज्य उनमें कोई दखल नही देता है, इसी प्रकार आर्थिक जीवन में भी कुछ विशेष प्राकृतिक नियम हैं, जैसे—मांग और पूर्ति का नियम, मजदूरी का नियम। राज्य को इन नियमों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इनके अनुसार उद्योग को स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहने देना उचित है। यदि व्यापार और उद्योग की व्यवस्था को खुला छोड़ दिया जाए तो प्राकृतिक नियमों के अनुसार इसमें स्वयमेव समुचित नियन्त्रण स्थापित हो जाएगा।

फ्रांस के फिजियोक्रेट विचारकों ने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि राज्य को व्यापार तथा राजस्व के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। अहस्तक्षेपवादी विचारधारा के प्रारम्भिक प्रतिपादकों में विल्हेम हम्बोल्ट का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उसने 'गवर्नमेन्ट [illegible] को जनहित के लिए [illegible] ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा का प्रबल समर्थन किया। वह अपनी विदेश यात्रा में फ्रेन्च अर्थशास्त्रियों के सम्पर्क में आया, उसने वहां राज्य द्वारा उद्योगों पर नियन्त्रण के दुष्परिणाम देखे, वह उनके इस दृष्टिकोण का समर्थक था कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करके इसे खुला छोड़ देना चाहिए।

एडम स्मिथ का स्पष्ट मत था कि राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य न ही आर्थिक मामले सुलझा सकता है और न ही उसे सुलझाने की कोशिश करनी चाहिए। राज्य का कार्य क्षेत्र न्याय, व्यवस्था तथा शान्ति बनाए रखना है। आर्थिक मामले अर्थशास्त्र के नियमों—मांग, पूर्ति, प्रतियोगिता, बाजार के नियम, इत्यादि के भरोसे छोड़ दिए जाने चाहिए। समाज के सब आर्थिक मामले प्रतियोगिता के द्वारा स्वयं ही व्यवस्थित हो जाएंगे। राज्य केवल यह देखेगा कि अन्याय न हो, सौदेबाजी तथा आर्थिक गतिविधियां, लेनदेन आदि सही प्रकार से चलते रहें। राज्य का काम फुटबाल के मैच में रैफरी के समान तथा क्रिकेट मैच में अम्पायर के समान होना चाहिए, जो स्वयं नहीं खेलते बल्कि यह देखते है कि खिलाड़ी नियमों के अनुसार खेल रहे है या नहीं। अतः आर्थिक क्षेत्र में राज्य की हैसियत केवल एक रैफरी के समान ही हो तथा राज्य का चरित्र नकारात्मक राज्य होना चाहिए।

एडम स्मिथ के बाद **रिकार्डो** तथा **माल्थस** ने आर्थिक अहस्तक्षेपवाद का प्रबल समर्थन किया। **जॉन स्टुअर्ट मिल** राज्य को अनिवार्य बुराई मानता था। वह यद्यपि राज्य के उन्मूलन पर बल नहीं देता है, फिर भी यह अवश्य कहता है कि "राज्य न्यूनतम कार्य करे।" व्यक्ति को अपने निजी मामलों में अधिकतम स्वतन्त्रता दी जाए। राज्य द्वारा उस पर लगाया गया प्रत्येक प्रतिबन्ध और राज्य के कार्यों में वृद्धि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक होती है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य की विचारधारा के समर्थकों में **हर्बर्ट स्पेन्सर** (1820-1903) का नाम उल्लेखनीय है। राज्य को एक बुराई स्वीकार कर स्पेन्सर राज्य के कार्यों और शक्तियों का विरोध करता है। उसका विचार है कि व्यक्तियों को अपना विकास स्वयं करने की पूरी छूट दे देनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने का पूरा अधिकार है। खुली प्रतियोगिता में योग्य लोग आगे बढ़ जाएंगे तथा अयोग्य लोग पीछे रहेंगे और उन्हें पीछे ही रहना चाहिए। प्राणियो एवं प्रकृति में योग्यतम की उपस्थिति (Survival of the fittest) का नियम है। जंगल में शेर आदि ताकतवर जानवर ही जीवित रहते हैं तथा कमजोर पशु-पक्षी इनके शिकार बनते हैं। इस व्यवस्था को कोई रोक नहीं सकता। इसी प्रकार राज्य को भी चाहिए कि वह गरीबों व पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए कोई प्रयास नहीं करे। यदि राज्य जनकल्याण के नाम पर कमजोर लोगों की सहायता करता है तो वह विकासवाद के नियम तथा प्राकृतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करता है। स्पेन्सर के अनुसार राज्य को स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, डाक, तार, मुद्रा, रेल आदि की व्यवस्था नही करनी चाहिए। यदि लोग इनकी आवश्यकता अनुभव करेंगे तो स्वयं इनका प्रबन्ध करेंगे। स्पेन्सर के अनुसार राज्य के निम्नलिखित केवल तीन काम उचित हैं—(i) व्यक्ति की बाहरी दुश्मनो से रक्षा, (ii) व्यक्ति की आन्तरिक दुश्मनो से रक्षा, तथा (iii) कानूनी रूप से किए गए अनुबन्धो का पालन करवाना।

अहस्तक्षेपवादी अवधारणा के प्रमुख सिद्धान्त
(MAIN POSTULATES OF LAISSEZ FAIRE IDEOLOGY)

9k

(1) राज्य एक आवश्यक बुराई है—अहस्तक्षेपवादियों के अनुसार राज्य सत्ता और शक्ति का प्रतीक है, राज्य अयोग्य एवं अत्याचार करने वाली संस्था है। राज्य उच्च नैतिक संस्था नहीं है अपितु व्यक्ति की सेवा करने वाली संस्था है। व्यक्ति के लिए ऐसे घटिया राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह व्यक्ति के जीवन एवं स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है,

परन्तु वर्तमान व्यवस्था में व्यक्ति अपूर्ण है, व्यक्तियों में भी स्वार्थ की भावनाओं के कारण संघर्ष होते हैं अतः राज्य आवश्यक है। राज्य व्यक्तियों के स्वार्थों एवं संघर्षों में एकता एवं सामंजस्य बनाए रखता है। कतिपय कार्य व्यक्ति नहीं कर सकता अतः राज्य ही करेगा जैसे सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना, न्याय की स्थापना करना, आदि। इस प्रकार अहस्तक्षेपवादियों के अनुसार राज्य बुरा है और हिंसा का प्रतीक है, फिर भी आवश्यक है। उनके अनुसार राज्य आवश्यक होते हुए भी एक दुर्गुण ही है। फ्रीमैन के अनुसार, "किसी भी रूप में सरकार का अस्तित्व मनुष्य की अपूर्णता का प्रतीक है। आदर्श व्यवस्था वह है जिसमें सरकार बिल्कुल न हो।" इस प्रकार अहस्तक्षेपवादी आदर्शवादियों की भांति राज्य को नैतिक संस्था भी नहीं मानते और न अराजकतावादियों की भांति उसे समाप्त करते हैं। वे तो उसे एक बुराई के रूप में स्वीकार करते हैं।

(2) **वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है**—अहस्तक्षेपवादियों के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है और उसका कार्यक्षेत्र जितना सीमित रहे, उतना ही अच्छा है। अहस्तक्षेपवादियों की दृष्टि में राज्य के आवश्यक कार्य केवल तीन है—(i) देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना, (ii) विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना, और (iii) वैध समझौतो को कार्यान्वित करना। राज्य को यह सब निषेधात्मक कार्य ही करने चाहिए, कोई सकारात्मक कार्य नहीं करना चाहिए। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और जनहित के कार्यो का राज्य द्वारा किया जाना समुचित नही है। राज्य को शिक्षा के प्रसार के लिए विद्यालय नहीं खोलने चाहिए, बीमारों के इलाज के लिए चिकित्सालय भी नहीं खोलने चाहिए, मजदूरों की दशा सुधारने के लिए 'कारखाना कानून' नही बनाने चाहिए, निर्धनो को राज्य की ओर से भरण-पोषण की सहायता नहीं दी जानी चाहिए। इस प्रकार अहस्तक्षेपवादी विचारधारा के अनुसार राज्य के कार्यो मे वृद्धि समाज या व्यक्ति के हित में नहीं है। फ्रीमैन के अनुसार, "वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम-से-कम शासन करती है और व्यक्ति को वे कार्य करने देती है जो वे करना चाहते हैं।"

(3) **व्यक्ति साध्य है तथा राज्य साधन है**—अहस्तक्षेपवादियों के अनुसर, राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की सेवा करना है। राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य व्यक्तियो का समूह मात्र है तथा व्यक्तियो के सुख मे ही राज्य की उन्नति सम्भव है। बेन्थम के अनुसार, "व्यक्ति के हित को समझे बिना समष्टि या समुदाय के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है।" समष्टि या समुदाय काल्पनिक संस्था है। जो वस्तु व्यक्ति के हित और सुख को बढ़ाने में सहायक होती है, वह समष्टि के हित को भी बढ़ाने वाली होती है।

(4) **व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता**—अहस्तक्षेपवाद का एक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान की जाए। अहस्तक्षेपवादी 'लैसे फेयर' अर्थात् 'चीजों को अपने हाल पर छोड़ दो' के सिद्धान्त में विश्वास करते है। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आर्थिक दर्शन के रूप में इसका अर्थ है कि राज्य का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के साधनों का लाभ उतना नही हो पाता जितना राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में हो पाता है। सोशल स्टेटिक्स में स्पेन्सर ने लिखा है—"अतीत के अनुभवों ने हमें सिखाया है कि सुख कभी भी राज्य के प्रयत्नों से नही अपितु व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देने पर मिला है। राज्य का कार्यक्षेत्र नकारात्मक नियन्त्रण होना चाहिए।'

(5) **राज्य अयोग्य संस्था है**—अहस्तक्षेपवादियों के अनुसार राज्य एक अयोग्य संस्था है। राज्य ने अनेक मूर्खतापूर्ण कानून बनाए हैं। स्पेन्सर के अनुसार, "विधानमण्डलों के अशिक्षित, अनुभवहीन सदस्यों ने अतीत काल में कितनी भयंकर भूलें करके समाज को हानि पहुंचाई है, अतः भविष्य में उन पर कोई भरोसा नहीं रखा जाना चाहिए।'

(6) **आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता**—अहस्तक्षेपवादी विचारक आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती है। वे 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez faire) के समर्थक हैं और यह मानते हैं कि आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि राज्य का उद्योग और व्यवसाय पर नियन्त्रण न हो। अहस्तक्षेपवाद 'मुक्त व्यापार' में विश्वास करता है। एडम स्मिथ के शब्दों में, "मुक्त प्रतिस्पर्धा से तथा मांग एवं पूर्ति के नियम के उन्मुक्त संचालन से वस्तुओं के गुण में सुधार होगा और उनकी कीमतें भी कम होंगी, अतः व्यापार पर से विश्वव्यापी नियन्त्रण उठा लेना चाहिए। इसी में जन कल्याण है।"

अहस्तक्षेपवादी राज्य के पक्ष में तर्क

(ARGUMENTS IN FAVOUR OF LAISSEZ FAIRE STATE)

अहस्तक्षेपवादी राज्य के समर्थक आर्थिक, नैतिक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक तर्कों द्वारा ऐसे राज्य का समर्थन करते हैं जो कम से कम शासन करे। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है तमाम सत्ताओं से मुक्ति (Freedom from all authorities)। उनके प्रमुख तर्क निम्न हैं—

(1) **आर्थिक तर्क**—अहस्तक्षेपवाद के समर्थक व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो तथा मिल प्रमुख हैं। इनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लाभ-हानि को भली-भांति समझता है, अतः राज्य को व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वस्तुओं का मूल्य मांग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होता है। यदि वस्तु की मांग अधिक होगी और पूर्ति कम होगी तो दाम बढ़ जाएगा। मांग कम होगी और उत्पादन अधिक होगा तो कीमत घट जाएगी। अतः राज्य को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, भावों का नियमन नहीं करना चाहिए और न मूल्य ही निर्धारित करना चाहिए। स्वतन्त्र आर्थिक प्रतियोगिता होनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक परिश्रम कर अपने हितों की पूर्ति कर सके। यदि राज्य उत्पादन-वितरण का नियमन करने लग जाएगा तो व्यक्ति के काम करने का उत्साह एवं प्रेरणा शिथिल हो जाएगी। एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों का मत है कि आर्थिक विकास के लिए राज्य का आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। राज्य का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के साधनों का लाभ उतना नहीं हो पाता जितना राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में हो पाता है।

(2) **नैतिक तर्क**—अहस्तक्षेपवाद के समर्थन में नैतिक तर्क यह है कि व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व और अपनी अलग विशेषता होती है अतः राज्य का दायित्व है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही ढंग से अपने व्यक्तित्व का विकास करने दे। राज्य को सभी व्यक्तियों को एक ही लाठी से हांकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार शिक्षा, व्यवसाय, मनोरंजन तथा विचार अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे वह नैतिक दृष्टि से ठीक समझता हो। व्यक्ति को राज्य के आदेश का पालन तभी करना चाहिए जब वह उसे नैतिक दृष्टि से समुचित समझता

हो। इस प्रकार व्यक्तिवादियों के अनुसार नैतिक विकास व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण पहलू है और इसका विकास तभी सम्भव है जब राज्य उसे निर्बाध स्वतन्त्रता प्रदान करे।

(3) **ऐतिहासिक तर्क**—ऐतिहासिक उदाहरणों से अहस्तक्षेपवादी यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि राज्य द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप सदैव हानिकारक रहा है। जब भी राज्य ने व्यापार तथा मजदूरी का नियमन किया तब उसे असफलता मिली है। राज्य की नियन्त्रण व्यवस्था से चोर-बाजारी बढ़ी, उत्पादन घटा तथा मूल्य वृद्धि हुई। सामाजिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप के कारण क्रान्तियां हुई हैं। धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप के कारण राज्यों को असफलता मिली। अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने से अधिनायकों की ही कब्र खुद गई। भारत में जीवन के जिन क्षेत्रों में राज्य ने हस्तक्षेप किया है वहां कोई चमत्कारिक सफलता नहीं मिली है। हमारे सरकारी संस्थान घाटे, भ्रष्टाचार तथा कम उत्पादन के पर्यायवाची बन गए हैं। अतः व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य को अहस्तक्षेप की नीति का ही अनुसरण करना चाहिए।

(4) **व्यावहारिक तर्क**—अहस्तक्षेपवादी विचारकों के अनुसार सभी कार्यों के सम्पादन की योग्यता राज्य मे नहीं है। व्यवसाय, कृषि आदि कार्यों में तो राज्य को कदापि सफलता नहीं मिल सकती। राज्य के कर्मचारी भी योग्य नहीं होते क्योंकि वे उस प्रतिबद्धता और समर्पणता की भावना से कार्य नहीं करते, जिस प्रतिबद्धता से वैयक्तिक व्यवसाय का स्वामी करता है। राज्य की कार्यशक्ति और दक्षता वैयक्तिक कार्यशक्ति और दक्षता से उत्कृष्ट नहीं, अपितु निम्नतर होती है। लोकतन्त्र में तो ऐसा व्यक्ति रक्षामन्त्री बन जाता है जिसने कभी सिपाही के रूप में भी काम न किया हो। ऐसे अनुभवहीन व्यक्तियों के हाथ में राज्य की बागडोर होती है अतः राज्य के कार्यों में कदापि वृद्धि नही होनी चाहिए।

(5) **वैज्ञानिक तर्क**—हरबर्ट स्पेन्सर ने प्राणीविज्ञान से नई युक्तियां लेकर अहस्तक्षेपवाद (व्यक्तिवाद) का समर्थन किया। उसके अनुसार, जीवन संघर्ष मे जो व्यक्ति योग्य होते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं और अयोग्य तथा दुर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति का नियम है जो समाज में भी लागू होना चाहिए और समाज में यह तभी लागू हो सकता है जबकि हम व्यक्तियो को स्वतन्त्र छोड़ दें। इस युक्ति के आधार पर व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्यों को दुर्बल, निर्धन तथा असहाय व्यक्तियों की सहायता नहीं करनी चाहिए। यदि राज्य सहायता करता है तो अयोग्य व्यक्तियों की बढ़ोतरी हो जाएगी। स्पेन्सर के अनुसार, शान्ति और न्याय व्यवस्था ही राज्य के उचित कार्य हैं और राज्य को शिक्षा, चिकित्सा, आदि का प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। ऐसे कार्यों को उसे व्यक्तियों पर ही छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार प्राणीशास्त्र के अनुसार राज्य को प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपना विकास करने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा की आलोचना
(CRITICISM OF THE CONCEPT OF LAISSEZ FAIRE STATE)

अहस्तक्षेपवादी विचारक राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। उनके अनुसार "राज्य व्यक्तियों की प्रसन्नता में सबसे अधिक योग उनके व्यक्तिगत मामले में कम-से-कम हस्तक्षेप करके दे सकता है।" स्पेन्सर का मत था कि "राज्य का मुख्य कार्य रक्षा और नियन्त्रण करना है न कि पोषण तथा उन्नति करना।" वस्तुतः अहस्तक्षेपवादियों ने राज्य के कार्यों का भ्रान्तिपूर्ण

चित्र प्रस्तुत किया है। अहस्तक्षेपवाद के विरोधियों द्वारा इनका निम्नलिखित रूप में खण्डन किया जाता है—

(1) व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता—अहस्तक्षेपवादी राज्य के समर्थक यह कहते हैं कि राज्य को व्यक्ति के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक होता है। आज यह स्वीकार नहीं किया जाता कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भली-भांति समझता है और उसमें अपने हित-साधन की पूरी क्षमता है। अब यह माना जाता है कि समाज मे कई ऐसे अंग होते हैं जो अपेक्षाकृत निर्बल और असहाय है और समाज को उनकी भलाई की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

(2) राज्य कल्याणकारी संस्था है—अहस्तक्षेपवादियों की यह धारणा सर्वथा निराधार है कि राज्य एक बुराई है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव सभ्यता ने राज्य के विकास के साथ-साथ बड़ी उन्नति की है वस्तुतः वर्तमान में राज्य एक बुराई नहीं दिखलाई देता। राज्य सभी देशों में प्रगति और विकास की संस्था है। आज तक जितनी भी उन्नति हुई है वह राज्य के अन्तर्गत ही हुई है। राज्य द्वारा व्यक्ति के कल्याण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में अनेक कार्य किए जा रहे हैं। राज्य ने खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकने के, निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने, चिकित्सा, सिंचाई का प्रबन्ध, रेलों, सड़कों, पुलों के निर्माण आदि के बड़े लोकोपयोगी तथा जनकल्याणकारी कार्य किए हैं। अहस्तक्षेपवादियों का यह मत सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि सभ्यता की उन्नति मनुष्य को अपने काम स्वयमेव करने के लिए सौंप देने से होगी। वस्तुतः इसके विपरीत सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ राज्य का नियन्त्रण और कार्य क्षेत्र निरन्तर बढ़ता चला जाता है और राज्य अधिकाधिक मात्रा में जनकल्याणकारी कार्य करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य बुराई न रहकर एक कल्याणकारी संस्था के रूप में दिखलाई दे रहा है।

(3) राज्य और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं—अहस्तक्षेपवादी राज्य और स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी मानते हैं, किन्तु आज यह सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का उद्देश्य विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के हितों में सामंजस्य स्थापित करना है जिससे समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। आज इस विचार को नहीं माना जाता कि राज्य स्वतन्त्रता में बाधक है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि सच्ची स्वतन्त्रता मनमाने ढंग से काम करने में नहीं है, अपितु सामाजिक नियमों के अनुसार काम करने में है।

(4) स्वतन्त्रता नकारात्मक न होकर सकारात्मक होती है—अहस्तक्षेपवादियों के अनुसार स्वतन्त्रता नकारात्मक वस्तु है अर्थात् अहस्तक्षेप ही स्वतन्त्रता है, परन्तु वर्तमान में राज्य अनेक लोककल्याणकारी कार्य कर रहा है, सुविधाएं प्रदान कर रहा है और व्यक्ति के जीवन का नियमन करता है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों को यदि खुली छूट दे दी जाए तो निर्धन व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अतः राज्य के हस्तक्षेप के बिना सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव नहीं है।

(5) समाज एवं राज्य की उपेक्षापूर्ण धारणा—व्यक्तिवादी विचारक राज्य को व्यक्तियों का केवल मात्र योग मानते हैं तथा व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। पर यथार्थ में व्यक्ति समाज पर निर्भर है। आज जो कुछ भी वह है उसका कारण समाज व राज्य है। व्यक्ति का

समाज अथवा राज्य से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं होता है। मनुष्य का विकास समाज में ही होता है। अतः व्यक्तिवादियों की व्यक्ति को समाज से अलग करने की मान्यता दोषपूर्ण है।

(6) **प्राणीशास्त्र की दोषपूर्ण धारणा**—प्राणीशास्त्र की तार्किक व्यक्तिवादी धारणा मनुष्यों पर लागू नहीं की जा सकती। मनुष्य पशु न होकर मानवीय दायित्वों और नैतिक कर्तव्यों को समझने वाला प्राणी है। उसका यह धर्म और कर्तव्य है कि निर्बलों-असहायों की सेवा करे, सहायता करे।

(7) **राज्य का सुधार सम्भव है**—अहस्तक्षेपवादी राज्य की यह कहकर आलोचना करते हैं कि वह अकुशल, खर्चीला, भ्रष्ट तथा नौकरशाही का शासन है। यदि राज्य मे दोष आ गए हैं तो उनकी रोकथाम की जा सकती है और आवश्यक सुधार किए जा सकते हैं। फिर राज्य कई वार लाभ के लिए कोई कार्य नहीं करता है। जन सेवा के अनेक कार्य वह घाटा उठाकर भी करता है।

(8) **राज्य की अयोग्यता की युक्ति का खण्डन**—अहस्तक्षेपवादियों का यह तर्क भी नहीं माना जा सकता है कि राज्य भूतकाल में अपने कार्य करने में सदैव असफल रहा है, वह जो भी कार्य करता है, अक्षमतापूर्वक करता है। सं. रा. अमरीका, ब्रिटेन और जापान जैसे पूंजीवादी देशो में राज्य ने सैकडो कार्यो का बड़ी कुशलतापूर्वक संचालन किया है। राज्य की अयोग्यता की बाते बढा-चढ़ाकर अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से कही जाती हैं। यदि राज्य की संस्थाओं द्वारा चलाए जाने वाले व्यापार और व्यवसाय घाटे पर चलते है तो क्या निजी कम्पनियों के दिवाले नहीं निकलते हैं। इस सम्बन्ध में **हक्सली** ने लिखा है—"राज्य एक शीशे के मकान में रहता है, इस कारण हम उसके समस्त कार्यो एवं असफलताओं का प्रतिबिम्ब देखते हैं, किन्तु निजी क्षेत्र के कार्यों को अपारदर्शक ईंटों और मसाले के भीतर रखा जाता है, अतः जनता इस बात को बहुत ही कम जानती है कि वे क्या काम कर रहे है।"

अतः आधुनिक युग में अहस्तक्षेपवादी राज्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। आज राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर एक कल्याणकारी संस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया जा चुका है। राज्य तथा स्वतन्त्रता में विरोध नहीं देखा गया बल्कि स्वतन्त्रता को एक सकारात्मक चीज समझकर राज्य द्वारा स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियों को स्थापित किया जाना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य में लोक प्रशासन की भूमिका (Role of Public Administration in Laissez faire State)

अहस्तक्षेपवादी विचारक राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते है। राज्य एक बुराई है क्योंकि राज्य शक्ति का विस्तार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है। फिर भी यह आवश्यक है क्योंकि राज्य की नियामक शक्ति के बिना सामाजिक शान्ति और सुव्यवस्था नही रह सकती। इसलिए अहस्तक्षेपवादियों का विचार है कि वह व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में कम से कम हस्तक्षेप करें। राज्य केवल उसी समय हस्तक्षेप करे जब कोई व्यक्ति दूसरे के हितों का अपहरण करे। राज्य का कार्य केवल शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना है। व्यक्ति का कल्याण उसके कार्यक्षेत्र से बाहर है। **हरबर्ट स्पेन्सर** के शब्दों मे, "राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपराध का अस्तित्व है और इसलिए इसका प्रधान कृत्य रक्षा और निरोध करना है न कि

पोषण और विस्तार करना।"[1] स्पेन्सर राज्य के कार्यक्षेत्र को तीन मामलों तक ही सीमित रखते हैं—(1) बाहरी शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना; (2) आन्तरिक शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना और (3) वैध अनुबन्धों को लागू करना।

इस प्रकार अहस्तक्षेपवादी राज्य में चूंकि राज्य की भूमिका एवं कार्यक्षेत्र सीमित है अतः लोक प्रशासन की भूमिका भी सीमित हो जाती है। संक्षेप में, अहस्तक्षेपवादी राज्य में लोक प्रशासन की भूमिका तथा लक्षण निम्नवत् होंगे—

1. लोक प्रशासन के उद्देश्य सरल एवं साधारण होंगे।
2. लोक प्रशासन की कार्यवाही का क्षेत्र सीमित एवं संकुचित होगा।
3. लोक प्रशासन के कार्य एवं प्रक्रियाएं अतीव सरल होंगी।
4. लोक प्रशासन की प्रशासनिक संरचना का आकार लघु होता है।
5. लोक प्रशासन नियामकीय एवं नकारात्मक होता है।
6. लोक प्रशासन पुलिस कार्यों का सम्पादन करता है।
7. सरकार को अधिक कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि शासन के कार्यों का अधिक विस्तार नहीं होता।

इस प्रकार अहस्तक्षेपवादी राज्य में लोक प्रशासन सामाजिक एवं कल्याणकारी सेवाओं के क्षेत्र से विलग रहता है। इसमें न तो प्रशासनिक विशेषीकरण और न ही किसी व्यवस्थित कार्यप्रणाली की आवश्यकता होती है। प्रशासनिक कार्य मुख्य रूप से कुछ लोगों के हितों की रक्षा करने वाले और प्रकृति से नियामक होते है। विशाल नौकरशाही का अभाव होता है और पुलिस कार्य करने वाले अथवा रक्षा करने वाले सैनिक एवं पुलिस अधिकारी ही नौकरशाही के प्रतीक होते है।

प्रश्न

1. अहस्तक्षेपवादी राज्य से आप क्या समझते हैं? यह राज्य लोक कल्याणकारी राज्य से किस प्रकार भिन्न है? (राजस्थान, 1996, 98)
2. अहस्तक्षेपवादी अवधारणा का आधुनिक समय में आलोचनात्मक परीक्षण करिए। (राजस्थान, 1994)

अहस्तक्षेपवादी राज्य के अर्थ एवं लक्षणों का वर्णन कीजिए। (अजमेर, 1996)

4. अहस्तक्षेपवादी राज्य की मुख्य विशेषताएं क्या है? यह लोक कल्याणकारी राज्य से किस प्रकार भिन्न है? (अजमेर, 1998)

---

1 "State exists merely because crime exists and its principal function, therefore, is to protect and restrain, not to factor and promote." —*Spencer*

3

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

[THE CONCEPT OF WELFARE STATE]

लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त राज्य के कार्य-क्षेत्र का एक आधुनिक सिद्धान्त है। यह शब्द सामान्यतः उस राज्य के लिए अपनाया जाता है जो अपने नागरिकों के लिए केवल न्याय, सुरक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था करके ही सन्तोष नही कर लेता, अपितु उनके कल्याण की अभिवृद्धि के लिए जीवन के चहुंमुखी विकास पर ध्यान देता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा का प्रादुर्भाव
(ORIGIN OF THE CONCEPT OF WELFARE STATE)

18वी शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों मे उद्योग-धन्धों में वृद्धि हुई। शहरों में कारखाने बढ़ने के साथ-साथ श्रमिकों की संख्या में भी अनवरत वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप कतिपय नई समस्याएं उत्पन्न हुई। औद्योगिक नगरियों में जनसंख्या की बढ़ोत्तरी के परिणामस्वरूप श्रमिकों की गन्दी बस्तियां बढ़ना स्वाभाविक था। गन्दी बस्तियो के परिणामस्वरूप बीमारी बढी, बेरोजगारी में वृद्धि हुई तथा सामाजिक कुरीतियां भी बढ़ीं। बाल्यावस्था में ही लोग कारखानो में मजदूरी करना आरम्भ कर देते थे। मजदूरी की दरें अत्यन्त कम थीं और बेरोजगारी के समय उनकी दुर्दशा शोचनीय हो जाती थी। इस दुर्दशा के सुधार हेतु 19वी शताब्दी मे विभिन्न प्रयास किए गए। सामाजिक सुधार के लिए अनेक कानून पारित किए गए जिससे मजदूरी के न्यूनतम स्तर, सफाई, पढ़ाई, स्वास्थ्य की सुरक्षा, बाल्यावस्था में मजदूरी पर निषेध आदि का प्रबन्ध किया गया। इन सुधारात्मक कानूनों से श्रमिक वर्ग के शोषण पर रुकावट लगी तथा समाज के दुर्बल वर्गों के हितों के लिए राज्य द्वारा संरक्षण दिया गया। इस प्रकार के सामाजिक न्याय से सम्बन्धित कानूनों के निर्माण की प्रवृत्ति के द्वारा ही *आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा का विकास हुआ।*

वैसे तो प्रो. हैरल्ड लास्की को कल्याणकारी राज्य की धारणा का वर्तमान युग में पथ-प्रदर्शक माना जाता है, किन्तु यह धारणा एकदम नई नही है। अरस्तू ने कहा था कि "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व मे आया और सद्‌जीवन के लिए अस्तित्व में बना हुआ है।" हमारे प्राचीन ग्रन्थ महाभारत में इस धारणा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—"जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता वह नरक का भागी

होता है।" **बेन्थम** और **जे. एस. मिल** के उपयोगितावादी चिन्तन में कल्याणकारी राज्य के मन्तव्य निहित हैं। इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के समय जिस 'निर्धन कानून' की सृष्टि गरीबों एवं शारीरिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों की राहत देने के लिए की गयी थी उसमें जनहित की भावना निहित थी। इंग्लैण्ड के फेबियन समाजवादी दार्शनिकों ने कल्याणकारी राज्य की धारणा की प्रगति में अप्रत्यक्ष सहयोग दिया। इंग्लैण्ड की मजदूर दलीय सरकार ने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके अनेक प्रगतिशील नीतियां अपनायीं। नेपोलियन तृतीय ने अपने शासनकाल में श्रमिकों की वेतन-वृद्धि तथा बीमारों को राजकीय सहायता प्रदान करके कल्याणकारी राज्य की पृष्ठभूमि तैयार की। बिस्मार्क जैसे शासक ने भी बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था तथा शारीरिक अयोग्यता सम्बन्धी कई प्रकार की राज्य-सुविधाएं प्रदान कर जनकल्याणकारी राज्य के उद्भव में सहयोग दिया।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास में इंग्लैण्ड का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। जैसा कि **हॉब्समैन** ने लिखा है—"यह ब्रिटेन की राजनीतिक प्रतिभा का फल है जो धीरे-धीरे एक वृक्ष के रूप में बढ़कर तैयार हो गया है और जिसका रोपण साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व किया गया था।"

लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मिश्रण है। यह व्यक्तिवाद की भांति व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता और समाजवाद की भांति अधिक से अधिक कार्यों का सम्पादन करता है। कल्याणकारी राज्य की धारणा के पीछे यही ध्येय है कि व्यक्ति को सुखी एवं समृद्ध बनाया जाए और इस हेतु राज्य द्वारा आवश्यक सेवा-कार्यों का सम्पादन किया जाए।

लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के अभ्युदय के कारण 01

कल्याणकारी राज्य की धारणा वर्तमान परिस्थितियो की उपज है। इसे आधुनिक औद्योगीकरण की देन कहा जा सकता है। इसके उदय के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) **व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया**—कल्याणकारी राज्य का आदर्श व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। 19वीं शताब्दी में यूरोप के अनेक देशों में इसी सिद्धान्त का बोलबाला था। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया गया और राज्य ने यद्भाव्यम् नीति अपना ली। इससे औद्योगिक क्रान्ति के युग में मजदूरों की दशा दयनीय हो गयी। कारखानों के पूंजीपति मालिक उनसे अधिक से अधिक काम लेते और कम से कम वेतन देते थे। राज्य पूंजीपतियो और मजदूरों के इन सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करता था। धीरे-धीरे ऐसी व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। यह महसूस किया गया कि मजदूरों की दशा सुधारने के लिए अहस्तक्षेप नीति का परित्याग कर राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में मजदूरों की भलाई के लिए राज्य ने कुछ कानून बनाए और यहीं से राज्य की कल्याणकारी धारणा का सूत्रपात हुआ।

(2) **मार्क्सवादी साम्यवाद का भय**—कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने सन् 1848 ई. में 'साम्यवादी घोषणापत्र' प्रकाशित किया। सन् 1917 में लेनिन के नेतृत्व में सोवियत रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई तथा मार्क्स की विचारधारा को ठोस आधार प्राप्त हुआ। साम्यवादी विचारधारा से पाश्चात्य पूंजीवादी देश भयभीत हो गए। वे यह महसूस करने लगे कि यदि पाश्चात्य पूंजीवादी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था मे आमूल-चूल परिवर्तन नहीं किया गया तो

साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना असम्भव होगा। अतः पूंजीवादी लोकतान्त्रिक देशों में कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का तेजी से प्रचार हुआ।

(3) लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा का चलन—मार्क्सवादी साम्यवाद हिंसा और क्रान्ति के उपायों के सहारे समाज-व्यवस्था को बदलना चाहता था। इसके विरुद्ध विकासशील और लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा का उदय हुआ। यह शान्तिपूर्ण एवं वैध उपायों से सामाजिक परिवर्तन चाहता है। इस विचारधारा के समर्थक राज्य को एक लोक-कल्याणकारी संस्था मानते है। ये राज्य की सहायता से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। उनके दृष्टिकोण कल्याणकारी राज्य के मन्तव्यों से मिलते-जुलते हैं।

(4) निम्न वर्ग का उत्थान—आधुनिक युग लोकतन्त्रात्मक युग है। लोकतन्त्र में सामान्य जनता की उपेक्षा असम्भव है। मताधिकार के विस्तार से निम्न वर्गों की दयनीय स्थिति सुधारने के लिए सक्रिय प्रयत्न करना अनिवार्य हो गया। इसके लिए राज्य को अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करना पड़ा था तथा जन-कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करना पड़ा।

लोक-कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा (The Welfare State : Meaning & Definitions)

कल्याणकारी राज्य की धारणा अत्यन्त विस्तृत है अतः कोई सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। सामान्यतः हम उस राज्य को कल्याणकारी राज्य कहते हैं जिसमें राज्य द्वारा उन आपत्तियों एवं कठिनाइयों से मुकाबला करने के उपायों का सेवाओं द्वारा प्रबन्ध किया जाता है जो आपत्तियां अथवा कठिनाइयां प्रत्येक नागरिक के जीवन में उपस्थित हो सकती हैं। कल्याणकारी राज्य की धारणा एक ऐसे राज्य की ओर संकेत करती है जो जनता की भलाई के लिए कार्य करता है। 'भलाई' अथवा 'कल्याण' से अभिप्राय आर्थिक और सामाजिक हितों की वृद्धि करना है। कल्याणकारी राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करता है तथा आवश्यक रूप से एक लोकतान्त्रिक राज्य होता है। कल्याणकारी राज्य के मन्तव्य को उजागर करने वाली कतिपय प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं—

डॉ. अब्राहम के शब्दों में—"लोक-कल्याणकारी राज्य वह समुदाय है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"[1]

केण्ट के अनुसार—"लोक-कल्याणकारी राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज-सेवाओं की व्यवस्था करता है।"[2]

पं. नेहरू का कथन है कि—"सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन-स्तर को ऊपर उठाना लोक-कल्याणकारी राज्य के बुनियादी तत्व हैं।"

ओडम के कथनानुसार—"लोकतन्त्रीय सरकार की वह निश्चित सेवा जो असमान स्थानों में लोकतन्त्र को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए संगठन, कला, विज्ञान और साधनों की व्यवस्था करती है, कल्याणकारी राज्य के मन्तव्यों पर आधारित है।"

---

1 "A welfare state is a community where state's power is deliberately used to modify the normal play of economic forces so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen." —*Dr Abraham*

2 "It is a state which provides for its citizens a wide range of social services." —*Kent*

प्रो. जी. डी. एच. कोल के शब्दों में—"लोक-कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समाज है जिसमें जीवन का न्यूनतम स्तर प्राप्त करने का विश्वास तथा अवसर प्रत्येक नागरिक के अधिकार में होते हैं।"

आर्थर स्लेसिंजर के अनुसार—"लोक-कल्याणकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सरकार अपने समस्त नागरिकों के लिए रोजगार, आय, शिक्षा, चिकित्सा-सहायता, सामाजिक सुरक्षा तथा आवास के कुछ स्तर स्थापित करने के लिए तैयार रहती है।"[1]

संक्षेप में, एक राज्य तभी कल्याणकारी होता है जब वह लोक-कल्याण के विस्तृत कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है। कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो राज्य द्वारा किए जाने वाले साधारण कार्यों के अतिरिक्त लोक-कल्याण के कार्य, जैसे—बेकारी दूर करना, बीमा योजनाएं, बुढ़ापे की पेंशन व अन्य सुरक्षा प्रदान करना, इत्यादि करता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की बुनियादी धारणा यह है कि वास्तव में व्यक्ति की निर्धनता तथा संकट का कारण सामाजिक परिस्थितियां होती हैं। अतः सामाजिक परिस्थितियों का सुधार कर व्यक्ति की सहायता करना राज्य का दायित्व माना जाता है। इसकी धारणा के पीछे सामाजिक न्याय की भावना भी निहित रहती है। डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, "कल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार ताकि अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो सके।".

लोक-कल्याणकारी राज्य के ध्येय इस प्रकार हैं—

(1) लोक-कल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिको द्वारा सच्ची स्वतन्त्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।
(2) राज्य के कार्यक्षेत्र का इस ढंग से विस्तार करना कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता बन्धित न हो।
(3) जनता के सभी वर्गों के आवश्यक हितों की साधना करना।
(4) सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना।
(5) कल्याणकारी राज्य सामाजिक कार्य के ध्येय की पूर्ति का एक महत्वपूर्ण अंग है।

एम. सी. छागला के अनुसार, "लोक-कल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे पुल का निर्माण करना है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सके, जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण हो।" संक्षेप में, कल्याणकारी राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनमे प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विकास हो सके।

कल्याणकारी राज्य के लक्षण (Salient Features of Welfare State)

लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

(1) **लोकतन्त्रीय शासन**—कल्याणकारी राज्य लोकतन्त्रीय व्यवस्था है तथा लोकतन्त्र में ही पुष्पित और पल्लवित होता है। कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य होता है राज्य के कार्यक्षेत्र का इस प्रकार विस्तार करना कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे।

1 "The welfare state is a system wherein government agrees to underwrite certain levels of employment, income, education, medical aid, social security and housing for all its citizens." —*Arthur Schlesinger*

कल्याणकारी राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का सम्मान करता है तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए जनतान्त्रिक साधनों को अपनाता है।

(2) **सामाजिक न्याय की भावना**—कल्याणकारी राज्य सामाजिक न्याय के आदर्श पर कार्य करता है। अमीरों पर उनकी आय के अनुपात में इस प्रकार कर लगाए जाते हैं कि व्यक्तियों की आय का अन्तर कम हो जाए और आर्थिक समानता एवं लोकतन्त्र की स्थापना हो सके।

(3) **सामाजिक सुरक्षा**—कल्याणकारी राज्य नागरिकों को अधिक से अधिक सुरक्षा प्रदान करता है। बेकारों को काम पर लगाया जाता है, सबको काम का अवसर प्रदान किया जाता है, निर्बलों एवं कमजोर वर्गों की सहायता की जाती है, बीमारी एवं बुढ़ापे में सुरक्षा प्रदान की जाती है। राज्य की ओर से सार्वजनिक अस्पताल की व्यवस्था की जाती है तथा राज्य की ओर से बीमे की व्यवस्था होती है।

(4) **न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी**—कल्याणकारी राज्य नागरिकों के सामान्य जीवन स्तर को बनाए रखने का प्रयास करता है। निवास, वस्त्र, आदि की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी करना राज्य अपना दायित्व समझता है। अच्छे जीवन की लिए आवश्यक वातावरण निर्माण करना कल्याणकारी राज्य का लक्षण है।

(5) **समाजसेवी राज्य**—वस्तुतः कल्याणकारी राज्य एक समाजसेवी राज्य होता है। ऐसा राज्य निरक्षरता व निर्धनता को दूर करने के साथ-साथ श्रम-न्यायालय, श्रम-अधिनियम, वाचनालय, पार्क, सड़क, आवास, प्रसूति-गृह आदि सभी की व्यवस्था करता है।

(6) **आर्थिक नियन्त्रण की व्यवस्था**—ऐसा राज्य उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्थाओं पर नियन्त्रण स्थापित करता है, जिससे समाज के व्यापक हितों की पूर्ति की जा सके।

(7) **व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मध्य मार्ग**—हॉब्मैन के अनुसार, "यह दो अतियों में एक समझौता है—जिसमें एक तरफ साम्यवाद है और दूसरी तरफ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।" कल्याणकारी राज्य मे राज्य के कृत्यो में वृद्धि होती है, किन्तु व्यक्ति के महत्व को भी स्वीकार किया जाता है तथा उसकी स्वतन्त्रता बनी रहती है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना**—कल्याणकारी राज्य का विचार राष्ट्रीय ही न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी है। हम सभी जानते हैं कि एक राज्य की दरिद्रता से सभी राज्यों की समृद्धि के लिए भय बना रहता है। राष्ट्रीय लोक-कल्याण की साधना को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी राज्य-विशेष के हित-साधन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित-साधन का भी ध्यान रखा जाए। विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं सामंजस्य से काम लिया जाए। कल्याणकारी राज्य का विचार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार पर आधारित है।

लोक-कल्याणकारी राज्य के कार्य (Functions of Welfare State)

प्रायः राज्य के कार्यों को दो वर्गों में बांटा जाता है—अनिवार्य तथा ऐच्छिक। अनिवार्य कार्यों के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो राज्य की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं—जैसे आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था बनाए रखना, प्रतिरक्षा और न्याय, आदि। ऐच्छिक कार्य वे होते हैं जिन्हें अपने नागरिकों की भलाई के लिए राज्य द्वारा सम्पादित किया जाता है। कल्याणकारी राज्य की

अवधारणा से अब यह माना जाने लगा है कि ऐच्छिक कार्यों का सम्पादन करना भी राज्य के लिए अनिवार्य-सा है। कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) **समाज-सुधार**—कल्याणकारी राज्य मद्य-निषेध, बाल-विवाहों की रोकथाम, छुआछूत, जाति-प्रथा, आदि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन की कोशिश करता है।

(2) **श्रम का नियमन**—कल्याणकारी राज्य श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उचित पारिश्रमिक, पेंशन, स्वास्थ्य, बीमा, शिक्षा, असहाय अवस्था में मजदूरों की सहायता का प्रबन्ध करता है।

(3) **कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन**—राज्य कृषि, उद्योग और व्यापार का इस प्रकार नियमन करता है ताकि किसी का शोषण न हो। भारी उद्योगों पर राज्य स्वयं नियन्त्रण रखता है। कृषि के विकास के लिए अच्छे बीजों, सिंचाई, आदि की राज्य सुविधा प्रदान करता है।

(4) **असहाय स्थितियों में सहायता**—कल्याणकारी राज्य का यह दायित्व है कि असहाय एवं पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करे। राज्य आवास-गृह, आजीविका गृह तथा रैनबसेरों की व्यवस्था करता है।

(5) **शिक्षा**—कल्याणकारी राज्य का दायित्व है कि नागरिकों को भली प्रकार से शिक्षित करे। प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक सारा प्रबन्ध राज्य के द्वारा किया जाना चाहिए। राज्य के द्वारा वाचनालयों तथा पुस्तकालयों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(6) **नैतिक उन्नति के साधनों का विकास**—राज्य को भौतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक उन्नति हेतु व्यवस्थाएं करनी चाहिए। इसके लिए व्याख्यान-मालाएं व रेडियो का सहारा लिया जा सकता है।

(7) **स्वास्थ्य-रक्षा**—स्वच्छता एवं रोगों की रोकथाम के लिए राज्य को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। जन-स्वास्थ्य के लिए चिकित्सालय तथा चिकित्सा-अनुसन्धान केन्द्र खोलने चाहिए। श्रमिकों, स्त्रियों, बालकों, आदि के लिए कुछ समय के अन्तर से डाक्टरी जांच आवश्यक कर देनी चाहिए।

(8) **आर्थिक सुरक्षा**—राज्य को आर्थिक व्यवस्था में ऐसा सुधार करना चाहिए जिससे सम्पत्ति का वितरण अधिक न्यायसंगत ढंग से हो सके व जीवन-निर्वाह के लिए नागरिक को पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सके। सभी व्यक्तियों के रोजगार की व्यवस्था की जाए। जिन्हें राज्य कार्य प्रदान नहीं कर सकता उनके लिए 'जीवन निर्वाह भत्ते' का प्रबन्ध किया जाए।

(9) **परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्य**—राज्य को जनसंख्या सीमित करने का प्रयास करना चाहिए ताकि वर्तमान जनसंख्या के जीवन-स्तर को उन्नत किया जा सके। परिवार नियोजन कार्यक्रम का विस्तार करने के लिए लोगों की सुविधाएं बढ़ायी जानी चाहिए।

संक्षेप में, कल्याणकारी राज्य के कार्यों की विस्तृत सूची यहां प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। यह एक सर्वमान्य धारणा है कि सार्वजनिक कल्याण की उच्च भावना को ध्यान में रखते हुए राज्य जो भी कार्य करता है, वे कल्याणकारी राज्य के कार्य कहला सकते हैं। राज्य के कार्यों में आम आदमी के कल्याण की भावना निहित होनी चाहिए

लोक-कल्याणकारी राज्य की आलोचना (Criticism of Welfare State)

अनेक ऐसी बातें जो आज से पचास वर्ष पहले व्यक्तिगत मानी जाती थीं, अब राज्य के कार्यक्षेत्र में आ गई है और सामाजिक हित की दृष्टि से राज्य ऐसे विषयों में हस्तक्षेप करने लगा है जिन्हें व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में माना जाता था। इस कारण से कल्याणकारी राज्य की आलोचना की जाती है। आलोचकों द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार है—

(1) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन**—आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते है कि कल्याणकारी राज्य की प्रणाली द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। बहुत से कार्य राज्य केवल अपने ही नियन्त्रण तथा तत्वावधान में करता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य के कर्मचारियों की शक्ति बढ़ जाती है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उपयोग बढ़ जाता है और उसी मात्रा मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है।

(2) **राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग**—आलोचकों का कहना है कि कल्याणकारी राज्य की आड़ में धनी वर्ग से उसका धन लेकर समाज में समानता स्थापित करने के लिए राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग किया जाता है, जो सर्वथा वर्जित है।

(3) **नौकरशाही का विकास**—लोक-कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत नौकरशाही की शक्तियां बढ़ने का भय रहता है। सरकार के कार्यों एवं दायित्वों मे वृद्धि के कारण प्रशासन का ढांचा बहुत विस्तृत हो जाता है, शासन शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है।

(4) **प्रेरणा का अभाव**—लोक-हितकारी राज्य द्वारा प्रदान की गयी सेवाएं सबको ही प्राप्त होती है, ऐसे व्यक्तियों को भी जो स्वय अपने संकट का निवारण करने की क्षमता रखते है। बहुत-से ऐसे व्यक्ति भी है जो आत्मनिर्भरता की आवश्यकता नही समझते हैं, वे अपने काम मे ढील दे देते है और राज्य पर आश्रित हो जाते है।

(5) **समग्रवादी शासन का भय**—कल्याणकारी शासन से वस्तुतः एक भय यह भी है कि जनतन्त्र की ओट में समग्रवादी प्रवृत्तियो का विकास होने लगता है। ऐसा राज्य 'राज्यवाद' को बढ़ावा देकर सर्वत्र राज्य की सत्ता स्थापित करता है।

(6) **खर्चीला शासन**—कल्याणकारी राज्य काफी खर्चीला होता है, समस्त कार्य राज्य द्वारा सम्पादित किए जाते है, फलतः ज्यो-ज्यों राज्य का नियन्त्रण बढता है त्यों-त्यो महंगाई और लागत भी बढती जाती है।

(7) **उत्पादन में कमी**—कल्याणकारी राज्य मे सामान्य जन की भलाई के लिए राज्य को बहुत सारे कार्य करने पड़ेंगे। इसके लिए सरकार को धनी व्यक्तियों पर काफी बड़े पैमाने पर कर लगाने होंगे। इससे धनी व्यक्ति हतोत्साहित होंगे और उत्पादन बढाने के लिए मन लगाकर काम नहीं करेगे।

लोकतन्त्र और लोक-कल्याणकारी राज्य (Democracry and Welfare State)

एक ऐसा भी समय था जब लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य की धारणाओं को एक-दूसरे के प्रतिकूल माना जाता था। लोकतन्त्र से अभिप्राय है—अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, नागरिक और राजनीतिक अधिकार, मतदान का अधिकार, विधि की निगाह में समता, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के कार्यों में सक्रिय भागीदारी तथा सरकार की आलोचना करने का अधिकार, आदि। लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के पीछे यह

ध्येय है कि व्यक्ति को सुखी एवं समृद्ध बनाया जाए तथा इस हेतु राज्य द्वारा आवश्यक सेवा-कार्यों का सम्पादन किया जाए। कल्याणकारी राज्य अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करके अधिक से अधिक लोगों का कल्याण चाहता है, किन्तु यह राज्य उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित करता है। धनिकों पर उनकी आमदनी के अनुपात में इस प्रकार कर लगाना चाहता है जिससे आर्थिक समानता के वातावरण का निर्माण हो सके। कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्यक्षेत्र का अत्यधिक विस्तार होता है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना को आघात पहुंचता है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं है कि लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य एक-दूसरे के विरोधी हैं। कल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य लोकतन्त्र की ही भांति नागरिक द्वारा सच्ची स्वतन्त्रता के उपयोग को सम्भव बनाना है। राज्य के कार्यक्षेत्र का इस ढंग से विस्तार करना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता बन्धित न हो। कल्याणकारी राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का सम्मान करता है तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए जनतान्त्रिक साधनों को अपनाता है। आधुनिक लोकतन्त्रात्मक शासनों की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि राज्य किस सीमा तक अपने नागरिकों के निवास, वस्त्र, आदि के प्रावधान कर पाता है। लोकतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए बेकारों को काम पर लगाना, कमजोर वर्गों की सहायता करना, लोगों को बीमारी और बुढ़ापे में सहायता प्रदान करना आवश्यक है। वस्तुतः लोकतन्त्रात्मक शासन में अच्छे जीवन के लिए वातावरण तैयार करना कल्याणकारी राज्य का लक्षण है। लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं।

समाजवाद और कल्याणकारी राज्य (Socialism and Welfare State)

कार्ल मार्क्स के उपरान्त समाजवाद दो विचारधाराओं मे विकसित हुआ—क्रान्तिकारी समाजवाद और विकासवादी समाजवाद। क्रान्तिकारी समाजवाद साम्यवाद है जो हिंसा में विश्वास करता है। जो विचारधाराएं शान्तिपूर्ण एवं वैध तरीकों से सामाजिक परिवर्तन चाहती हैं उन्हें विकासशील समाजवाद का नाम दिया गया है। विकासशील समाजवाद में 'राजकीय समाजवाद' (State Socialism) प्रमुख है। यह राज्य की सहायता से समाजवाद स्थापित करने का प्रयास है। इसके समर्थक धीरे-धीरे जनमत द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहते हैं। वे राज्य को एक लोक कल्याणकारी संस्था मानते हैं। वे राज्य के माध्यम से ही समस्त आर्थिक व्यवस्था का संचालन करना चाहते हैं। वे उत्पादन और वितरण व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं। वे समान वितरण के लिए राष्ट्रीयकरण पर जोर देते हैं। वे समाज में विषमता दूर करना चाहते हैं। अमीरों पर कर लगाना चाहते है ताकि उपलब्ध धनराशि कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च की जा सके। यदि समाजवाद का यही लक्ष्य है तो वह कल्याणकारी राज्य की भावना के अत्यधिक निकट है। कल्याणकारी राज्य भी समाजवादी धारणा की भांति नियोजित समाज-व्यवस्था में विश्वास करता है, एकाधिकारवाद का विरोधी है, सामाजिक न्याय की स्थापना के सिद्धान्त को लेकर चलने वाला सिद्धान्त है तथा वैधानिक और शान्तिपूर्ण तरीकों से समाज मे न्याय और समानता लाने का सुन्दरतम् प्रयास है। कुछ विद्वानों की तो यह भी मान्यता है कि राजकीय समाजवाद के माध्यम से ही कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सकती है। कुछ विद्वानों ने उसे 'प्रारम्भिक समाजवाद' की संज्ञा दी है।

फिर भी समाजवादी राज्य में राजकीय पूंजीवाद का उदय हो जाता है तथा राज्य में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। इकाईन मे का कहना है कि "समाजवाद के सारे सिद्धान्त मनुष्यों की शक्तियों का दमन करते हैं और मनुष्य के लिए ऊंचे उद्देश्य निर्धारित करते हैं।" अनेक समाजवादी विचारक कल्याणकारी राज्य को एक दिखावा मात्र मानते हैं। उनके अनुसार यह तो समाजवादी विचारों के प्रभाव को कम करने की एक चाल है।

भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य : एक अध्ययन (Welfare State in India : A Study)

भारत में सरकार का ध्येय कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। भारतीय संविधान की अन्तरात्मा न्याय, समता, अधिकार और बन्धुत्व के आसव से अभिसिंचित है। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय हमारे वर्तमान संविधान की नियामक महत्वाकांक्षाओं में से एक है। संविधान के जनक इस बात से परिचित थे कि स्वाधीनता सिर्फ राजनीतिक नहीं होती। राजनीतिक स्वाधीनता तो साधन मात्र है। जब तक भूख के भय से, अज्ञान के अन्धकार से, आवास के अभाव से, बुनियादी यातनाओं एवं आतंकों से, शोषण, अत्याचार, लाचारी और विवशता से इस देश के करोड़ों जनों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक राजनीतिक स्वाधीनता अधूरी स्वाधीनता ही रहेगी।

राज्य नीति के निदेशक तत्व हमारे संविधान की संजीवनी व्यवस्थाएं हैं। निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीकों से सामाजिक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है।

निदेशक सिद्धान्तो का उद्देश्य भारत मे लोक-कल्याणकारी एवं समाजवादी राज्य की स्थापना करना है; इस दृष्टि से अधिकांश निदेशक सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। निदेशक तत्वों का सार तत्व संविधान के अनुच्छेद 38 में दिया गया है—"राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करे, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।"

लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने वाले प्रमुख निदेशक तत्व इस प्रकार है :

(1) राज्य लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य-सुधार के लिए प्रयत्न करेगा।

(2) राज्य जनता के दुर्बलतर अंगो के, मुख्यतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियो की शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से रक्षा करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

(3) राज्य प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।

(4) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सके।

(5) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो।

(6) राज्य प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

(7) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा।

(8) राज्य प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें, शिक्षा पा सकें एवं बेकारी, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता पा सकें।

(9) राज्य संविधान के आरंभ होने से दस वर्ष के भीतर चौदह वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, नीति निदेशक तत्व बतलाते हैं कि हमारा लक्ष्य आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। **एम. सी. छागला** के अनुसार, "यदि इन सिद्धान्तों को पूरा किया जाता है तो निश्चित रूप से धरती पर स्वर्ग का सपना साकार होगा।"

भारत सरकार ने विगत 50 वर्षों में इन सिद्धान्तों पर अमल करने की कोशिश की है। हमने कृषि और उद्योगों के क्षेत्र में प्रगति की है। हमने अपने मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित की है। अपने श्रम सम्बन्धी कानूनों को आधुनिक बनाया है और श्रमिकों की अवस्था सुधारने का प्रयास किया है। पिछड़े वर्गों के संरक्षण हेतु योजनाएं क्रियान्वित की गयी हैं। भूमि की सट्टेबाजी को रोकने और सामाजिक तथा आर्थिक समता प्राप्त करने के लिए शहरी भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई है। बंधुआ मजदूरी की प्रथा को समाप्त किया गया है। शैशव और कुमारावस्था के बालकों को शोषण से बचाने के लिए भी विभिन्न कानून बनाए जा चुके हैं।

यह सच है कि राज्य अभी तक पूर्ण नियोजन, बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापा और अंगहानि आदि की अवस्था में सहायता देने के कार्य में बहुत सफलता प्राप्त नहीं कर सका, परन्तु विकास योजनाओं में प्रायः इन सभी बातों की व्यवस्था की गई है। संक्षेप में, नीति निदेशक तत्व भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। **जस्टिस हेगड़े** के शब्दों में, "इसमें एक कल्याणकारी समाज और न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की परिकल्पना की गयी है।"

लोक-लोककल्याणकारी राज्य की समस्याएं (Problems of Welfare State) 01

आधुनिक राज्य के अस्तित्व का आधार बस यही है कि वह नागरिकों की कितनी सेवा कर सकता है। राज्य लोक-कल्याण की भावना से ही कार्य करना चाहते हैं, किन्तु उनके सामने कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिससे वे सफलतापूर्वक कल्याणकारी कार्य नहीं कर पाते। ऐसी ही कुछ समस्याएं इस प्रकार हैं :

(1) **आर्थिक साधनों का अभाव**—नागरिकों को अधिकतम कल्याणकारी सेवाएं प्रदान करने के लिए प्रचुर आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। अधिकांश राज्यों की आर्थिक स्थिति वर्तमान में दुर्बल है, अतः वे कुशलता से कल्याणकारी योजनाओं का क्रियान्वयन नही कर पाते।

(2) **नौकरशाही की समस्या**—कल्याणकारी राज्य में अधिकांश कार्य सरकारी कर्मचारी करते है। जन-कल्याण की अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं को ये नौकरशाह असफल बना देते हैं। प्रतिबद्ध नौकरशाही के अभाव में कल्याणकारी राज्य की गति मन्द पड़ जाती है।

(3) **वैचारिक संघर्ष की समस्या**—वैचारिक दृष्टि से कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मिश्रण है। दोनों विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करके सन्तुलित मध्यम मार्ग पर चलना अत्यन्त दुष्कर है।

निष्कर्ष

कल्याणकारी राज्य के विरोध में दिए जाने वाले तर्क समुचित नहीं हैं। इंग्लैण्ड में लोक-कल्याण सेवाओं में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हनन का तर्क भी ठीक नहीं है। कल्याणकारी राज्य में वैयक्तिक *स्वतन्त्रता तथा राज्य की भूमिका के मध्य समुचित समन्वय किया जाता है। एक को दूसरे के* लिए बलि नहीं दी जाती अपितु दोनों को पूर्णता प्रदान की जाती है। लोक-कल्याणकारी राज्य सामाजिक न्याय को अपना लक्ष्य मानता है, जिसकी प्रेरणा इसे समाजवाद से मिली है। अतः समाजवाद को ही कार्यान्वित करने वाली शान्तिप्रिय और लोकतान्त्रिक व्यवस्था लोक-कल्याणकारी राज्य है।

[illegible] और न्यूनतम जीवन स्तर को संरक्षण देना है जिसके अन्तर्गत आय के अतिरिक्त समुचित खुराक, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा भी सम्मिलित हैं।" यद्यपि अभी तक कल्याणकारी राज्य कहीं नहीं बन पाए, तथापि इस दशा में सतत् प्रयत्न किए जा रहे हैं।

प्रश्न

1. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को परिभाषित कीजिए। प्रशासनिक राज्य से यह किस प्रकार भिन्न है? **(राजस्थान, 1995, 97)**
2. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा इसकी बढ़ती हुई महत्ता के कारणों को बताइए। **(राजस्थान, 1993)**
3. लोक-कल्याणकारी राज्य से क्या आशय है? लोक-कल्याणकारी राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए। क्या भारत एक लोक-कल्याणकारी राज्य है? **(अजमेर, 1997)**
4. लोक-कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए। **(अजमेर, 1995)**

4

प्रशासकीय राज्य की अवधारणा

[THE CONCEPT OF ADMINISTRATIVE STATE]

प्रशासन आधुनिक राज्य का अनिवार्य तत्व है। आधुनिक राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और उसे काफी नियोजित ढंग से कार्य करना पड़ रहा है। आधुनिक राज्यों के विस्तृत कार्यों एवं योजनाओं की पूर्ति के लिए एक सुसंगठित, विशाल और सकारात्मक उद्देश्य वाले लोक प्रशासन की आवश्यकता बढ़ गयी है। कल्याणकारी राज्य के उदय ने पुराने नियामकीय कार्यों का सम्पादन करने वाले राज्य को गौण बना दिया है और राज्य पर सामाजिक सेवाओं और समाज के चहुंमुखी विकास का दायित्व लाद दिया है। फलतः प्रशासन का दायित्व गुरुतर हो गया है, उसका आकार विशाल हो गया है और भूमिका सर्वव्यापी हो गयी है।

राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार

पिछली शताब्दी में राज्य 'पुलिस राज्य' माना जाता था और उसका कार्यक्षेत्र सीमित था। वह केवल निषेधात्मक कार्य (Negative functions) किया करता था। राज्य के निषेधात्मक कार्य थे—बाहरी आक्रमण से सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था बनाए रखना और वैध समझौतों को लागू करना, आदि। 1760-1830 की औद्योगिक क्रान्ति के दौर में फ्रांस के फिजियोक्रेट्स, इंग्लैण्ड में एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, आदि ने लैसेफेयर (*Laissez faire*) का सिद्धान्त दिया तथा आर्थिक क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करते हुए आर्थिक स्वतन्त्रता की सिफारिश की। स्वतन्त्र समझौते, व्यापार-प्रतियोगिता, मुक्त अर्थव्यवस्था, बाजार तथा बाजारू समाज को आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता बताते हुए राज्य के आर्थिक मामलों में दखलंदाजी का विरोध किया गया। हरबर्ट स्पेन्सर जब राज्य के कार्यों का वर्णन करता था कि राज्य को क्या-क्या नही करना चाहिए तो कहता था कि राज्य को उद्योगों का संचालन नहीं करना चाहिए, राज्य को कोई नई बस्तियां नहीं बसानी चाहिए, राज्य को गरीबों की सहायता नहीं करनी चाहिए, राज्य को सार्वजनिक स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं करनी चाहिए,...... राज्य की शिक्षा की व्यवस्था नही करनी चाहिए......यह सब कार्य व्यक्ति स्वयं अच्छी तरह से कर सकते हैं, किन्तु 20वीं शताब्दी की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ-साथ राज्य की प्रकृति और भूमिका में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। आज अहस्तक्षेपवादी अथवा पुलिस राज्य की निषेधात्मक

अवधारणा का स्थान 'कल्याणकारी-समाजवादी' राज्य की सकारात्मक अवधारणा ने ले लिया है। वर्तमान में राज्य के कार्यों में अनवरत वृद्धि होती जा रही है। हमारे जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जो राज्य की क्रियाओं से प्रभावित न होता हो। आज हम देखते हैं कि राज्य समाज के लगभग समूचे जीवन का प्रबन्ध करता है। समाज का कल्याण व समृद्धि का आधार प्रशासन के कुशल प्रबन्ध पर निर्भर हो गया है। अतः राज्य के बढ़ते हुए दायित्वों एवं गतिविधियों के साथ **प्रशासन** का महत्व भी बढ़ता जा रहा है। इसलिए **फाइनर** ने कहा है कि "कुशल प्रशासन सरकार का एकमात्र अवलम्ब है जिसकी अनुपस्थिति में राज्य क्षत-विक्षत हो जाएगा।" हारवर्ड विश्वविद्यालय के **प्रो. डॉनहम** कहते है कि "यदि हमारी सभ्यता असफल रहती है तो वह मुख्यतः प्रशासन की असफलता के कारण होगी।"

प्रशासकीय राज्य की अवधारणा : अर्थ
(CONCEPT OF ADMINISTRATIVE STATE : MEANING)

आधुनिक राज्य को 'प्रशासकीय राज्य' (Administrative state) कहा गया है जहां झूले से लेकर कब्र तक व्यष्टि जीवन के प्रत्येक मोड़ पर व्यक्ति **प्रशासन** की छत्रछाया में रहता है। प्रशासन बच्चे के जन्म से पूर्व ही उसमें रुचि लेने लगता है तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त भी अपनी अभिरुचि बनाए रखता है। गर्भवती माता के समुचित आहार एवं दवाइयों की व्यवस्था करना, प्रसूति के लिए हॉस्पीटल सुविधा उपलब्ध कराना, मृत्यु का सरकारी अभिलेख रखना, बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था आदि के समय नागरिकों की सहायता करना लोक **प्रशासन** का ही कार्य है।

राज्य मे कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल), विधायिका (संसद) तथा न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) जैसी संस्थाएं विद्यमान होती है, किन्तु एक आम व्यक्ति का दिन-प्रतिदिन का काम तो प्रशासकों एवं लोक सेवकों द्वारा ही पूरा किया जाता है। भारत जैसे देश में गांव के एक किसान के लिए पटवारी, तहसीलदार, शिक्षक, डाक्टर, विकास अधिकारी, कलक्टर, थानेदार, आदि अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वे ही उसके जीवन से सम्बन्धित क्रियाकलापों से सरोकार रखते है। इसलिए तो **हरमन फाइनर** ने कहा है कि "किसी भी देश का संविधान चाहे कितना ही अच्छा हो और उसके मन्त्रीगण भी योग्य हों, परन्तु बिना दक्ष प्रशासकों के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता।"

प्रशासन आज के राज्य का हृदय बन गया है। प्रशासन ही हॉस्पीटल चलाता है, स्कूल और कॉलेज चलाता है, मोटर, ट्रामें और रेलें चलाता है, कारखाने और उद्योग चलाता है। राज्य में जहां कहीं संगठन एवं संस्थाएं नजर आती है, वे सब प्रशासन द्वारा संचालित हैं। यहां तक कि निजी एवं स्वयंसेवी संस्थाओं को भी राज्य द्वारा वित्तीय सहायता दी जाती है जिससे वे प्रशासन के क्षेत्रान्तर्गत आ जाती हैं।

[illegible]

तैयार करता है, परियोजना को क्रियान्वित करता है, परियोजना के लिए बजट का प्रावधान करता है। इसलिए कहा जाता है कि राज्य की नीतियां चाहे कितनी ही अच्छी हों, उसके परिणाम तभी अच्छे निकल सकते हैं जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा के साथ लागू

किया जाए। वस्तुतः राज्य के कार्यों के सफल संचालन के लिए कुशल प्रशासकों का सहयोग

सकती है। इसलिए वर्तमान युग को 'प्रशासनिक राज्य' का युग कहा गया है। डिमॉक के शब्दों में, "प्रशासन प्रत्येक नागरिक के लिए महत्व का विषय है क्योंकि जो सेवाएं उसे मिलती हैं, जो कर वह देता है और जिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का वह उपभोग करता है, प्रशासन के सफल और असफल कार्यान्वयन पर निर्भर करता है। आधुनिक युग की बहुत-सी महत्वपूर्ण गहन सामाजिक समस्याएं जैसे—स्वतन्त्रता और संगठन में समन्वय कैसे हो, प्रशासन के नौकरशाही क्षेत्र के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं।"

राज्य का स्वरूप प्रशासकीय हो गया है, इसका कारण यह है कि आज विधायिका और न्यायपालिका की तुलना में प्रशासनिक कार्य अधिक महत्वपूर्ण हो गए है। ऐसा नहीं है कि प्रशासन की यह भूमिका और महत्व विधायिका और न्यायपालिका के मूल्य पर बढ़ा है अपितु कार्यपालिका की बढ़ती हुई लोकप्रियता एवं भूमिका ने प्रशासन की भूमिका में स्वतः वृद्धि कर दी है। कार्यपालिका की शक्तियों में विस्तार का अन्तर्निहित परिणाम प्रशासन की शक्तियों का ही विस्तार है। कार्यपालिका के सांविधानिक कार्यों एवं दायित्वों का निर्वाह प्रशासन ही करता है। प्रशासन ही कार्यरत सरकार (Administration is the government in action) है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकास के लिए नियोजन को सभी देशों में स्वीकार किया गया। इसके फ़लस्वरूप प्रशासन का दायरा भी केवल कानून और व्यवस्था तक सीमित न रहकर जन-जीवन के सभी क्षेत्रों तक व्यापक हो गया। कृषि विस्तार, वस्तुओं का प्रदाय, विपणन, सिंचाई, लोक निर्माण, सभी कुछ राज्य के द्वारा संचालित किए जाने लगे। स्वयं उद्योग भी उद्योगपतियों के एकाधिकार का क्षेत्र न रहकर सरकार के हाथों में आ गए जिससे प्रशासन का क्षेत्र और भूमिका बढ़ गई।

भारत जैसे देश में सामाजिक परिवर्तन के एजेण्ट के रूप में प्रशासन को नई भूमिका के निर्वाह का अवसर मिला। महान् सामाजिक परिवर्तनों को नियोजित तथा व्यवस्थित रूप में क्रियान्वित करने का भार देश के प्रशासन के कन्धों पर ही है। हमारे देश में बेरोजगारी, ग़रीबी, बीमारी, छुआछूत मिटाने के लिए राज्य कटिबद्ध है। राज्य के इन लक्ष्यों के क्रियान्वयन का दायित्व प्रशासन पर ही है, अतः प्रशासन की भूमिका में वृद्धि होना स्वाभाविक है। प्रशासकों की भूमिका के महत्व को स्वीकार करते हुए चेम्बरलेन ने ठीक ही कहा था कि "प्रशासक हमारे बिना काम चला सकते है, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम मन्त्रीगण प्रशासको के बिना काम नही चला सकते।"

संक्षेप में, 'प्रशासकीय राज्य' से तात्पर्य है—'नौकरशाही राज्य' अथवा ऐसा राज्य जहां सर्वत्र प्रशासक छाए रहते हों। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका राज्य में भले ही हों, किन्तु उनकी भूमिका और दायित्व का निर्वाह प्रशासन या लोकसेवा के सदस्य करते हों तो ऐसे राज्य को 'प्रशासकीय राज्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य का वह स्वरूप जिसमें

स्थायी प्रशासन अथवा नौकरशाही अथवा लोक प्रशासन केन्द्रीय महत्व प्राप्त कर चुका है, अत्यन्त शक्तिशाली और अपरिहार्य वन चुका है और व्यापक आकार धारण करता जा रहा है, 'प्रशासकीय राज्य' है। जे. ए. विग के शब्दों मे, "सम्भवत: ऐसा कोई आधुनिक राष्ट्र नहीं है जिसके पास बड़ी नौकरशाही तथा शक्ति सम्पन्न प्रशासनिक मशीनरी न हो।" माइकेल क्रोजियर के अनुसार, 'प्रशासकीय राज्य व्यूरोक्रेसी द्वारा सरकार है।' जिस राज्य में सर्वत्र प्रशासक, कानून, नियम ही दृष्टिगोचर हो उसे प्रशासनिक राज्य का प्रतिरूप कहा जा सकता है।

प्रशासकीय राज्य का विकास : उत्तरदायी कारक
(GROWTH OF ADMINISTRATIVE STATE : CAUSES)

20वीं शताब्दी में भयानक विश्व युद्ध, रूस की क्रान्ति, फासिज्म के उदय तथा गहरे आर्थिक संकट के रूप में आर्थिक मन्दी ने, उपनिवेशों मे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों के भडकते हुए शोलों ने राज्य की शक्ति एवं भूमिका बढाए जाने की आवश्यकता पर बल दिया। मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी संगठन, राजनीतिक दल, आर्थिक मांगों के कारण पूंजीवादी वर्ग को एक शक्तिशाली हथियार—शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता थी। जन आन्दोलनों तथा उनकी मांगों को सन्तुष्ट करने की कोशिश में राज्य अधिक से अधिक सामाजिक-आर्थिक कार्य करने लगा। अफसरशाही का जोरदार विकास हुआ, पुलिस-सेना में बढ़ोतरी हुई तथा संकटग्रस्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था स्वयं अपने आपको बचाने के लिए अधिक से अधिक राज्य के नियन्त्रणों तथा कार्यों की मांग करने लगी। राज्य भी औद्योगिक क्षेत्र में उतर आया, विभिन्न उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया, राज्य स्वयं उद्योगपति वन गया। इस प्रकार राज्य एकाधिकार पूंजी का जन्म हुआ और 'प्रशासनिक राज्य' के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सोवियत संघ, चीन जैसे समाजवादी देशों में तो प्रशासकीय राज्य ही पाया जाता है, किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन जैसे लोकतन्त्रात्मक राज्य भी प्रशासकीय राज्य के ही उदाहरण हैं। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में भी विकास क्षेत्रों में प्रशासन की बढ़ती हुई भूमिका से 'प्रशासकीय राज्य' का उदय हुआ है। प्रशासकीय राज्य के विकास के निम्नलिखित कारण हैं—

(1) **औद्योगिक क्रान्ति**—औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ इंग्लैण्ड में सन् 1750 ई. के लगभग हुआ। वस्तुओं के उत्पादन का कुछ कार्य, जो पहले मनुष्य और पशु करते थे, मशीनों के द्वारा किया जाने लगा। औद्योगिक क्रान्ति के बाद शहरीकरण बढ़ा। शहरों में हजारों मजदूर औद्योगिक कारखानों में काम करते थे। शहरों में लोगों की अत्यधिक भीड़ इकट्ठी हो जाने के कारण आवास, स्वास्थ्य और सफाई की समस्याएं बहुत जटिल हो गईं। बड़ी-बड़ी कम्पनियों का हजारों मजदूरों के जीवन पर नियन्त्रण हो गया। ये मजदूर पूर्णतया मालिकों पर निर्भर थे। जितनी भी मजदूरी मालिक देते उन्हें स्वीकार करनी पडती थी। खानों तक में स्त्रियां और बालक काम करते थे। काम करने का स्थान बहुत गन्दा था और वहां मजदूरों की सुरक्षा का कोई प्रवन्ध न था।

सरकार के उत्तरदायित्व की धारणा में परिवर्तन हुए विना औद्योगिक मजदूरों की सुरक्षा के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण कदम नही उठाए जा सकते थे। धीर-धीरे सभी देशों ने इस विचार को मान लिया कि देश की आर्थिक व्यवस्था को विनियमित करना राज्य का कर्तव्य और न्यायोचित अधिकार है। मजदूरों की दशा सुधारने के लिए अव सभी देशों में कानून बनने

लगे। इंग्लैण्ड मे पहला कारखाना कानून सन् 1802 में पारित हुआ। इसके अन्तर्गत बालकों के लिए काम करने का अधिकतम समय बारह घण्टे प्रतिदिन निश्चित किया गया।

(2) **समाजवादी विचारधारा**—समाजवाद की अवधारणा का सुव्यवस्थित रूप से विकास कार्ल मार्क्स ने किया। इसकी रूपरेखा 'साम्यवादी घोषणापत्र' में है। इसका प्रकाशन सन् 1848 ई. में हुआ था। मार्क्स ने अपने युग के पूंजीवाद का विश्लेषण किया और उन विरोधी तत्वों की ओर संकेत किया जिनके कारण पूंजीवाद का नाश होगा। उन्होंने मुख्य रूप से औद्योगिक मजदूरों को ध्यान में रखकर अपना घोषणापत्र लिखा क्योंकि उनका विश्वास था कि उन्हीं की शक्ति से पूंजीवाद की समाप्ति और समाजवाद की स्थापना होगी।

मार्क्स के विचारों के आधार पर 1917 में लेनिन के नेतृत्व मे साम्यवादी क्रान्ति हुई। इसका प्रभाव यूरोप के अधिकांश देशों पर पड़ा और विभिन्न प्रकार के समाजवादी विचार—फेबियनवाद, संसदीय समाजवाद, श्रेणी समाजवाद, समष्टिवाद, आदि प्रचलित हुए। इन समाजवादी विचारों का सार यह था कि राज्य को लोकहितकारी कानूनों का निर्माण करना चाहिए तथा राज्य के द्वारा जनहित सम्बन्धी कार्यक्रमों का कार्यान्वयन करना चाहिए। सभी समाजवादी चाहते है कि राज्य द्वारा शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि श्रमिकों को उचित वेतन मिले, उन्हें आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों तथा मुनाफाखोरी बन्द की जाए। वे चाहते हैं कि राज्य की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि की जाए तथा राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया जाए ताकि राज्य जनकल्याण के अधिक से अधिक कार्य कर सके।

(3) **आर्थिक नियोजन**—रूसी क्रान्ति के बाद इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन अपरिहार्य है। आर्थिक नियोजन वाली अर्थव्यवस्था में सभी कार्यों का संचालन राजकीय नियन्त्रण एवं निर्देशन में किया जाता है। नियोजन के सभी क्षेत्र जैसे उत्पादन, उपभोग, वितरण, आदि पर सरकार का ही अधिकार होता है। देश के लिए दीर्घकालीन योजनाओं का निर्माण केन्द्रीय संस्था के द्वारा ही किया जाता है। आर्थिक नियोजन से राज्य की भूमिका एवं कार्यक्षेत्र में व्यापक वृद्धि हो जाती है।

(4) **प्रदत्त व्यवस्थापन**—विधि निर्माण संसद का कार्य है, लेकिन संसद के पास विशेषज्ञता का अभाव पाया जाता है जिसके फलस्वरूप वह आज के औद्योगिक समाजों की आवश्यकता के अनुरूप विधायन नहीं कर पा रही है। अत: संसद द्वारा जो कानून पारित होते हैं उनका स्वरूप अस्थिपंजर के समान होता है। संसद द्वारा निर्मित कानून के मोटे खाके को आदेशों, नियमों एवं उपनियमो द्वारा रक्त मांस प्रदान करना प्रशासकों का दायित्व है। **के. सी. व्हीयर** ने लिखा है कि "एक क्षेत्र में प्रशासकों ने व्यवस्थापिका कार्य का काफी भाग अपने हाथ में ले लिया है और यह क्षेत्र है कानून या नियम बनाने का।" अब व्यवहार में प्रशासक ही अनेक कानून, प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा के अन्तर्गत बनाने लगे है।

(5) **प्रशासनिक न्यायाधिकार**—प्रशासनिक न्यायाधिकार का अर्थ है प्रशासकीय अभिकरण अथवा विभाग द्वारा दिए गए न्यायिक अथवा अर्द्धन्यायिक प्रकृति के निर्णय। आज प्रशासनिक अधिनिर्णय की पद्धति के कारण न्यायिक निर्णय के अधिकार को भी प्रशासकों ने अपने हाथों में ले लिया है। औद्योगिक समाज की जटिलता के कारण अनेक अभियोग ऐसे भी होते हैं जिनके विषय अत्यन्त जटिल एवं तकनीकी प्रकृति के होते हैं जो सामान्य न्यायालयों के

कानून दीक्षित न्यायाधिकारियों की समझ के बाहर होते हैं। अतः ऐसे न्यायाधिकरण अस्तित्व में आ रहे है जिनमें प्रशासक न्यायाधीश का कार्य करने लगे है।

(6) विकासशील राष्ट्रो का उदय एवं आर्थिक विकास की समस्या—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका में ऐसे देश स्वतन्त्र हुए जिन्हें विकासशील राष्ट्र कहा जाता है। इन राष्ट्रो की प्रमुख समस्या आर्थिक विकास की थी। राज्य के ऊपर विकासात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति का दायित्व डाला गया जिससे प्रशासनतन्त्र पर विकास की जिम्मेदारी आ गयी। राज्य के निरन्तर बढते हुए कार्यो के कारण विकास क्षेत्रों में प्रशासकों की भूमिका बढ़ती जा रही है।

(7) आधुनिक समाज की जटिलता—आधुनिक समाज बडा जटिल है। वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति, शहरीकरण, संचार और आवागमन के साधनो ने अनेक चुनौतीपूर्ण समस्याओं को जन्म दिया है जिनका समाधान केवल राज्य ही कर सकता है।

संक्षेप में, औद्योगिक क्रान्ति के बाद समाजवादी राज्य की अवधारणा का उदय हुआ जिससे राज्य के कार्यो मे वृद्धि हुई। राज्य के बढ़े हुए इन कार्यो का सम्पादन प्रशासक वर्ग ही करने लगा। प्रदत्त व्यवस्थापन और प्रशासनिक न्यायाधिकरण की अवधारणाओं ने व्यवस्थापिका और न्यायपालिका की शक्तियों का ह्रास कर प्रशासन की शक्तियों को बढ़ा दिया। *विकासशील देशों में प्रशासन ही विकास कार्यो को सम्पन्न करता है अतः प्रशासन एवं नौकरशाही सर्वव्यापी हो गए।*



प्रशासकीय राज्य की प्रमुख विशेषताएं
(SALIENT FEATURES OF ADMINISTRATIVE STATE)

वैसे तो आधुनिक युग के सभी राज्य प्रशासकीय राज्य हैं तथापि इनकी प्रमुख विशेषताएं *निम्नलिखित हैं—*

(1) विचारधारा से मुक्त—प्रशासकीय राज्य किसी खास विचारधारा से सम्बद्ध नहीं हैं। सभी राज्य चाहे वे लोकतन्त्रात्मक हों, समाजवादी और साम्यवादी हों, अधिनायकवादी और सैनिक प्रशासन हों, किसी न किसी सीमा तक प्रशासकीय राज्य होते हैं। शासन व्यवस्था का चाहे जो भी रूप हो अर्थात् चाहे वह एकात्मक हो या संघात्मक, अध्यक्षात्मक हो या संसदात्मक, सभी में प्रशासकीय राज्य का अस्तित्व है। कोई भी शासन व्यवस्था नौकरशाही के बिना नहीं चल सकती।

(2) कार्यपालिका की प्रमुख एवं प्रभावी भूमिका—आधुनिक राजनीतिक समाजों में सरकारों के कार्यों मे अप्रत्याशित वृद्धि प्रत्यक्ष रूप से केवल कार्यपालिका मे शक्ति केन्द्रण ला रही है। आज मुख्य कार्यपालक यथार्थ में इतनी शक्तियो का प्रयोग करने की स्थिति में आ गए हैं कि सम्पूर्ण शासनतन्त्र इन्ही के इर्द-गिर्द घूमने लगा है। राज्य के वृद्धिपरक अधिकार क्षेत्र का वास्तविक असर कार्यपालिका पर हुआ है। लोक-कल्याणकारी राज्यों में कार्यपालिका के कार्य न केवल बढ़ गए हैं वरन् विविध प्रकार के भी हो गए हैं। कार्यपालिका द्वारा किए जाने वाले कार्यों में सहायता देने के लिए प्रशासनिक कर्मचारियों का जाल-सा बिछता जा रहा है। इन सिविल कर्मचारियों को ही नौकरशाही के नाम से पुकारा जाता है। कार्यपालिका एक तरफ, नीति निर्माण में इनकी सहायता लेती है और दूसरी तरफ, नीतियों के क्रियान्वयन के लिए

भी उन पर निर्भर करती है। शासन संचालन में इनकी भूमिका के महत्व के कारण ही अनेक विचारक नौकरशाही को सरकार की 'चौथी शाखा' तक कहने लगे हैं।

(3) नौकरशाही के वर्चस्व वाला राज्य—प्रशासकीय राज्य में सिद्धान्ततः भले ही जनता एवं जनप्रतिनिधियो के हाथों में सत्ता रहती हो, किन्तु व्यवहार में नौकरशाही ही शासन का सूत्रधार होती है। प्रशासनिक अधिकारी राजनीतिक कार्यपालिका को नीति निर्माण के लिए सम्बन्धित आंकड़े प्रदान करते हैं। कार्यपालिका द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करने के सन्दर्भ में अपने अधीनस्थों को आवश्यक निर्देश देने, उनके कार्यो का निरीक्षण करने और अन्य उपायों से सम्पूर्ण कार्यक्रम को पूरी गति देने का काम प्रशासक ही करते हैं।

नौकरशाही का नीति निर्धारण में गहरा हाथ रहता है क्योंकि सार्वजनिक नीति में प्रायः ऐसी तकनीकी जटिलताएं होती है कि उनके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। व्यवस्थापिकाओं में प्रस्तुत किए जाने वाले विधेयक नौकरशाही के द्वारा तैयार किए जाते है। कार्यपालिका तो केवल नीति-निर्देश देकर बाकी सारा कार्य उस पर छोड़ने के लिए मजबूर होती है। विधेयकों का प्रारूप तैयार करना अपने आप में अत्यन्त पेचीदा व क्लिष्ट कार्य है। जिसे अनुभवी विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। इस तरह, कार्यपालिका विधेयकों के प्रारूप तैयार कराने में तो पूरी तरह नौकरशाही पर निर्भर है।

कार्यपालिका की लोक सेवको पर निर्भरता अनेक कारणों से व विशेषकर कार्यपालिका की विशिष्ट प्रकृति के कारण इतनी बढ़ जाती है कि अनेक विचारक नौकरशाही को ही देश का वास्तविक शासक मानने लगे हैं। मन्त्रीगण प्रशासनिक ज्ञान की दृष्टि से सामान्यतया अनभिज्ञ रहते हैं जबकि लोक सेवकों में प्रशासनिक ज्ञान की विशिष्टता होती है। कार्यपालिकाओं की अस्थिरता व नेतृत्व के लिए विभिन्न प्रत्याशियों में अनावश्यक होड़ व दौड़ के कारण, लोक सेवक ही वास्तविक शासक बन जाते हैं। लोक सेवक प्रशासन से सम्बन्धित हर बात से सुपरिचित रहते हैं। उनका प्रशासन सम्बन्धी प्रशिक्षण और अनुभव उन्हें शासन कार्य का विशेषज्ञ बना देता है। एक ही प्रकार का कार्य लम्बी अवधि तक करते रहने के कारण और अधिकाधिक प्रशासनिक अनुभव प्राप्त करने के उपयुक्त अवसरों के मिलते रहने के कारण, लोक सेवक विभागीय दांव-पेंचों को भली-भांति समझने लगे है। इससे उनकी श्रेष्ठता निखर जाती है और वे कार्यपालिका शक्ति के वास्तविक संचालक बनने की स्थिति में आ जाते हैं। लोक सेवा प्रशासन में सर्वेसर्वा बन जाते हैं और कार्यपालिका अध्यक्ष केवल हस्ताक्षर करने वाले यन्त्र मात्र रह जाते हैं।

(4) एक गैरिजन स्टेट—एफ. एम. मार्क्स ने प्रशासकीय राज्य को एक 'गैरिजन स्टेट' का नाम दिया है। वह राज्य स्वयं एक किले के समान है जिसमें नौकरशाही एक सेना के रूप में है जो स्वयं बाहरी प्रभाव को अपने में नहीं आने देती। ऐसे राज्य में नौकरशाह अपने ऊपर किसी का अस्तित्व नहीं मानते। वे सर्वोच्च पदाधिकारी होते हैं, वे नीति निर्धारण करते हैं, निर्णय लेते हैं और सरकार का संचालन करते हैं। यहां तक कि सेना भी उन्हीं के इशारों पर चलती है। ऐसी प्रणाली में नौकरशाही व्यवस्था का प्रधान अपने नियन्त्रण के अधीन क्षेत्र पर स्वामीरहित व्यक्ति की तरह कार्य करता है। उसके अधीनस्थों की सारी सेना उसी के प्रति वफादारी का दम भरती है चाहे वह उपनिवेश हों या तानाशाही पद्धति के अधीन कोई देश। भारतीय सिविल सेवा की 'सफेद नौकरशाही' के अधीन हमारे देश की स्थिति की चर्चा करते

हुए नेहरू ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए थे—"वायसराय जिस ढंग से बात करता है वह तरीका न तो इंग्लैण्ड का कोई प्रधानमन्त्री अपना सकता है और न ही अमरीका का राष्ट्रपति। एकमात्र सम्भव समानान्तर हिटलर का हो सकता है और केवल वायसराय ही नहीं बल्कि उसकी परिषद के ब्रिटिश सदस्य, गवर्नर और यहां तक कि छोटे-छोटे अफसर भी जो विभागों के सचिवों या मजिस्ट्रेटों के रूप में कार्य कर रहे हैं, वे एक उच्च और अप्राप्य उंचाई से बात करते है। वे न केवल अपने इस विश्वास में सुरक्षित हैं कि वे जो कुछ कहते है, और करते है, सही है, वह बल्कि उसे सही के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, चाहे दूसरे लोग कुछ भी सोचते रहें क्योंकि सत्ता और गौरव तो उन्हीं को प्राप्त है।"

(5) **संरचनात्मक विशिष्टीकरण**—प्रशासकीय राज्य में संरचनात्मक विशिष्टीकरण पाया जाता है। सरकार न केवल कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका में संगठित होती है वरन् प्रशासनिक क्रिया भी नीति निर्माण, निर्देशन, नियन्त्रण और निष्पादन में विभाजित कर दी जाती है। इसी प्रकार, आवश्यकत्तानुसार सरकार के कार्यो को संघ, राज्य एवं स्थानीय स्तर पर बांट दिया जाता है। यह विभाजन उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार शरीर के कार्यो का विभाजन उसके विभिन्न अंगो में किया गया है, लेकिन सभी अंग और कार्य परस्पर सम्बद्ध और सहयोगी होते हैं। विशेषीकरण के आधार पर सरकारी संगठन और कार्यप्रणाली को निर्धारित करने से सरकारी मशीनरी में कार्यकुशलता और दक्षता बढ़ती है।

(6) **कार्मिकों की संख्या में वृद्धि**—प्रशासकीय राज्य में कार्मिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। पिछले 100 वर्ष पहले नौकरशाही का जो आकार था आज उसका आकार दस गुना बढ़ गया है। अपना प्रभाव और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए कार्य अधिक न होने पर भी नौकरशाही अपने आकार में वृद्धि करती जाती है। संख्या में वृद्धि होने पर भी कुशलता का स्तर नीचे गिरता चला जाता है।

(7) **सकारात्मक भूमिका वाला राज्य**—प्रशासकीय राज्य को अहस्तक्षेपवादी राज्य की तुलना में अत्यधिक कार्यों का सम्पादन करना होता है। प्रशासकीय राज्य में राज्य कल्याणकारी संस्था के रूप में अवतरित होता है, राज्य तथा स्वतन्त्रता में विरोध नही देखा जाता अपितु राज्य को स्वतन्त्रता के लिए परिस्थितियों का निर्माणक माना जाता है; स्वतन्त्रता सकारात्मक है तथा इसे राज्य के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। राज्य समाज सुधारक तथा कल्याणकारी कार्यों द्वारा स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व के विकास में सहायक बन सकता है। राज्य अर्थव्यवस्था के नियन्त्रण तथा नियोजन द्वारा सामाजिक परिवर्तन का वाहक होता है। राज्य को सेवा प्रदत्तक के रूप में देखा जाता है और विकासशील देशों में समूचे विकास सम्बन्धी कार्य राज्य के माध्यम से किए जाते हैं।

संक्षेप में, 'प्रशासकीय राज्य' ऐसा राज्य है जिसमें नौकरशाही अत्यधिक महत्वपूर्ण, शक्तिशाली और सर्वत्र छायी रहती है। 'प्रशासकीय राज्य' कोई ऐसा विशिष्ट या अलग-थलग राज्य नहीं है जो अन्य शासन व्यवस्थाओं से सर्वथा पृथक् या भिन्न हो। शासन व्यवस्था के सभी रूपों में प्रशासकीय राज्य का अस्तित्व पाया जाता है। एफ. एम. मार्क्स के अनुसार, "प्रशासकीय राज्य का अर्थ केवल व्यवस्थापन एवं न्याय के कार्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह एक ऐसा राज्य है जिसमें प्रशासकीय संगठन और क्रियाएं विशेष रूप से महत्वपूर्ण होतीं हैं।"

काइडेन ने अपने एक लेख 'दि एसेंस ऑफ दि एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट' में प्रशासकीय राज्य की निम्नलिखित विशेषताएं बतलायी हैं—

(1) राज्य के कार्यों में वृद्धि;
(2) आर्थिक प्रबन्ध, शिक्षा तथा सामाजिक क्षेत्रों में राज्य के एकाधिकारवादी कार्य;
(3) सामाजिक विकास का नया चरण;
(4) सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए राज्य का उत्तरदायित्व;
(5) अवसंरचनाओं का रूपान्तरण;
(6) द्विघटक मिश्रित अर्थव्यवस्था का उदय तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियामकीय गतिविधियां;
(7) नौकरशाही प्रवृत्ति का फैलाव;
(8) समाज की संरचना में बदलाव।

प्रशासकीय राज्य के गुण
(MERITS OF ADMINISTRATIVE STATE)

निम्नलिखित गुणों अथवा लाभों के कारण सभी देशों में आज प्रशासकीय राज्य की प्रवृत्ति का उदय हुआ है :

(1) कानून व नियमों का राज्य—प्रशासकीय राज्य में कानून और नियमों के आधार पर शासन कार्य चलाया जाता है। प्रशासकों को प्रारम्भ से ही इस बात का प्रशिक्षण दिया जाता है कि जो भी कार्य किया जाए कानून एवं नियमों के अनुसार किया जाए। नौकरशाही के सदस्य अपनी स्वयं की मर्जी के अनुसार कोई कार्य नहीं कर सकते, उनको वही कार्य करने पड़ते हैं जो कानून या नियम के अनुसार निर्धारित व अपेक्षित हैं।

(2) विशेषज्ञों का शासन—प्रशासकीय राज्य विशेषज्ञों द्वारा शासन है। लोक सेवक प्रशासन से सम्बन्धित हर बात से सुपरिचित रहते हैं। उनका प्रशासन सम्बन्धी प्रशिक्षण और अनुभव उन्हें शासन कार्य का विशेषज्ञ बना देता है। उनकी नियुक्ति भी योग्यता के आधार पर होती है, उनका प्रशिक्षण होता है तथा वे स्थायी रूप से अपने पद पर बने रहते हैं। एक विशेष कुशलता में प्रशिक्षित, उसे बार-बार दोहराने वाला तथा अपने पद को कैरियर मानने वाला अधिकारी एक विशेष कार्य में योग्य बन जाता है।

(3) कार्यपालिका का नेतृत्व—प्रशासकीय राज्य की अवधारणा से कार्यपालिका के नेतृत्व का उदय हुआ है। अब कम से कम कोई ऐसा व्यक्ति तो है जिसकी ओर जनता नेतृत्व के लिए देखती है और शासन की असफलता के लिए किसी को जिम्मेदार बनाया जा सकता है।

(4) औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना—आज पूंजीवादी और समाजवादी दोनों व्यवस्थाएं औद्योगिक समाज की तरह अग्रसर हैं। समाजवादी और पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया है तथा इन दोनों व्यवस्थाओं में राज्य औद्योगिक राज्य बन गया है जो काफी जटिल और तकनीकी प्रकृति का है। इस जटिल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना केवल प्रशासकीय राज्य द्वारा ही सम्भव है।

(5) राजनीतिक अस्थिरता और शून्यता से बचाव—प्रायः यह देखा गया है कि विकासशील देशों में राजनीतिक अस्थिरता और शून्यता पायी जाती है। इन राज्यों में संविधान, संसद, न्यायपालिका और राजनीतिक दल पाए जाते हैं, किन्तु इन सबके द्वारा वे भूमिकाएं नहीं

निभायी जातीं जो इनके लिए निर्धारित हैं। ऐसी स्थिति में प्रशासन ही इन देशों में स्थिरता एवं निरन्तरता प्रदान करने का माध्यम है।

प्रशासकीय राज्य के दोष
(DEMERITS OF ADMINISTRATIVE STATE)

प्रशासकीय राज्य के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(1) लोकतान्त्रिक व्यवस्था के प्रतिकूल—प्रशासकीय राज्य नौकरशाही राज्य होता है जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था के प्रतिकूल कहा जा सकता है। जनप्रतिनिधियों के बजाय ऐसे राज्य में प्रशासक ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

(2) जनसाधारण की मांगों की उपेक्षा—प्रशासकीय राज्य में नौकरशाही हावी हो जाती है; नौकरशाही यह मानकर चलती है कि वह लोकहित की संरक्षक है और उसी के द्वारा जनहित की सही व्याख्या की जा सकती है। नौकरशाही किसी की सलाह मानने के लिए तैयार नहीं होती और अपने विवेकानुसार कार्य करती है जिससे जनसाधारण की मांगों तथा इच्छाओं की उपेक्षा होती है।

(3) लालफीताशाही—प्रशासकीय राज्य में कानून, नियम, प्रक्रियाओं और औपचारिकताओं को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। अधिकारी प्रक्रिया की औपचारिकताओं में विश्वास करते हुए कठोरता के साथ नियमों और विनियमों का पालन करते है जिसके परिणामस्वरूप कार्य की सम्पन्नता में बाधा पहुंचती है। नौकरशाही प्रक्रिया की औपचारिकताओं को अपना उद्देश्य बना लेती है जबकि वे जनता की सेवा के लिए माध्यम मात्र हैं।

लालफीताशाही का विकास कई परिस्थितियों का परिणाम है। एक बड़ा कारण यह है कि कार्यकुशलता की दृष्टि से प्रशासन कार्य के कुछ सोपान स्वीकार कर लेता है। प्रगति का क्रम, निश्चित व्यवस्था, कार्य की निर्धारित गति तथा नियम, कार्य सम्पादन, आदि कुछ चीजें हैं जिनसे लालफीताशाही जन्म लेती है। लालफीताशाही का विकास इस कारण भी प्रोत्साहित होता है कि लोक प्रशासन में कानूनों का अधिक महत्व है। प्रजातन्त्रात्मक सरकार किसी सरकारी अधिकारी की अन्तरात्मा से संचालित न होकर वस्तुगत नियमों से संचालित होती है। लालफीताशाही वह साधन है जिसके माध्यम से यह निश्चित किया जा सकता है कि सरकार सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करेगी। प्रशासकों का प्रत्येक कार्य जनता की आलोचना और निरीक्षण के लिए खुला रहता है, इसलिए वह कानून के अनुसार कार्य करना उचित समझती है।

(4) शक्ति प्रेम—इसमें कोई सन्देह नही कि नौकरशाह शक्ति के भूखे होते है। विभिन्न विभागों के नौकरशाह शक्ति के संघर्ष में रत रहने के कारण लोकहित को भुला देते हैं। स्थायी सिविल सेवा के सदस्य लोकतन्त्र के नाम पर विभागों की शक्ति में निरन्तर वृद्धि करते जा रहे हैं और मन्त्रियों के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के नाम पर उन्होने सारी शक्तियां स्वयं के हाथों में केन्द्रित कर ली हैं।

(5) विभागीकरण या साम्राज्य रचना—प्रशासकीय राज्य सरकार के कार्य पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित हो जाते हैं। ये पृथक् खण्ड बिना किसी समुचित पारस्परिक सम्बन्धों के अपने-अपने उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं। इन इकाइयों में अपने आपको स्वतन्त्र तथा पृथक्

इकाइयां मानने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। वे यह भूल जाते हैं कि वे किसी बड़े समग्र के केवल अंग मात्र हैं। वे अपने ही छोटे अधिकार क्षेत्र को अपनी अन्तिम सीमा मानने लगते हैं।

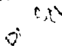
(6) **नौकरशाही की प्रवृत्ति अनुदारवादी होती है**—नौकरशाही की प्रवृत्ति रूढ़िवादी होती है और ये यथास्थितिवाद के समर्थक होते हैं। वे नवीनता और परिवर्तन के प्रति प्रायः विरोधी भावना रखते हैं। **बर्ट्रेण्ड रसेल** लिखते है कि "नौकरशाही में प्रत्येक स्थल पर एक निषेधात्मक मनोविज्ञान को, जिसका झुकाव निरन्तर निषेधों की ओर रहता है। विकसित करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।" वर्षों तक एक ही प्रकार का काम यन्त्रवत् करते रहने से उनकी मानसिक प्रवृत्ति एक ढांचे में बंध जाती है। वे हर नयी चीज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं।

(7) **निरंकुशता**—नौकरशाही में एक अवगुण यह भी पाया जाता है कि इसकी प्रवृत्ति निरंकुशता की ओर रहती है। इंग्लैण्ड में लॉर्ड चीफ जस्टिस हेवार्ट ने सिविल सेवकों की बढ़ी हुई शक्ति को 'नवीन निरंकुशता' (New Despotism) की संज्ञा दी है। उन्होंने यह आशंका व्यक्त की है कि "इस बढ़ती हुई प्रशासकीय निरंकुशता के परिणामस्वरूप ब्रिटिश नागरिक अपनी स्वतन्त्रता खो देंगे।" लॉर्ड हेवार्ट का विश्वास था कि व्यक्तिगत स्वाधीनता खतरे में है, क्योंकि 'तीव्र नौकरशाही मनोवृत्ति' के अफसर 'कुछ ऐसे विश्वासों' के साथ काम करते हैं, जैसे कि—(i) कार्यपालिका का कार्य शासन करना है; (ii) शासन करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति केवल विशेषज्ञ (experts) ही होते हैं; (iii) सरकारी कार्य के विशेषज्ञ स्थायी पदाधिकारी होते हैं; (iv) ये विशेषज्ञ वस्तुस्थिति के अनुसार व्यवहार करते हैं और जिन परिस्थितियों में रहते हैं उन्हीं के अनुसार स्वयं को ढाल लेते हैं; (v) विशेषज्ञ के मार्ग में दो बाधाएं सामने आती है, एक तो संसद का प्रभुत्व और दूसरा, कानून का शासन; (vi) अबोध जनता की अन्ध भक्ति इन अवरोधों को दूर करने में बाधक बन जाती है। विशेषज्ञों को संसद के प्रभुत्व को प्रभावहीन बनाने के लिए कानून के शासन को अपनाना चाहिए; (vii) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नौकरशाही को संसदीय रूप ग्रहण कर पहले अपने हाथ में मनमानी शक्तियां ले लेनी चाहिए और उसके बाद कानूनी अदालतों का विरोध करना चाहिए; (viii) नौकरशाही का यह कार्य उस समय अत्यन्त सरल सिद्ध होगा जबकि वह—(अ) एक मोटी रूपरेखा के रूप में पारित विधान प्राप्त कर सकें, (ब) अपने नियमों, आदेशों और विनियमों से उस विधान की रिक्तता की पूर्ति कर सके, (स) संसद के लिए अपने नियमों, आदेशों एवं विनियमों पर रोक लगाना कठिन या असम्भव बना दें (द) उनके लिए कानूनी शक्ति प्राप्त कर सकें (य) अपने स्वयं के निर्णय को अन्तिम बना सकें, (र) ऐसा प्रबन्ध कर सकें कि उसके निर्णय से तथ्य ही वैधता के प्रमाण बन सकें, (ल) कानूनी प्रावधानो में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त कर सकें और कानूनी न्यायालय में किसी प्रकार की अपील को रोक सकें या अपेक्षा कर सकें। (ix) यदि विशेषज्ञ लॉर्ड चान्सलर से मुक्ति पा सके, न्यायाधीशों के पद को नागरिक सेवा की एक शाखा के रूप में सीमित कर सके, मुकदमों मे पहले से ही अपनी राय प्रकट करने के लिए न्यायाधीशों को बाध्य कर सके.....तो सारी बाधाएं दूर की जा सकती हैं।

(8) **श्रेष्ठता की भावना** (Superiority Complex)—प्रशासकीय राज्य का एक अन्य दोष यह है कि इस व्यवस्था में अधिकारियों में श्रेष्ठता की भावना आ जाती है। चूंकि इनके हाथ में सत्ता रहती है तथा इन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं, इसलिए वे अपने आपको

जनता से श्रेष्ठ और पृथक् समझने लगते हैं। ये सदैव गर्व से फूले रहते हैं और जनता के प्रति हीन भावना रखते है। फलतः शासकों एवं शासितों के बीच गहरी खाई पैदा हो जाती है, उनके बीच उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित नही हो पाते।

संक्षेप में, प्रशासकीय राज्य नौकरशाही राज्य होता है, स्थानीय संस्थाओं की उपेक्षा होती है और केन्द्रीकरण बढ़ता है, प्रक्रिया की औपचारिकताओं में इतना विश्वास किया जाता है कि कई बार मानवीय तत्वों की उपेक्षा कर दी जाती है। सभी साम्यवादी और समाजवादी राज्य तो 'प्रशासकीय राज्य' मे परिवर्तित हो ही चुके हैं और लोकतन्त्रात्मक राज्य भी 'प्रशासकीय राज्य' का रूप धारण करते जा रहे हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' की जगह 'प्रशासकीय लोकतन्त्र' (Executive democracy) अथवा आर. एच. एस. क्रासमैन के शब्दों में, 'नौकरशाही लोकतन्त्र' (Bureaucratic democracy) का उदय हुआ है।



भारत एक प्रशासकीय राज्य
(INDIA AS AN ADMINISTRATIVE STATE)

भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य है जिसमे सम्प्रभुता 'जनता' में निहित है, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के 50 वर्षो बाद भारतीय राज्य का विश्लेषण किया जाए तो इसका स्वरूप 'प्रशासकीय राज्य' जैसा लगता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारा ध्येय कल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा समाजवादी समाज का निर्माण रहा जिसके परिणामस्वरूप राज्य के कार्य एवं दायित्व बढ़ गए। राज्य जीवन के सभी क्षेत्रों मे कार्य करने लगा। वैसे तो शासन का कार्य सरकार के तीन अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका मे विभाजित है, किन्तु व्यवहार में कार्यपालिका की भूमिका और शक्तियो में वृद्धि हुई और मन्त्रिमण्डलीय शासन के स्थान पर 'प्रधानमन्त्रीय व्यवस्था' का उदय हुआ। 'प्रधानमन्त्री कार्यालय' देश की शासन व्यवस्था की धुरी बन गया। कार्यपालिका की बढती हुई शक्तियों एवं भूमिका के परिणामस्वरूप नौकरशाही की शक्ति बढ़ी। इधर आर्थिक नियोजन, पंचवर्षीय योजनाएं, ग्रामीण विकास, मिश्रित अर्थव्यवस्था, आदि को अधिक महत्व दिया गया जिसके परिणामस्वरूप औद्योगीकरण, सामाजिक-आर्थिक विकास और ग्रामीण विकास के क्षेत्रों में सर्वत्र नौकरशाही छा गयी। नए-नए प्रशासनिक अभिकरण और पद जैसे डी. आर. डी. ए., विकास अधिकारी, आदि का सृजन हुआ। आज भारत में नौकरशाही एक ऐसे तन्त्र के रूप में सामने आयी है जिस पर जनता, कानून एवं राजनीतिज्ञो का कोई अंकुश नही है। नौकरशाही पर निर्भरता इतनी अधिक बढी है कि यदि किसी दिन सरकारी कर्मचारी हड़ताल पर चले जाएं तो समूचे देश में ठहराव आ जाएगा। विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण प्रशासन में विशिष्टीकरण बढ़ता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप संसद विधि निर्माण के दायित्व को कार्यपालिका को हस्तान्तरित कर रही है। प्रशासनिक अधिकरणों की बढ़ती हुई संख्या के कारण न्यायपालिका के कार्य भी प्रशासक करने लगे है।

प्रशासकीय राज्य के उदय के परिणामस्वरूप भारत में शासन नौकरशाही करती है और 'कोटा, परमिट, लाइसेन्स राज' का उदय हुआ है। प्रशासन मे अनुत्तरदायित्व, निरंकुशता और भ्रष्टाचार बढ़ा है।

प्रशासकीय राज्य के दोषों को दूर करने हेतु सुझाव
(SUGGESTIONS FOR REMOVING DEMERITS OF ADMINISTRATIVE STATE)

प्रशासकीय राज्य में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं और यदि उन्हें दूर न किया जाए तो वह 'नौकरशाही राज्य' में परिवर्तित हो जाता है। अतः इसके दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जाते हैं—

1. नौकरशाही को नियन्त्रित करने के लिए योग्य, अनुभवी मन्त्रियों की नियुक्त किया जाए।

2. राज्य के कार्यों का विकेन्द्रीकरण किया जाए और स्थानीय संस्थाओं—नगरपालिकाओं और पंचायतों को अधिकतम शक्तियां व कार्य दिए जाएं।

3. प्रत्यायोजित विधि निर्माण की मात्रा में कमी की जाए।

4. ऐसे न्यायाधिकरणों (जैसे लोकपाल) की स्थापना की जाए जहां नागरिक प्रशासकों के विरुद्ध अपनी शिकायतें रख सकें।

5. ऐच्छिक संस्थाओं को शिक्षा, सामाजिक सुधार, आदि क्षेत्रों में कार्य करने की सुविधाएं प्रदान की जाएं।

6. निजी क्षेत्र को सुदृढ़ किया जाए।

संक्षेप में, प्रशासकीय राज्य आवश्यक बुराई है, इसे नियन्त्रित किया जाना चाहिए अन्यथा वह 'लेवियाथन' हम सबको डस लेगा।

आज यह स्पष्ट है कि राज्य का आकार घटाना और प्रशासनतन्त्र को अधिक कामकाजी बनाना वर्तमान दशक की एक प्रमुख प्राथमिकता है। इन लक्ष्यों को तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक सभी स्तरों पर राज्य के कार्यकलाप का दायरा घटाया नही जाता और उसे सामाजिक रूप से आवश्यक और लाभदायक कार्यकलाप तक ही सीमित नहीं रखा जाता।

प्रश्न

1. प्रशासनिक राज्य की मुख्य विशेषताएं क्या हैं? क्या आपके विचार में भारत एक प्रशासकीय राज्य है? (अजमेर, 1997)
2. प्रशासकीय राज्य की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए। (अजमेर, 1994)

5

शासन का संगठन : व्यवस्थापिका

[ORGANIZATION OF GOVERNMENT : LEGISLATURE]

सरकार के तीन अंग (Three Organs of the Government)

सरकार राज्य का आवश्यक तत्व है। यह राज्य का कार्यवाहक यन्त्र है जो राज्य की इच्छा को निर्धारित, व्यक्त तथा क्रियान्वित करता है। सरकार के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सरकार राज्य का मूर्त रूप है। उसे राज्य की आत्मा कहा जा सकता है। सरकार राज्य का वह यन्त्र है जिसके ऊपर राज्य के कानून बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने तथा उनकी व्याख्या करने का दायित्व है। सोल्टाऊ के शब्दों में "सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों एवं साधनों से है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे कार्यान्वित किया जाता है।" गार्नर के अनुसार, "सरकार वह संगठन है जिसके माध्यम से राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अपने आदेशों को जारी करता है और अपने विषयों का संचालन करता है।"

सरकार सामान्यतः तीन प्रकार के कार्य करती है—(1) कानून बनाना, (2) उन्हें क्रियान्वित करना और (3) जो व्यक्ति उनका पालन न करे उन्हें दण्ड देना। इन कार्यों को करने के लिए सरकार के तीन अंग होते हैं—(1) व्यवस्थापिका (Legislature), (2) कार्यपालिका (Executive) और (3) न्यायपालिका (Judiciary)। व्यवस्थापिका कानून बनाती है, कार्यपालिका उन्हें क्रियान्वित करती है एवं न्यायपालिका उनकी व्याख्या करती है तथा उनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है।

सरकार के कार्यों का उपर्युक्त विभाजन शक्ति पृयक्करण सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में किया गया है, किन्तु अनेक राजनीतिक वैज्ञानिकों ने सरकार के कार्यों का विभाजन शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध और सन्तुलन से बिल्कुल भिन्न रूप में किया है। उनका विचार है कि शक्ति पृथक्करण का आधार संरचनात्मक है अर्थात् यह विभाजन अंगों के अनुसार कार्य करता है। उनके अनुसार सरकार का प्रत्येक अंग जो कार्य करने के लिए बना था उसके अतिरिक्त अन्य कार्य भी करने लगा है। उदाहरण के लिए, विधानमण्डल विधि-निर्माण का कार्य तो करते हैं, परन्तु उसके साथ-साथ हित समूहन तथा नियमों के वैधकरण का भी कार्य करते रहते हैं और वास्तव में देखा जाए तो विधि-निर्माण का कार्य तो विधान मण्डल केवल नाममात्र के बराबर

करते हैं। आधुनिक परिस्थितियों में वास्तविक विधि-निर्माण तो कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। विधान मण्डल कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत विधेयकों को औपचारिक मान्यता मात्र देते हैं। उसी प्रकार न्यायपालिका केवल न्यायिक कार्य ही नहीं करती वरन् विधि की व्याख्या कर विधि निर्माण का भी कार्य करती है और अन्त में कार्यपालिका केवल प्रशासनिक कार्य ही नहीं करती बल्कि विधि-निर्माण तथा न्यायिक कार्य भी करती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान समस्त राजनीतिक संरचनाएं बहुकार्यिक (multi functional) होती हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में कौन से कार्य किस संरचना से सम्बद्ध हैं, यह जानकारी अवलोकन तथा अनुभव से ही प्राप्त हो सकती है। संरचनाओं के बहुकार्यिक होने के कारण आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक यह सुझाव देते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था की शासकीय प्रक्रिया का अध्ययन संरचनात्मक आधार की अपेक्षा कार्यों के आधार पर किया जाना चाहिए। कार्यों के आधार पर सरकार के कार्यो को तीन भागों में बांटा गया है—

1. नियम निर्माण (Rule-Making),
2. नियम प्रयुक्ति (Rule-Application), तथा
3. नियम अधिनिर्णयन (Rule-Adjudication)

व्यवस्थापिका : नियम निर्माण
(LEGISLATURE : RULE MAKING)

व्यवस्थापिका की स्थिति के बारे में अतिवादी विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। जहां एक ओर इसे 'राष्ट्र का दर्पण', 'जन इच्छा का मूर्तरूप', 'शिकायतों की समिति' कहा गया है वहां दूसरी ओर उसे 'बात करने वाली दुकान', 'वर्ग-शोषण और उत्पीडन की संस्था' और 'मृत निकाय' जैसी संज्ञाएं देकर इसकी वास्तविक गरिमा को घटाने का प्रयास किया गया है। कार्यपालिका की शक्तियों में अनवरत वृद्धि के कारण व्यवस्थापिका की स्थिति में ह्रास आता जा रहा है, यहां तक कि उसके निधन की घोषणाएं की जाने लगी हैं। आधुनिक राजनीतिशास्त्री जो कार्यपालिका के उत्थान के तथ्य से परिचित हैं, वे अन्तिम विश्लेषण में यह सोचने लगे हैं कि व्यवस्थापिका को 'रबड़ की मुहर' का रूप दे दिया गया है जिसका कार्य कार्यपालिका द्वारा पहले से बनाई गयी नीतियों का समर्थन करना है।

व्यवस्थापिका : अभिप्राय
(LEGISLATURE : MEANING)

व्यवस्थापिका सरकार का सबसे महत्वपूर्ण अंग होती है। यह जनता का दर्पण है। सी. एफ. स्ट्रांग के अनुसार, "आधुनिक संवैधानिक राज्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग व्यवस्थापिका अथवा कानून बनाने वाली संस्था ही होती है।" विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका को अलग-अलग नामों से जाना जाता है। इंग्लैण्ड और भारत में इसे 'संसद' कहा जाता है। जापान में 'डायट' तथा अमरीका में 'कांग्रेस' कहा जाता है। चीन की व्यवस्थापिका का नाम 'राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस' तथा स्विट्जरलैण्ड में इसे 'राष्ट्रीय सभा' कहा जाता है।

आधुनिक समय में 'नियम निर्माण' का कार्य करने वाली संस्थाओं को व्यवस्थापिका कहा जाता है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि नियम निर्माण का कार्य हमेशा से केवल व्यवस्थापिका संस्थाएं ही करती रही हैं। प्राचीन समय में नियम-निर्माण का कार्य व्यवस्थापिकाएं

नहीं करती थी क्योंकि उन दिनों कार्यपालिका एवं विधायिका के कार्यों में कोई भेद नहीं था। व्यवस्थापिकाएं नियम-निर्माण संगठनों के रूप में कब और क्यों विकसित हुईं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सी. एफ. स्ट्रांग ने लिखा है, "आधुनिक युग में सरकारों में व्यवस्थापिकाएं लोकतन्त्र के चढ़ते ज्वार के अनुपात में उभरती गई हैं।" वस्तुतः व्यवस्थापिकाओं का विकास लोकतन्त्र के विकास के साथ-साथ ही हुआ है। इस दृष्टि से यह सरकार का एक प्राचीन निकाय है। व्यापक अर्थ में व्यक्तियों का वह समूह जो कोई प्रतिनिध्यात्मक आधार नहीं रखते हुए भी शासक को नियम निर्माण में परामर्श, सहायता या प्रेरणा देने का कार्य करता है, व्यवस्थापिका कहा जाता है।

मोटे अर्थ में व्यवस्थापिका व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक संगठन है जो कानून बनाने के अधिकार से युक्त होता है। व्यवस्थापिका का रूप प्रतिनिध्यात्मक ही हो यह आवश्यक नहीं है। व्यवस्थापिका उन्हीं निकायों को कहा जा सकता है जो एक निश्चित भू-भाग से सम्बन्धित समाज के लिए कानून बनाने एवं नीति सम्बन्धी निर्णय लेने की वैध सत्ता रखते हैं। व्यवहारवादियों के अनुसार, "विधानमण्डल समाज विशेष के लिए मूल्यों के अधिकारिक वितरण करने की शक्ति से युक्त व्यक्ति संगठन है।"

व्यवस्थापिकाओं के कार्य एवं शक्तियां
(FUNCTIONS AND POWERS OF LEGISLATURE)

कर्टिल्स के अनुसार, "प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से नियम निर्मात्री संस्थाओं का स्थान और महत्व इंग्लैण्ड की सर्वोच्च सत्तात्मक संसद से लेकर सोवियत संघ की गैर-सर्वोच्च सत्तात्मक सुप्रीम सोवियत तक या शक्तिशाली अमरीकी कांग्रेस से लेकर स्पेन की शक्तिशाली कोर्टेज तक अलग-अलग है।"

आज व्यवस्थापिकाओं के बारे में अनेक विशेषण प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हें 'रबड़ की मोहर', 'बातूनी दुकानें', 'कठपुतली निकाय' और 'धोखाधड़ी की दिखावटें' तक कहकर पुकारने लगे हैं, लेकिन इन सब विशेषणों के बावजूद भी व्यवस्थापिकाएं अनेक शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण महत्वपूर्ण कार्यों को पूरा करती हैं। मोटे रूप से व्यवस्थापिकाएं दो प्रकार के कार्य करती हैं—

1. परम्परागत कार्य
2. आधुनिक कार्य

1. व्यवस्थापिकाओं के परम्परागत कार्य

चूंकि व्यवस्थापिका सरकार का अंग है अतः सरकार के कार्यों से सम्बन्धित विधि निर्माण का कार्य इसके परम्परागत कार्यों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यवस्थापिका द्वारा किए जाने वाले *औपचारिक, सांविधानिक या सरकारी कार्य निम्नांकित हैं—*

(i) **विधायी कार्य**—*व्यवस्थापिकाओं का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है—कानून बनाना।* इसलिए इसे नियम बनाने वाला विभाग कहा जाता है। **रिनॉड** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "आधुनिक विधानमण्डल एक प्रकार से वे कारखाने है जिनका काम कानून निर्माण का है। यहां लोकमत नाम के कच्चे माल को प्रस्तावों, नीतियों और कानूनों में परिणत किया जाता है।" विधानमण्डलों में ही विधेयक प्रस्तावित किए जाते हैं, उन पर बहस की जाती है और फिर उन्हें किसी संशोधन सहित या उसके बिना पास किया जाता है या उन्हें किसी अन्य प्रक्रिया का अनुसरण

करने के पश्चात् स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे अधिकांश देशों में, जहां विधायी व्यवहार का लोकतान्त्रिक रूप है, यह बात आम है कि विधेयकों के तीन वाचन होते हैं और हर हालत में उन विधेयकों को समितियों को सौंपा जाता है ताकि उन पर विस्तार के साथ विचार किया जा सके।

आलोचकों के अनुसार प्रशासनिक जटिलता तथा दल संगठन के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में कार्यपालिका के पास पहल करने के अवसर अधिक हैं। ब्रिटेन में कार्यपालिका स्रोतों से ही सारे महत्वपूर्ण और विवादास्पद विधेयक आते हैं। वैयक्तिक सदस्यों के द्वारा विधेयक प्रस्तुतीकरण की व्यवस्था विद्यमान है, लेकिन यह एकान्ततः सीमित है। ब्रिटिश संसद के 1967-68 सत्र में 63 सरकारी विधेयक सफल हुए, लेकिन वैयक्तिक सदस्यों के 75 विधेयकों में से केवल 13 ही को शाही स्वीकृति मिल पाई। संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस में विचाराधीन विधेयक में से 80 प्रतिशत कार्यपालिका की ओर से आते हैं। बहुधा कार्यपालिका के पास विधायी प्रस्तावों पर निषेधाधिकार प्रयुक्त करने की शक्ति रहती है। अधिकांश विधायिकाओं में विधेयकों पर बहस समाप्त कर दिए जाने के लिए व्यवस्थाएं रहती हैं। विपक्षी दलों द्वारा अनावश्यक देरी करने और बाधा डालने पर रोक लगाने के लिए समापन (Closures), गिलोटीन तथा स्थगन जैसे उपाय काम में लाए जाते हैं।

एलेन बाल के शब्दों में, "इन विभिन्न बाधाओं के बावजूद व्यवस्थापिका सभाओं की विधायी गतिविधियां महत्वपूर्ण होती है। विधायिकाओं की कार्यविधियां समाज में नियमों के वैधीकरण का मौलिक साधन है। वे सरकार की सक्रियताओं सम्बन्धी किसी त्रुटि को संभाल लेती है और हित गुटों को अपने संसदीय प्रतिनिधियों के जरिए काम करने का मौका देती है। वास्तव में, विधि-निर्माण प्रक्रिया में विधायिका की शक्ति का विस्तार क्षेत्र सरकार की मजबूती, सरकार के विधायी कार्यक्रम का स्वरूप और आम चुनाव की समीपता पर निर्भर करेगा, किन्तु अधिकांश उत्तरदायी लोकतन्त्रों के अन्तर्गत ऐसा बहुत ही कम अवसरों पर होता है कि सरकार का कार्यक्रम बिना कील-कांटा लगे विधायी प्रक्रिया में से गुजरकर निकल आए।"[1]

(ii) **वित्तीय कार्य**—व्यवस्थापिका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण एवं नियमन करती है। प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में वह अनुमानित आय-व्यय को स्वीकृत करती है। वह राष्ट्रीय बजट को पारित करती है, जिसके द्वारा नए कर लगाए जाते हैं और पुराने करों की दरें घटायी-बढ़ायी जाती हैं या उन्हें समाप्त किया जाता है। बिना व्यवस्थापिका की अनुमति के एक पैसा भी खर्च नहीं किया जा सकता।

एलेन बाल के शब्दों में, "किसी भी विधायिका के पास सरकार को खर्च के लिए धन देने का जो अधिकार होता है वह ऐसा परम्परागत हथियार होता है जिससे विधायिका सरकार की नीतियों पर कुछ नियन्त्रण लगाने में समर्थ होती है।"

फिर भी, अत्यधिक स्वतन्त्र विधायिकाओं मे भी वित्तीय नियन्त्रण द्वारा नीति प्रभावित करने की सीमाएं स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। कार्यविधि की जटिलता, वित्तीय मामलों में विशिष्टीकृत जानकारी का अभाव, आदि बातें विधायिकाओं के विरुद्ध जाती हैं। विकासशील

1 एलेन बाल, **आधुनिक राजनीति और शासन**, (1971), पृ. 160.

राज्यों में ऐसे अनेक देश हैं जहां ऐसी सांविधानिक व्यवस्थाएं विद्यमान हैं जिनमें कार्यपालिका अध्यादेशों तक से वित्तीय मांगें पारित कर लेती हैं।

[illegible] है। संसदीय [illegible] विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। विधायिका कभी भी अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके मन्त्रिमण्डल को भंग कर सकती है। अध्यक्षीय शासन-प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं रहती, किन्तु विभिन्न उपायों द्वारा कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण रहता है। उदाहरणार्थ, अमरीकी सीनेट राष्ट्रपति पर नियुक्तियों के मामलों मे प्रभावकारी नियन्त्रण रखती है, राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है तथा सीनेट मन्त्रियों के भ्रष्ट आचरण की जांच कर सकती है।

संसदात्मक शासन प्रणाली में 'अविश्वास का प्रस्ताव', 'निन्दा प्रस्ताव', 'प्रश्न काल' 'बजट और सरकार की प्रमुख नीतियो पर बहस' तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में 'महाभियोग की प्रक्रिया' विधायकों के हाथों में ऐसी युक्तियां हैं जिनसे वे सरकार पर अपना नियन्त्रण कर सकते हैं। हमें मालूम है कि अमरीकी कांग्रेस ने 1868 में राष्ट्रपति एन्ड्रु जान्सन के खिलाफ महाभियोग की प्रक्रिया का प्रयोग किया और मतदान में वे केवल एक मत से बच सके। सन् 1974 में राष्ट्रपति निक्सन के खिलाफ भी ऐसी कार्यवाही को आरम्भ किया गया जो अपना त्यागपत्र देकर इससे बच गए। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री एटली का 1949 में, ईडन का 1957 में और मैकमिलन का 1963 में अपने पद से अलग होना इस तथ्य की पुष्टि करता है कि संसद का कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने का प्राधिकार है। इसी प्रकार 1966 में पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर एरहार्ड का अपने पद से अलग होना इस बात को सिद्ध करता है कि बुन्डेस्टाग (संसद) का सरकार पर पूर्ण नियन्त्रण है। भारत में 1979 में प्रधानमन्त्री पद से मोरारजी देसाई एवं चरणसिंह का त्यागपत्र देना, 1990 में वी. पी. सिंह 1996 में अटल बिहारी वाजपेयी, 1997 में एच.डी. देवगौड़ा एवं इन्द्रकुमार गुजराल का पद त्याग यह इंगित करता है कि संसद का कार्यपालिका पर नियन्त्रण है।

(iv) **न्यायिक कार्य**—आमतौर से विधायिकाओं को न्यायिक कार्य प्रदान नहीं किए जाते हैं, किन्तु कतिपय देशों में विधायिकाएं न्यायिक प्रकृति के कुछ कार्यो का सम्पादन करती है। ब्रिटेन की लार्ड सभा देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है। अमरीकी राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने पर कांग्रेस का ऊपरी सदन सीनेट, महाभियोग की न्यायालय की भांति सुनवाई करके निर्णय करता है। भारत में संसद महाभियोग द्वारा राष्ट्रपति को हटा सकती है। महाभियोग की प्रक्रिया संसद के किसी भी सदन में प्रारम्भ की जा सकती है। जब एक सदन प्रस्ताव पारित कर देता है तो दूसरा सदन महाभियोग के कारणों की जांच करेगा। स्विट्जरलैण्ड की 'राष्ट्रीय सभा' को संविधान की व्याख्या का अधिकार प्रदान किया गया है।

हमारा यह मत है कि विधायिकाओं को न्यायिक कार्य नहीं सौंपे जाने चाहिए क्योंकि उनका निर्वाचन न्यायिक कार्यो को सम्पन्न करने के लिए नहीं किया जाता है, न्यायिक कार्य विधिवेत्ता ही कर सकते हैं और आम विधायकों में विधिवेत्ताओं जैसा विशिष्टीकरण नहीं होता। विधायिका स्वयं कानून बनाकर उनकी न्यायिक व्याख्या का कार्य करेंगी तो निश्चय ही शासन की शक्तियों का दुरुपयोग होगा।

(v) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य—अनेक देशों में व्यवस्थापिकाएं निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती हैं। इजराइल और भारत की संसदें गणराज्य के राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। अमरीका की प्रतिनिधि सभा को उस स्थिति में राष्ट्रपति चुनने का अधिकार है, अगर राष्ट्रपतीय निर्वाचन में किसी भी प्रत्याशी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। कनाडा, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया की संसदें ब्रिटिश सम्प्रभु को तीन नामों की सिफारिश करती हैं और उनमें से एक को गवर्नर जनरल का कार्यभार संभालने के लिए नामित किया जाता है।

कई देशों में विधायिकाएं प्रधानमन्त्री और उसके मन्त्रियो के चुनाव का अनुमोदन करती हैं। अमरीका में राष्ट्रपति द्वारा मन्त्री पद के लिए जिन व्यक्तियों का मनोनयन किया जाता है, सीनेट द्वारा उनका अनुसमर्थन आवश्यक है। इजराइल में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की पूरी सूची संसद (Knesset) द्वारा अनुमोदित की जाती है। स्विट्जरलैण्ड की फेडरल असेम्बली फेडरल कौंसिल के लिए सात सदस्यों का निर्वाचन करती है। जापान में सम्राट द्वारा जिस व्यक्ति को प्रधानमन्त्री के तौर पर मनोनीत किया जाता है, वहां 'डायट' द्वारा उसका अनुमोदन आवश्यक है।

(vi) संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य—लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में विधायिकाओं का सबसे महत्वपूर्ण कार्य संविधान में संशोधन करने का माना गया है। विधायिकाएं जन सम्प्रभुता का प्रतिनिधित्व करती हैं अतः यदि संविधान जन-इच्छा के क्रियान्वयन में बाधक बनने लगे तो उसमें संशोधन का अधिकार व्यवस्थापिका के पास ही रखना तर्कसंगत है। संशोधन का यह अधिकार कुछ देशों के विधानमण्डलों को आंशिक रूप से प्राप्त रहता है तो कुछ देशों में विधान मण्डल ही को संशोधन का पूर्ण अधिकार प्रदान किया जाता है। इंग्लैण्ड की संसद जब चाहे तब संविधान में संशोधन कर सकती है क्योंकि वहां साधारण कानून और संवैधानिक कानून मे कोई अन्तर नही है, किन्तु अमरीका, स्विट्जरलैण्ड आदि देशो मे विधायिका को संशोधन का आंशिक अधिकार ही प्राप्त है। संशोधन के आंशिक अधिकार से यह अभिप्राय है कि संशोधन में विधानमण्डल के साथ अन्य संस्थाएं भी जुड़ी रहती हैं।

संक्षेप में, यदि हम परम्परागत अर्थ में कहें तो हम कह सकते है कि एक सुसंगठित विधायिका का कार्य "सरकार की नीतियों और प्रस्तावों का विश्लेषण करना, उनकी आलोचना करना, उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना और अन्त में जैसा 'विधायक' शब्द का निहितार्थ है, उस सीमा तक विधि-निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेना, जो ऐसे क्षेत्र में अब भी सम्भव है जो विशेषज्ञ और प्रशासक पर अधिक से अधिक निर्भर है।"

2. व्यवस्थापिकाओं के आधुनिक कार्य

20वीं शताब्दी में बदलती हुई परिस्थितियों में विधायिकाओं के कार्य एवं भूमिकाओं में भी परिवर्तन आया है। आजकल व्यवस्थापिकाओं के राजनीतिक कार्य अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। अतः हमें विधायिकाओं के कार्यों का अध्ययन राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक विकास के सन्दर्भ में करना चाहिए। विधायिकाओं के राजनीतिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित कार्य निम्नांकित है—

(i) औचित्यीकरण या वैधता प्रदान करने का कार्य—इसका अभिप्राय है जनता तथा अभिजन में सरकार के शासन करने के नैतिक अधिकार के लिए या तो नियमित और निर्विघ्न रूप मे, या स्पष्ट और चेतन ढंग से कार्यपालिका के उपक्रम पर विधायी अनुमोदन की छाप

लेकर स्वीकृति अथवा समर्थन प्राप्त करना। विधायिका सम्बद्ध जनता और अभिजन वर्ग से सरकार के शासन करने के उस नैतिक अधिकार के प्रति व्यापक और गहन भावना उत्पन्न करती है जो अन्यथा उपलब्ध न हो सके।

(ii) सुरक्षा यन्त्र कार्य—विधायिकाएं तनाव कम करती हैं, पुनः आश्वासन प्रदान करती हैं और आम तौर पर सरकार की नीतियों व कार्यक्रमों के प्रति समर्थन जुटाने का काम करती है। वे 'बाहर जाने के रास्ते का कार्य' भी करती हैं जिसका तात्पर्य यह है कि जब किसी राजनीतिक व्यवस्था में गतिरोध की स्थिति आ जाती है और सामान्य निर्णय निर्माण प्रक्रिया उस स्थिति से निकलने का कोई रास्ता नहीं सुझाती, तो अभिजन-वर्ग कई बार ऐसे निर्णय के लिए विधायिका की ओर देखते हैं जिससे उस व्यवस्था को गतिरोध की स्थिति से निकाला जा सके।

(iii) प्रतिनिधित्व का कार्य—व्यवस्थापिकाएं प्रतिनिधित्व का कार्य करती हैं। राजनीतिक प्रतिनिधित्व से तात्पर्य है कि शासकों या प्रतिनिधियों का उन लोगों के प्रति उत्तरदायी होना जिन्होने उनको शासक बनाने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भूमिका अदा की है। इसी कारण विधायिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निर्वाचको के आदेशों, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के प्रति उदासीन नही रहे अपितु वह नियम निर्माण करते समय इन बातों का विशेष ध्यान रखे।

वस्तुतः निर्वाचित व्यवस्थापिकाएं प्रतिनिधि सरकारों का पर्याय बन गई हैं। विधि, सम्प्रभु जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और व्यवस्थापिकाएं इसके निर्माण की संरचनात्मक व्यवस्था है।

(iv) हितस्वरूपीकरण एवं हित समूहीकरण का कार्य—विधायिकाओं का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य हितस्वरूपीकरण है। राजनीतिक व्यवस्था में लोगों के अनेक हित होते हैं तथा इन हितों में संघर्ष अनिवार्यतः प्रकट रूप ले लेते हैं। विधायिकाएं इन हितों को पूरा करके, इनकी सुरक्षा करके या इनके प्रस्तुत करने वालों को धमकी देकर इनमें सामंजस्य स्थापित करती हैं।

राजनीतिक व्यवस्था में हित व मांगों का स्वरूपीकरण हो जाने के बाद विधायिकाओं को ही इन हितों का समूहीकरण करना पड़ता है। हित समूहीकरण का तात्पर्य विभिन्न हितों व मांगो में सामंजस्य, उनका अनुकूलन और समाधान करने से है।[1] विधायिकाएं अनेक प्रकार से हित समूहीकरण का कार्य निष्पादित करती हैं। इस काम में वे अनुनयन, समझौते, समझाने-बुझाने से लेकर विधिनिर्माण करके या अन्य प्रकार की धमकी देकर विविध हितों का समूहीकरण कर सकती हैं। विधायिकाएं अनेक मांगों को नर्म करके, उन्हें पूरा करने का वायदा करके या कुछ हितों में से प्रमुख हितों को पूरा करके या उग्र दबाव वाली मांगों को ठण्डा करके हित समूहीकरण के कार्य मे सफल हो जाती हैं।[2]

(v) राजनीतिक समाजीकरण एवं शिक्षण कार्य—विधायिकाओं का एक महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक समाजीकरण एवं जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करना है। राजनीतिक समाजीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके आधार पर कोई भी राजनीतिक व्यवस्था

1 सी. बी. गेना, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, पृ. 644.
2 उपर्युक्त, पृ. 644-45.

अपने को लोगों से प्रतिबद्ध रखती है और अपने अनुकूल दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करती है। इस दृष्टि से राजनीतिक समाजीकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के बारे में लोगो के मूल्य, विश्वास, आस्था तथा संवेग वर्तमान और आने वाली पीढ़ियो को प्रदान किए जाते हैं।

संसद और विधायिकाएं राजनीतिक प्रशिक्षण के प्रमुख मंच हैं। विधायिकाओं में होने वाले वाद-विवाद समाचारपत्रों एवं दूरदर्शन के माध्यम से आम जनता तक पहुंचते हैं। जनता उन पर बहस करती है तथा राष्ट्रीय मुद्दों पर अधिक जागरूक व अधिक समझ वाली बनने लगती है।

(vi) पर्यवेक्षण, छानबीन एवं निगरानी के कार्य—आधुनिक विधायिकाएं कार्यपालिका को नियम-निर्माण की स्वीकृति प्रक्रिया का उल्लंघन करने से रोकने का प्रयत्न करती हैं। लोक लेखा समितियों, प्रश्नों व पूरक प्रश्नों, *ध्यान आकर्षण प्रस्तावों, स्थगन व कटौती तथा निन्दा* प्रस्तावों से व्यवस्थापिकाएं कार्यपालिका की पूरी-पूरी चौकसी करती हैं। कभी-कभी संसद जांच आयोगों की नियुक्ति भी करती है। हाल ही में बैंक घोटाले की जांच के लिए जे. पी. सी. (Joint Parliamentary Committee) की नियुक्ति इसका सुन्दर उदाहरण है।

व्यवस्थापिका द्वारा जांच एवं निगरानी का डर कार्यपालिका और न्यायपालिका को सतर्क रखता है क्योंकि व्यवस्थापिका की भूमिका देश के रक्षक एवं पहरेदारों जैसी है। यह देश की न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं उच्च पदाधिकारियों से जवाब-तलब करने का अधिकार रखती है। संक्षेप में, *व्यवस्थापिकाएं राजनीतिक व्यवस्था के प्रत्येक घटक की निगरानी रखने* का कार्य करती हैं तथा शक्तियों के दुरुपयोग से बचाव करती हैं।

व्यवस्थापिका का संगठन
(ORGANISATION OF THE LEGISLATURE)

संगठन की दृष्टि से व्यवस्थापिका को दो भागों में बांटा जा सकता है—एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Uni-Cameral Legislature) तथा (2) द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi-Cameral Legislature)।

(1) एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Uni-Cameral Legislature)—जिस राज्य की व्यवस्थापिका में एक ही सदन होता है, उसे एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका कहते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक देशों ने एक-सदनात्मक प्रणाली अपनाई। आज यूरोप के कुछ देशों, जैसे यूनान, बल्गारिया आदि, में एक-सदनीय विधान मण्डल ही है। एक-सदनीय विधायिका के समर्थकों का मुख्य तर्क है कि कानून जनता की इच्छा को अभिव्यक्त या उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कार्य एक सदन द्वारा ही किया जा सकता है, एक से अधिक के द्वारा नहीं, क्योंकि इच्छा एक होती है, अनेक नहीं। एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका को इसलिए भी पसन्द किया जाता है कि दूसरे सदन को अनुपयोगी और खर्चीला माना गया है।

(2) द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi-Cameral Legislature)—जिस राज्य की व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं, उस व्यवस्थापिका को द्वि-सदनात्मक कहते हैं। संसार के अधिकांश राज्यों में, जैसे इंग्लैण्ड, भारत, अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया, कनाडा में

व्यवस्थापिका द्वि-सदनात्मक ही है। भारत में लोकसभा और राज्यसभा, इंग्लैण्ड में लार्ड सभा और कॉमन सभा, अमरीका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा, आदि द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका हैं।

द्विसदनात्मक प्रणाली ऐतिहासिक विकास तथा संयोग का परिणाम है। यह व्यवस्था ब्रिटिश सवैधानिक विकास का परिणाम है। इंग्लैण्ड की संसद, जो सबसे प्राचीन संसद है, संयोग से द्विसदनात्मक हो गई। अन्य प्रजातान्त्रिक देशों मे ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण किया गया। प्रो. लास्की के शब्दों में, "यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंग्लैण्ड की व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक थी और उसी का अनुसरण अन्य देशों ने किया।" विलोबी ने कहा है कि "यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो शायद संसार के अन्य विधानमण्डल भी द्विसदनात्मक नहीं होते।"

वर्तमान मे बड़े लोकतान्त्रिक राज्यों मे व्यवस्थापिका के दो सदन होते हैं। एक सदन को उच्च या द्वितीय सदन (Upper or Second Chamber) और दूसरे सदन को निम्न या प्रथम सदन (Lower or First Chamber) कहते हैं। निम्न सदन सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करता है। उसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। द्वितीय सदन विशिष्ट वर्गो, स्वार्थो तथा संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी रचना का कोई निश्चित सवैधानिक आधार नहीं है। विभिन्न देशों में इसके संगठन का स्वरूप भिन्न है। इंग्लैण्ड की लार्ड सभा के संगठन का आधार वंश-परम्परा है। इटली, जापान और कनाडा में द्वितीय सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं। भारत की राज्यसभा के सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एवं मनोनीत होते हैं। अमरीका में सीनेट के सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का पक्ष
(UTILITY OF BI-CAMERAL LEGISLATURE)

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

(1) **विवेकपूर्ण पुनर्विचार के लिए**—उच्च सदन निम्न सदन द्वारा बिना अच्छी तरह सोच-विचार किए जल्दी मे पारित बिलों पर अंकुश लगाता है। उच्च सदन के होने से दुबारा बिल पर विचार करना होता है और इस कार्य में देर लग जाती है। इस बीच उग्र लोगों का जोश ठण्डा हो जाता है और जनता में गम्भीरतापूर्वक कानून के प्रभाव पर विचार किया जा सकता है। इस प्रकार द्वितीय सदन के होने से इतना समय मिल जाता है कि लोग विचारों का आदान-प्रदान कर सकें और एक विवेकपूर्ण लोकमत बन सके।

जिस समय अमरीका का संविधान बन रहा था, जेफरसन पेरिस में थे। वे जब लौटकर अमरीका आए तो उन्होने देखा कि अमरीका की व्यवस्थापिका को द्विसदनात्मक बना दिया गया है। वे जार्ज वाशिंगटन के घर गए। सुबह का समय था। दोनों नाश्ता करने लगे। ऐसे में जेफरसन ने वाशिंगटन से पूछा कि कांग्रेस के दो दो सदन क्यों रखे गए? संयोगवश इसी समय जेफरसन ने प्याली में से चाय प्लेट में डालकर पीना शुरू किया। वाशिंगटन ने पूछा कि आपने चाय प्लेट में क्यो डाली? जेफरसन ने उत्तर दिया—"इसे ठण्डा करने के लिए।" वाशिंगटन बोले, "बस इसी तरह हम विधि-निर्माण को सीनेट की प्लेट में डालकर ठण्डा करेंगे।"

*(2) **एक सदन की निरंकुशता पर रोक**—द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर अंकुश लगाता है। द्वितीय सदन के न होने पर यह सम्भव हो सकता है कि प्रथम सदन*

अत्याचारी बन जाए और ऐसे कानून बना डाले जो देश के लिए हानिकार हों। **गार्नर** के शब्दों में "द्वितीय सदन की उपस्थिति स्वतन्त्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।" **स्टोरी** ने लिखा है, "व्यवस्थापिका के अत्याचारो से बचने का यही उपाय है कि कार्यों का विभाजन कर दिया जाए, स्वार्थ के विरुद्ध, महत्वाकांक्षा के विरुद्ध, दूसरे सदन का वैसा ही गठबन्धन एवं प्रभुत्व खड़ा कर दिया जाए।"

(3) विशिष्ट वर्गों एवं हितों का प्रतिनिधित्व—द्वितीय सदन से यह लाभ है कि उसके द्वारा व्यवस्थापिका में अल्पसंख्यक वर्गो, जातियो तथा हितों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है। लोकतन्त्र में इस बात का भय रहता है कि सामान्य निर्वाचनो में बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यक वर्गों और जातियों के लोगों को वोट न दें और इस तरह उन्हे प्रतिनिधित्व ही न मिल सके। द्वितीय सदन में निर्वाचन की किसी विशिष्ट प्रणाली द्वारा अथवा नाम-निर्देशन के जरिए ऐसे वर्गों और जातियों को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है।

(4) संघात्मक शासन-व्यवस्था के लिए अनिवार्य—संघीय राज्यों में द्वितीय सदन अत्यन्त आवश्यक है। इसमें सघ की इकाइयों को समान अथवा किसी अन्य आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है जिससे वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सके और उनका अस्तित्व खतरे में न पड़े।

(5) कार्यभार में कमी—आज राज्य के कार्यो में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। व्यवस्थापिका के निम्न सदन के कार्य इतने बढ गए है कि उन्हें अकेले नहीं संभाला जा सकता। उच्च सदन ऐसे कानूनों पर, जो विवादास्पद नही हैं, विचार करके प्रथम सदन की सहायता करता है। इससे प्रथम सदन का बहमूल्य समय बच सकता है।

(6) प्रतिभाओं का प्रतिनिधित्व—द्वितीय सदन में ऐसे योग्य, विद्वान तथा अनुभवी लोगों को स्थान दिया जा सकता है जो चुनाव के द्वारा व्यवस्थापिका में नहीं आ सकते। प्रायः देखा जाता है कि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति चुनाव के गन्दे प्रचार एवं राजनीति से बचना चाहते हैं। इसलिए अनुभवी और योग्य व्यक्तियों को नाम-निर्देशित करके द्वितीय सदन में स्थान दे दिया जाता है।

(7) अपेक्षाकृत शान्त वातावरण—प्रथम सदन में उग्र राजनीतिक वातावरण के कारण गरमागरम बहस हुआ करती है और कभी-कभी प्रस्तावित बिलों पर शान्ति के साथ विचार-विनिमय नहीं हो पाता। द्वितीय सदन में प्रथम सदन की अपेक्षा शान्त वातावरण रहता है। विधेयकों पर गम्भीर विचार तथा शान्तिपूर्ण मनन का अवसर द्वितीय सदन में ही मिल पाता है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का विपक्ष
(DISADVANTAGES OF SECOND CHAMBER)

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोध में कई प्रबल तर्क दिए जाते हैं। उनमें से प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

(1) दूसरा सदन अनावश्यक है—चूंकि लोकतन्त्र में जनता की इच्छा अविभाज्य होती है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति एक ही सदन में होती है। फ्रांसीसी विचारक **एब्बे सीज** ने लिखा है, "विधि जनता की इच्छा है, जनता की एक ही विषय पर एक ही समय दो विभिन्न इच्छाएं नहीं हो सकतीं। अतः जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली विधि-निर्मात्री संस्था भी

आवश्यक रूप से एक होनी चाहिए। जहां दो सदन होंगे वहां विरोध तथा विभाजन अवश्यम्भावी होगा और निष्क्रियता के कारण लोकेच्छा निष्प्राण हो जाएगी।"

(2) **द्वितीय सदन 'अनावश्यक' या 'घृणित'**—यदि द्वितीय सदन को प्रथम सदन से सहमत ही होना है तो यह अनावश्यक है और यदि वह असहमत होता है तब गतिरोध उत्पन्न होता है। एब्बे सीज के शब्दों में, "यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि सहमत हो जाता है तो व्यर्थ है।"[1] प्रो. लास्की ने भी लिखा है—"यदि पहले सदन के साथ दूसरा सदन निर्वाचित हो तो केवल पुनरावृत्ति ही होगी, यदि उसका गठन अलग समय में किया गया है तो वह उचित नीति-निर्माण में बाधक ही होगा।"[2]

(3) **गतिरोध की सम्भावना**—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में दोनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बराबर होती है। इसका प्रमुख कारण दोनों सदनों के स्वरूप और संगठन की विभिन्नता है। यदि द्वितीय सदन रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी लोगों का *अड्डा बन जाता है तो प्रथम सदन के प्रगतिशील विधेयकों का अनावश्यक रूप से विरोध* करता है।

(4) **विलम्बकारी**—द्वितीय सदन के होने से कानून के निर्माण में विलम्ब होता है। कानून का उस समय तत्काल निर्माण नहीं किया जा सकता जब उनकी आवश्यकता होती है।

(5) **अधिक खर्चीला**—दो सदनों के रहने से खर्च बढ़ जाता है। दोनों सदनों के सदस्य को वेतन-भत्ता आदि देने से राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है। प्रो. लास्की ने लिखा है कि, 'आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक-सदनीय व्यवस्थापिका में ही हो सकती है क्योंकि द्विसदनीय व्यवस्थापिका में पुनरावृत्ति होती है, समय नष्ट होता है और राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।"

(6) **संघात्मक शासन के लिए आवश्यक नहीं**—द्वितीय सदन संघ शासन के लिए आवश्यक गारण्टी नहीं है। संघ शासन में घटक इकाइयों एवं अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के उत्तम साधन वैधानिक संरक्षण तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका है न कि द्वितीय सदन। इस सम्बन्ध में रॉबर्टसन ने लिखा है—"संघीय संविधान में द्वितीय सदन की सर्वोच्चता का अनुभव अशक्त हो रहा है। संघीभूत इकाइयों के अधिकारों की रक्षा दूसरे सदन से नहीं होती बल्कि वैधानिक संरक्षणों तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका के द्वारा हो सकती है।'

(7) **विवेकपूर्ण पुनर्विचार का तर्क व्यर्थ**—लास्की के अनुसार, उच्च सदन के माध्यम से जल्दबाजी में किए हुए कार्यों पर रोक लगाने की बात व्यर्थ है। सच्ची रुकावट तो जनता की जागरूकता और सरकार की सतर्कता पर निर्भर है। यही नहीं, अब विधेयकों को पारित करने कानून बनाने की व्यवस्था इतनी जटिल बन गयी है और उसमें इतना अधिक समय लग जाता है कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि द्वितीय सदन दुवारा उस पर विचार करे और तब वह पारित हो।

1 "If the Upper Chamber agrees with First Chamber, It is superficial; if it disagree with the First, it is mischievous." —Abbie Sieg

2 "The elected Chamber, if made simultaenously with the First, is merely reitreration of it; if made at different time, is merely a hinderance to adequate polic making —Lasl

निष्कर्ष

द्वितीय सदन अब लोकप्रिय नहीं रहे। उनके विरुद्ध आन्दोलन दिन-प्रतिदिन जोर पकड़ रहा है। आज का युग द्वि-सदनात्मक प्रणाली के पक्ष में नहीं है। ब्रिटिश लॉर्ड सभा की शक्तियां कम कर दी गयी हैं और अब वह केवल देरी करने वाला सदन रह गया है। जनमत संग्रह तथा आरम्भक के कारण स्विस उच्च सदन अन्ततः निष्क्रिय बन जाता है। भारत की राज्यसभा की शक्तियां भी गौण हैं और कनाडा की सीनेट अपेक्षाकृत शक्तिहीन है। इसके विपरीत, अमरीकी सीनेट में बहुत अनुभवी और योग्य व्यक्ति पहुंच जाते हैं और वे कानून बनाने एवं नीति निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भाग लेते है।

संक्षेप में, द्वितीय सदनों की शक्तियां घटा दी गयी हैं, परन्तु अभी भी यह धारणा समाप्त नहीं हुई है कि प्रथम सदनों की निरंकुशता के विरुद्ध एक कवच एवं संरक्षण के रूप में द्वितीय सदन अपरिहार्य है।

व्यवस्थापिकाओं का पतन या अवनति
(THE DECLINE OF LEGISLATURES)

आजकल यह माना जाता है कि संसद या विधायिकाओं का पतन हो रहा है। लॉर्ड ब्राइस ने तो सन् 1825 में अपनी पुस्तक **'मॉडर्न डेमोक्रेसीज'** में 'व्यवस्थापिकाओं के पतन' (Decline of Legislatures) की चर्चा की थी। ब्राइस ने अपनी पुस्तक में 'व्यवस्थापिकाओं का रोग विज्ञान' (Pathology of Legislatures) समझाने का प्रयास किया है अर्थात् उसने उन रोगों व कारणों की खोज का प्रयास किया है जिससे व्यवस्थापिकाएं पीड़ित होकर पतन की ओर जा रही हैं। आज अक्सर यह कहा जाता है कि संसदों का युग लद गया है, नौकरशाही की विजय हो रही है और कार्यपालिका या कैबिनेट की तानाशाही स्थापित हो चुकी है।

व्यवस्थापिकाओं के पतन से क्या तात्पर्य है? **के. सी. व्हीयर** के अनुसार, "व्यवस्थापिकाओं ने अपनी शक्तियां, कार्यकुशलता व सम्मान को बनाए रखा हो या इनमें वृद्धि तक कर ली हो ऐसा सम्भव है फिर भी उनका अन्य संस्थाओं से सापेक्ष रूप में इन सभी पहलुओं में पतन हुआ है क्योंकि अन्य संस्थाओं ने अपनी शक्तियां बढ़ाकर अपना दर्जा सुधार लिया है।"

यदि विधायिकाओ के स्थान या कार्य-प्रणाली का सामान्य सर्वेक्षण किया जाए तो सहज ही यह कहा जा सकता है कि कार्यपालिका की शक्तियों के सन्दर्भ में इनकी काफी अवनति हुई है। वर्तमान शताब्दी का एक लक्षण और प्रवृत्तिं यह रही है कि राजनीतिक संस्थाओं का विकास इस तरह हो रहा है जिससे कार्यपालिका शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो गयी है। इसमें विश्वयुद्धों की आशंकाओं, आर्थिक संकटों, सामूहिक, समाजवादी या लोक-कल्याणकारी नीतियों के अपनाने और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के बराबर बने रहने का काफी योगदान है। अब कार्यपालिकाएं अनेक ऐसे कार्य करने लगी हैं जो वह पहले नहीं करती थीं। कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि का कारण यह नहीं है कि इसने व्यवस्थापिका से कुछ शक्तियां छीन ली हैं। वास्तव में, आधुनिक व्यवस्थापिकाएं तो पहले से कहीं अधिक कार्य करने लगी हैं तथा लम्बे-लम्बे अधिवेशनों में बैठने लगी हैं। अतः **के. सी. व्हीयर** ने लिखा है कि "निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है, किन्तु कार्यपालिका के सापेक्ष या मुकाबले में उनकी शक्तियां करीब-करीब सभी पहलुओं में कम हुई हैं।"

विधानमण्डलों की अवनति या पतन के कतिपय सामान्य कारण निम्नलिखित हैं—

(1) **कार्यपालिका के कार्यों मे अभूतपूर्व वृद्धि**—अपने परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त आजकल कार्यपालिकाएं कुछ ऐसे कार्य भी करने लगी हैं जिससे उनकी शक्तियों में वृद्धि हुई है। आर्थिक नियोजन व योजनाओ का संचालन कार्यपालिका का प्रमुख दायित्व बन गया है। आधुनिक समय मे 95 प्रतिशत विधेयक संसदीय शासन व्यवस्थाओ में प्रत्यक्ष रूप में तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका द्वारा ही प्रस्तुत होते है।

(2) **प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा**—प्रदत्त व्यवस्थापन के विकास के कारण कार्यपालिका द्वारा आंशिक रूप से नियम निर्माण की शक्ति का प्रयोग करना इस बात की पुष्टि है कि विधान-मण्डल सारे कानून या कम से कम सभी महत्वपूर्ण कानून बनाने का कार्य भी नहीं करते है। अब व्यवहार मे कार्यपालिकाए ही अनेक कानून प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा के अन्तर्गत बनाने लगी है। इस तरह, प्रदत्त व्यवस्थापन से कार्यपालिका विधान-मण्डल की सी संस्था बन गयी है।

(3) **रेडियो और टेलीविजन**—संचार के इन साधनों के विकास ने कार्यपालिका अध्यक्ष को जनता के सामने लाकर खड़ा कर दिया है। अब कार्यपालिका संसद की परवाह किए बिना सीधा जन-सम्पर्क व जनता से आमना-सामना कर सकती है। फ्रांस के राष्ट्रपति दिगॉल, अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन, भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने टेलीविजन को जनमत को अपने पक्ष मे करने मे महत्वपूर्ण समझा।

(4) **विशेषज्ञों की परिषदों व समितियों का विकास**—आजकल विधेयकों का प्रारूप तैयार करने से लेकर समिति स्तर तक विशेषज्ञों की सलाह ली जाती है और उसके बाद सम्बन्धित विषय, विधान मण्डल में अनुमोदन के लिए सम्पन्न कार्य (*fait accompli*) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अगर विधायक उस पर प्रश्न करते हैं या उनमें संशोधन प्रस्तुत करते हैं तो उन्हें यह कहकर हताश कर दिया जाता है कि इस पर विशेषज्ञों, सलाहकारो और सम्बन्धित विभागों द्वारा बारीकी से विचार और छानबीन की जा चुकी है।

(5) **सेनाओं पर कार्यपालिका का नियन्त्रण**—राज्य का मुख्य कार्यपालक ही सर्वोच्च सेनापति होता है। देश की सैन्य शक्ति के संचालन में वह करीब-करीब पूर्ण स्वतन्त्र होता है। इस कार्य में व्यवस्थापिका कुछ कर ही नहीं सकती है। अतः युद्ध या सैनिक संकटों व मुठभेड़ों में कार्यपालिका सर्वेसर्वा हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में तुरन्त निर्णय की आवश्यकता होती है। अमरीका के राष्ट्रपति ने वियतनाम युद्ध के संचालन में कई बार कांग्रेस की अवहेलना की है। कार्यपालिका की इस शक्ति में आणविक व अन्य विनाशक अस्त्र-शस्त्रों के विकास के कारण और भी वृद्धि हो गयी है।

(6) **विदेश सम्बन्धों की प्रधानता**—ऐसा कहा जाता है कि ज्यों-ज्यों देश विदेशी मामलों में उलझता जाता है त्यों-त्यों कार्यपालिका शक्तिशाली होती जाती है। विदेश सम्बन्धों का संचालन ही ऐसा है कि इसमें व्यवस्थापिकाएं यदा-कदा ही अपनी भूमिका निभा सकती हैं।

(7) **सकारात्मक राज्य का उदय**—अब राज्य कल्याणकारी बन गए हैं और जनता के लिए सब प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध करना सरकारो का कार्य बन गया है। जनता को हर चीज तुरन्त और सही समय पर मिल सके इसकी व्यवस्था कार्यपालिका को ही करनी होती है। इससे कार्यपालिका का कार्य अत्यधिक विस्तृत हो गया है।

(8) दलगत राजनीति—अन्त में जिस बात ने आधुनिक विधायिकाओं के प्राधिकार को कम किया है वह दलगत राजनीति की भूमिका है। दल के नेता सदस्यों को अपने कड़े नियन्त्रण में रखते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि सदस्यों को दल की अधिकृत धारा का अनुसरण करना पड़ता है। सचेतको का नियन्त्रण हमेशा बना रहता है जो उन्हें उनकी स्वायत्तता से वंचित करता है। कठोर तरीके से सचेतकों का इस्तेमाल और कभी-कभी बड़े नेता अथवा उसके वरिष्ठ सहायक द्वारा मौखिक सजा देने के लिए विधायकों की भर्त्सना उन्हें इस बात के लिए मजबूर करती है कि वे लकड़ी के मोहरों की तरह बने रहें। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश सदस्य इस स्थिति में नही होते हैं कि वे किसी उल्लेखनीय मात्रा में अपनी स्वतन्त्रता का प्रदर्शन कर सकें। जो एक भारतीय सांसद ने यहां की विशेषकर सत्तारूढ़ दल की स्थिति के बारे में कहा है वह विश्व के अन्य देशों (अमरीका को छोड़कर) की पार्टियों की स्थिति पर लागू होता है—"दल के स्वामियों द्वारा मांगी गई कीमत बहुत अधिक है [illegible]
लाइन [illegible]

[illegible]

और स्थिति में कमी आई है, लेकिन इस स्थिति का बोध उनके 'निधन' से नहीं किया जा सकता। विश्व के सभी देशों में विभिन्न मात्राओं में प्राधिकार के साथ विधायिकाएं कार्य कर रही हैं। ह्रास या पतन का आरोप एक विवादास्पद विषय है। ब्लोंडेल ने ठीक ही लिखा है, "जबकि विधायिकाओं का ह्रास नियम निर्माण के कुछ (सीमित) पहलुओं से सम्बद्ध हो सकता है, लेकिन सम्प्रेषण माध्यमों के रूप में सभाओं के ह्रास को बहुत कठिनाई से ही स्वीकार किया जा सकता है।"

प्रश्न

1. "आज की संवैधानिक स्थिति में आकर्षण का केन्द्र कार्यपालिका के पास चला गया है तथा संसद का महत्व उसी अनुपात में कम हो गया है।" समझाइए। (राजस्थान, 1996)
2. एक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए। वर्तमान समय में व्यवस्थापिका के पतन के कारणो को भी बताइए। (राजस्थान, 1995)
3. आधुनिक समय में व्यवस्थापिका की घटती हुई महत्ता के कारकों का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान, 1993)
4. आधुनिक राज्य मे विधानमण्डल के कार्यों की विवेचना कीजिए। किन परिस्थितियों में एक द्वितीय सदन को आप आवश्यक समझेंगे। (अजमेर, 1994)
5. व्यवस्थापिका का पतन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (राजस्थान, 1998)

6

शासन का संगठन : कार्यपालिका

[ORGANIZATION OF GOVERNMENT : EXECUTIVE]

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की एक आश्चर्यजनक विशेषता यह हो गई है कि कार्यपालिका के पुराने अविश्वास का स्थान उसके नेतृत्व मे नए विश्वास ने ले लिया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि राजनीतिक प्रक्रिया सार्वजनिक दबाव और प्रभावी नेतृत्व की सूक्ष्म अन्तःक्रिया बन गई है। राज्य के कार्यक्षेत्र के महान् विस्तार ने कार्यपालिका को सरकार का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग बना दिया है जिसके परिणामस्वरूप 'सरकार के तीन समान शक्तियों वाले अंगों' के क्लासिकी सिद्धान्त की सैद्धान्तिक ढंग से पुनः प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता है। प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति के हाथों में सरकार का नेतृत्व है, जो अपने अनुयायियों पर दल प्रणाली एवं संरक्षण के वितरण के माध्यमों से नियन्त्रण रखते हैं, ने विधायकों के क्षेत्र की स्वायत्तता छीन ली है। संसदीय शासन प्रणाली मे प्रधानमन्त्री के अधीन मन्त्रिमण्डल या अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रपति की मजबूत स्थिति यह स्पष्ट कर देती है कि विधायी शक्ति का प्रतिमान एक औपचारिकता मात्र बनकर रह गया है। ग्रीब्ज ने ब्रिटिश शासन प्रणाली के बारे में जो कहा है वह अन्य देशो की कार्यपालिकाओं पर भी लागू हो सकता है कि "कार्यपालिका व्यवहार मे हमारे विधि निर्माण तन्त्र में प्रथम सदन बन गई है।"

गार्नर के कथनानुसार, "एक व्यापक अर्थ में कार्यपालिका में वे सभी अधिकारी और एजेन्सियां आ जाती हैं जिनका राज्य के संकल्प को लागू करने से सम्बन्ध है।" अनेक विद्वान कार्यपालिका और प्रशासन में स्पष्ट भेद करते हैं। प्रशासन से हमारा अभिप्राय कानूनों को वास्तव में लागू करने वाले अंग से है। कार्यपालिका सार रूप मे राजनीतिक होती है जबकि प्रशासन निर्णीत नीतियों और आदेशों को क्रियान्वित करता है। कार्यपालिका को राजनीतिक कार्यवाहक और प्रशासन को स्थायी सरकारी कर्मचारी का पर्यायवाची समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा। आजकल प्रशासन के उच्च सरकारी कर्मचारी नीति-निर्माण में भी भाग लेते हैं।

कार्यपालिका का अर्थ

(MEANING OF THE EXECUTIVE)

कार्यपालिका शासन का वह भाग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन करवाता है। कार्यपालिका शासन की वह धुरी है जिसके चारों ओर समस्त प्रशासनिक

यन्त्र घूमता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को क्रियान्वित करता है।"[1] प्रो. गार्नर का कथन है कि "व्यापक और सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका विभाग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य कर्मचारी तथा एजेन्सियां आती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा, जिसे व्यवस्थापिका ने निर्धारित कर कानून के रूप में व्यक्त किया है, कार्यरूप में परिणत करना है।"[2]

'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—(i) व्यापक अर्थ में और (ii) संकुचित अर्थ में। **व्यापक अर्थ** में कार्यपालिका के अन्तर्गत राज्य का कार्यकारी अध्यक्ष, प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद तथा प्रशासनिक कर्मचारी सम्मिलित किए जा सकते हैं। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी कार्य संस्थाएं या एजेन्सियां आती हैं जिनका सम्बन्ध राज्य की इच्छा के कार्यान्वयन से है, जो विधि के रूप में निर्मित और व्यक्त की गई हैं। इस अर्थ में इस शब्द के अन्तर्गत न केवल सरकार का सर्वोच्च अध्यक्ष आता है बल्कि मन्त्रिगण और वे सभी अधीनस्थ एवं प्रशासनिक कर्मचारी भी आते हैं जिन्हें ब्रिटेन और अमरीका में 'स्थायी सेवा' कहा जाता है। **संकुचित अर्थ** में कार्यपालिका में वे ही व्यक्ति सम्मिलित हैं जो नीति निर्धारित करते हैं, योजनाएं बनाते हैं और कानूनों का क्रियान्वयन करते हैं। इसे राजनीतिक कार्यपालिका कहते हैं। इस अर्थ में इंग्लैण्ड में सम्राट, प्रधानमन्त्री और उसका मन्त्रिमण्डल; भारत में राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल; अमरीका में राष्ट्रपति और उसका मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका के अन्तर्गत आएंगे।

यद्यपि **कार्यपालिका** शब्द के अर्थ को व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में ही समझा जाता है तथापि राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के क्षेत्र में इसका संकीर्ण अर्थ ही लागू किया जाता है। कार्यपालिका अध्यक्ष और उसके प्रमुख सहयोगी शासनतन्त्र को चलाते हैं वे राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करते हैं और इस बात को सुनिश्चित करते हैं कि इसे सावधानीपूर्वक अमल में लाया जाए। स्थायी प्रशासकों की एक बहुत बड़ी सेना होती है जिसका यह दायित्व होता है कि राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्मित नीति को ईमानदारी से कार्यरूप में परिणत करें। इसी प्रयोजन के लिए कार्यपालिका और प्रशासनिक विभागों के बीच एक विभाजक रेखा खींची गयी है। जैसा **विलोबी** ने कहा है, "कार्यपालक शक्ति का कार्य सारी सरकार का प्रतिनिधित्व करना और यह देखना है कि इसके विभिन्न भाग कानूनों का उपयुक्त ढंग से पालन करें। प्रशासनिक कार्य यह है कि जिस कानून की घोषणा विधायी अंग और जिसकी व्याख्या सरकार के न्यायपालिका अंग द्वारा की गई है, उसे वास्तव में कार्यरूप में परिणत किया जाए।"

कार्यपालिका के प्रकार
(KINDS OF THE EXECUTIVE)

कार्यपालिका के कई प्रकार हैं। उसका मुख्य वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है—

(1) राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका (Political and Permanent Executive),

1 .

2 .

execution of the will of the state as that will has been formulated and expressed in terms of Law."

(2) नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive),
(3) एकल और बहुल कार्यपालिका (Singular and Plural Executive),
(4) वंशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका (Hereditary and Elective Executive) एवं
(5) उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यपालिका (Responsible and Non-responsible Executive)

(1) राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका (Political and Permanent Executive)—आजकल कार्यपालिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और प्रशिक्षित स्थायी प्रशासक मिल-जुलकर काम करते है। इनमें से प्रथम को राजनीतिक कार्यकारी कहते हैं और दूसरे को स्थायी कार्यकारी। राजनीतिक कार्यकारी का कार्यकाल निर्वाचन पर निर्भर होता है जबकि स्थायी कार्यकारी सरकारी सेवा में अवकाश-ग्रहण की आयु तक रहते हैं। स्थायी प्रशासनिक अधिकारी राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतः निष्पक्ष होकर कार्य करते हैं। उनका कार्य राजनीतिक कार्यकारी को सहयोग देना है। भारत में प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद राजनीतिक कार्यकारी है और आई. ए. एस. और अन्य अधिकारी स्थायी कार्यकारी की श्रेणी में आते हैं।

(2) नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)—संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका का यह भेद किया जाता है। नाममात्र की कार्यपालिका वह होती है जिसके हाथ मे वास्तविक शक्तियां नही होतीं। वह राज्य करती है, किन्तु शासन नहीं करती। सिद्धान्ततः शासन की सारी शक्तियां नाममात्र की कार्यपालिका में निहित होती हैं, किन्तु उन शक्तियों का व्यवहार में वास्तविक प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। इंग्लैण्ड का सम्राट तथा भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है।

राजा या राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष होता है जिसे वास्तविक शक्तियां प्राप्त नही होतीं यद्यपि सारा शासन उसके नाम पर चलाया जाता है। ऐसी पद्धति में वास्तविक शक्ति मन्त्रियों (प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में) को प्रदान की जाती है जो विधायिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतः मन्त्रीगण (या मन्त्रिमण्डल) वास्तविक कार्यपालिका का निर्माण करते हैं। वाल्टर बेजहॉट दोनों को क्रमशः 'गरिमामय' (dignified) और 'कुशल' (efficient) कार्यपालिकाओं की संज्ञा प्रदान करते हैं। नाममात्र की कार्यपालिका दो प्रकार की हो सकती है—"पैतृक या अनुवंशिक और निर्वाचित।

(3) एकल और बहुल कार्यपालिका (Singular and Plural Executive)—यदि कार्यपालिका की समूची शक्ति अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति मे निहित है, तो इसे एकल कार्यपालिका कहते हैं। इसके विपरीत जब कार्यपालिका की शक्तियां एक व्यक्ति में निहित न होकर कुछ व्यक्तियों की एक समिति में निहित रहती हैं तो उसे बहुल कार्यपालिका कहते हैं। सी. एफ. स्ट्रांग के अनुसार, "एकल कार्यपालिका वह है जिसका एक ही अध्यक्ष होता है और अन्य उसकी सत्ता में भागीदार नहीं होते। राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री का नेतृत्व इसी वर्ग से सम्बन्धित है। ऐसी कार्यपालिका में एक ही नेता होता है जिसे पूर्ण प्राधिकार प्राप्त होता है, जिसमें सरकार का कोई अन्य सदस्य उसका भागीदार नही होता।"

एकल कार्यपालिका में किसी एक व्यक्ति के हाथ में प्रशासन की समस्त शक्तियां सौंप दी जाती हैं, जैसे अमरीका का राष्ट्रपति। साथ ही जब वास्तविक कार्यपालिका एक इकाई के

रूप में कार्य करे तो उसे भी एकल कार्यपालिका कहते है, जैसे इंग्लैण्ड और भारत में मन्त्रिपरिषद। मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है, एकल कार्यपालिका के श्रेष्ठ उदाहरण है—अमरीका का राष्ट्रपति, भारत, इंग्लैण्ड, कनाडा [illegible] परिषद' कहते है, निहित है। इन सात सदस्यों में से प्रतिवर्ष बारी-बारी से एक सदस्य को परिषद का अध्यक्ष चुन लिया जाता है, जिसे संघ का राष्ट्रपति कहते है। उसे अपने अन्य सहयोगियों की तुलना में अधिक शक्तियां प्राप्त नहीं होती।

एकल कार्यपालिका के प्रमुख गुण है—शीघ्रता से निर्णय लेने की क्षमता, शासन नीति की एकरूपता तथा स्थिरता, कार्यवाही की गोपनीयता एवं प्रशासन में दृढ़ता। इस प्रणाली में कार्यपालिका की अन्तिम शक्ति एवं नियन्त्रण एक ही व्यक्ति में निहित होने से शासन में एकता, सुगमता तथा सुचारुता लाना अपेक्षाकृत आसान रहता है। **वूल्जे** के अनुसार, "कार्यपालिका का एकल अध्यक्ष होने के लाभ स्पष्ट है वह शासन में एकता तथा कुशलता लाने की क्षमता रखता है।"[1] **स्टोरी** के अनुसार, "कार्यपालिका को एकल और व्यवस्थापिका को बहुसंख्यक होना चाहिए।"[2]

बहुल कार्यपालिका के प्रमुख गुण है—शक्तियो का दुरुपयोग नहीं तथा अधिक अच्छे निर्णय। आकस्मिक परिवर्तन की सम्भावना इसमें कम रहती है।

फिर भी बहुल कार्यपालिका के प्रयोग विफल हुए है। जिन देशों ने इस पद्धति को अपनाया उन्हें अच्छे अनुभव नही हुए। सामूहिक नेतृत्व में फूट तथा कलह की सम्भावना सदा बनी रहती है, शासन में ढीलापन आ जाता है और 'सबका उत्तरदायित्व, किसी का उत्तरदायित्व नही' की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। स्विट्जरलैण्ड में इस प्रणाली की सफलता का कारण स्विस लोगों की राजनीतिक जागृति, उनका समुचित शिक्षण तथा देश की श्रेष्ठ परम्पराएं हैं, न कि इस प्रणाली के गुण।

(क) वंशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका (Hereditary and Elective Executive)—यदि राज्य का प्रमुख वंशानुक्रम ढग से सत्ता प्राप्त करता है तो उसे वंशानुगत कार्यकारी कहा जाएगा। प्रायः राजतन्त्र में वंशानुगत कार्यकारी होता है। लोकतन्त्र में कार्यकारी का प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से जनता द्वारा निर्वाचन किया जाता है। निर्वाचन का तरीका राज्य के संविधान और शासन-प्रणाली पर निर्भर करता है।

(ख) उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यपालिका (Responsible and Non-responsible Executive)—संसदीय शासन-प्रणाली में कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। अध्यक्षीय शासन-प्रणाली में कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और उसे अनुत्तरदायी कार्यपालिका कहा जाता है। संसदीय कार्यपालिका को संसद का अविश्वास होने पर पद से हटाया जा सकता है जबकि अध्यक्षीय कार्यपालिका को निश्चित अवधि की समाप्ति के पूर्व नहीं हटाया जा सकता।

1 "The advantages of single chief are obvious; he is able to bring unity and efficiency into the Government." —*Woolsey*

2 "There ought to be a single Executive and numerious Legislature. —*Story*

6

कार्यपालिका का चयन
(SELECTION OF THE EXECUTIVE)

कार्यपालिका का चयन अथवा नियुक्ति भिन्न-भिन्न देशों में *अलग-अलग ढंग से* की जाती है। इसके चयन के प्रमुख तरीके इस प्रकार हैं—

(1) **पैतृक (Hereditary)**—पैतृक कार्यकारी एक बार पदारूढ़ होने पर जीवनपर्यन्त शासन करते है। उनके निधन के बाद उसी वंश का व्यक्ति शासन का उत्तराधिकारी होता है और यह उत्तराधिकार 'ज्येष्ठाधिकार कानून' द्वारा मिलता है। पुत्र के अभाव में निकट का सम्बन्धी कार्यकारी पद पर आरूढ़ होता है। इस व्यवस्था को राजतन्त्र कहा जाता है। इस प्रकार की नियुक्ति का लाभ यह है कि इसमें बार-बार निर्वाचन नहीं *करना पड़ता। तथापि* अब ऐसे कार्यकारी का समय नहीं रहा। लीकॉक के अनुसार, पैतृक कार्यकारी की धारणा उतनी ही बेहूदा है जितनी की एक वंशानुगत गणितज्ञ अथवा राष्ट्र-कवि की।

(2) **जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct Election)**—कई देशों में कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से मतदाताओं के मतों द्वारा होता है। बोलीविया, मेक्सिको, ब्राजील, आदि देशों में जनता प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। फ्रांस में भी राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए सीधे मतदाता द्वारा चुना जाता है। यह प्रणाली लोकतन्त्रीय भावनाओं के *अनुकूल है तथा इससे राजनीतिक शिक्षा का प्रसार होता है, किन्तु कभी-कभी जनता की* भावनाओं को भड़काकर इस विधि के अन्तर्गत अयोग्य व्यक्ति कार्यकारी पद पर पहुंच जाते हैं।

(3) **परोक्ष निर्वाचन (Indirect Election)**—कई देशों में प्रधान कार्यकारी का निर्वाचन एक विशिष्ट मण्डल द्वारा किया जाता है। भारत और अमरीका में जनता परोक्ष रूप से राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। इस पद्धति के अन्तर्गत पहले एक निर्वाचक-मण्डल की स्थापना होती है जिसमें जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं। बाद में निर्वाचक-मण्डल के सदस्य राष्ट्रपति का निर्वाचन करते है। इस पद्धति में प्रत्यक्ष निर्वाचन से उत्पन्न तनाव एवं गड़बड़ियां नहीं *होतीं और विवेकपूर्ण ढंग से चुनाव हो जाता है। इस पद्धति का दोष यह है कि सच्ची शक्ति* निर्वाचक-मण्डल में न होकर राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथों में होती है और निर्वाचक-मण्डल के सदस्यों को उनके नियन्त्रण में काम करना होता है।

(4) **व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन (Election by Legislature)**—इस पद्धति में विधायिका के सदस्य कार्यपालिका का निर्वाचन करते हैं। विधायिका के दोनों सदनों द्वारा कार्यपालिका के अध्यक्ष या समिति का चुनाव होता है। स्विस संघीय कार्यपालिका का निर्वाचन वहां की विधायिका द्वारा ही होता है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जिन लोगों को मतदान का अधिकार है वे अपेक्षाकृत कुशल और योग्य होते हैं। *इस प्रणाली का सबसे बड़ा* दोष यह है कि इसमें कार्यपालिका का प्रधान विधानपालिका से प्रभावित होता है जिससे उसकी स्वतन्त्रता में कमी आ जाती है।

(5) **मनोनयन (Nominated Executive)**—कार्यपालिका का मनोनयन भी होता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत मे गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की नियुक्ति इंग्लैण्ड के सम्राट द्वारा

की जाती थी। आजकल भी भारत में राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते है। ऐसी नियुक्तियां सोच-समझकर की जाती हैं, किन्तु ऐसी नियुक्तियों में पक्षपात की भी गन्ध आ सकती है।

कार्यपालिका प्रधान की पदावधि और पुनर्निर्वाचन

कार्यपालिका प्रधान के कार्यकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार में और व्यवहार में भी बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। अमरीकी संघ की अनेक इकाइयों में कार्यपालिका प्रधान का कार्यकाल केवल एक वर्ष है, जबकि फ्रेंच गणराज्य के राष्ट्रपति का कार्यकाल 7 वर्ष है। वास्तव में, ये दोनों ही अवधियां उचित नहीं कही जा सकतीं। कार्यकाल के बहुत अधिक दीर्घ होने पर शक्तियों के दुरुपयोग की आशंका रहती है। दूसरी ओर, कार्यकाल के बहुत ही कम होने पर कार्यपालिका प्रधान दब्बू और साहसहीन हो जाता है और उसके द्वारा ठीक प्रकार से प्रशासनिक कार्य नहीं किया जा सकता। इसलिए सामान्य धारणा यही है कि कार्यकाल न तो बहुत अधिक कम होना चाहिए और न ही बहुत अधिक लम्बा। इस सम्बन्ध में **चार या पांच वर्ष** की अवधि ही श्रेष्ठ समझी जा सकती है। भारत, अमरीका, आदि अधिकांश देशों में, व्यवहार में कार्यकाल यही है।

कार्यपालिका प्रधान के पुनर्निर्वाचन के सम्बन्ध में भी विद्वानों के विचारों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। पुनर्निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा जाता है कि दूसरी अवधि के लिए अयोग्यता कार्यपालिका में स्वतन्त्र प्रवृत्ति पैदा करती है और राज्य के नेता की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं पर अवरोध का कार्य करती है। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि पुनर्निर्वाचन की अयोग्यता से इन्कार करना राज्य को बुद्धिमान और अनुभवी राजनीतिज्ञों की सेवा से वंचित करना है। अतः इन परस्पर विरोधी विचारों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए यह कहा जा सकता है कि कार्यपालिका प्रधान का कार्यकाल अत्यन्त दीर्घ होने पर तो पुनर्निर्वाचन अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है, किन्तु सामान्य कार्यकाल (4 या 5 वर्ष) होने पर एक पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था अवश्य ही होनी चाहिए। व्यवहार में अमरीका में कानूनी तौर पर और भारत में परम्परा के आधार पर इसी प्रकार की व्यवस्था है।

कार्यपालिका तथा न्यायपालिका

आधुनिक लोकतन्त्र का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि न्यायपालिका स्वतन्त्र और पक्षपातरहित होनी चाहिए। इसके अन्तर्गत यह बात सम्मिलित है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखा जाना चाहिए। कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को पृथक्-पृथक् रखने के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के नीति-निदेशक तत्वों में निर्देश भी दिया गया है, परन्तु इनके अलग होने के बावजूद ये आपस में कुछ सम्बन्ध रखते ही है। सामान्यतया, उच्च श्रेणी के न्यायालयों के न्यायाधीशों को कार्यपालिका प्रधान के द्वारा ही नियुक्त किया जाता है। कार्यपालिका प्रधान न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्तियों पर क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसी प्रकार, यदि व्यवस्थापिका किसी ऐसे कानून का निर्माण करे या कार्यपालिका कोई ऐसा आदेश जारी करे, जो संविधान की सीमाओं के बाहर हो, तो न्यायपालिका द्वारा ऐसे कानून या आदेश को अवैध घोषित किया जाता है। न्यायपालिका की इस शक्ति को **'न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति'** (Power of Judicial Review) के नाम से जाना जाता है।

कार्यपालिका के प्रकार : विभिन्न प्रतिमान
(TYPES OF EXECUTIVE . DIFFERENT MODELS)

1 संसदीय शासन : क्लासिकी इंगलिश प्रतिमान (Parliamentary System : Classical English Model)

संसदीय कार्यपालिका का जन्म ब्रिटेन में 18वी शताब्दी में हुआ। तत्पश्चात् आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, पोलैण्ड, भारत, जापान, नार्वे, न्यूजीलैण्ड, स्वीडन और दक्षिणी अफ्रीका ने इस संसदीय व्यवस्था को अपनाया।

संसदीय प्रणाली शासन की वह व्यवस्था है जिसमें कार्यपालिका विधायिका के सदस्यों में से चुनी जाती है तथा यह उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का पूर्ण नियन्त्रण होता है और व्यवस्थापिका द्वारा इसे हटाया भी जा सकता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका एक समिति मात्र होती है जो विधायिका की अधीनता में कार्य करती है। कार्टर व हर्ज के अनुसार, "संसदीय प्रणाली, सरकार के कार्यपालिका व व्यवस्थापिका अंगों के अन्तःपाशन पर आधारित है।" सी. एफ. स्ट्रांग के अनुसार, "संसदीय कार्यपालिका प्रणाली का सार यह है कि अन्तिम विश्लेषण में मन्त्रिमण्डल संसद की एक समिति है........।"

संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएं

(1) **नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का भेद**—इस शासन व्यवस्था में नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका में भेद होता है। राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका होती है जबकि वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद होती है। सभी शक्तियां औपचारिक रूप में नाममात्र के अध्यक्ष में निहित होती है जिनका उपयोग उसके मन्त्रियों द्वारा किया जाता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(2) **प्रधानमन्त्री का नेतृत्व**—प्रधानमन्त्री को वास्तविक प्रशासनिक सत्ता प्राप्त होती है और इस नाते उसे 'राज्य का वास्तविक कार्यकारी अध्यक्ष' कहा जा सकता है। वह सरकार के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है, मन्त्रिमण्डल की मेहराब का बुनियादी पत्थर है, सदन का नेता और राष्ट्रीय प्रशासन का संचालक है। मुख्य कार्यपालक, विधायक और प्रशासक के रूप में प्रधानमन्त्री एक बहुत ही शक्तिशाली व्यक्ति है। इस प्रकार नाममात्र का कार्यपालक राज्य करता है, वास्तविक अध्यक्ष शासन करता है।

(3) **सामूहिक उत्तरदायित्व**—इस प्रकार के शासन का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण संसद के प्रति मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्रीगण तभी तक अपने पदों पर बने रह सकते हैं जब तक कि उन्हें संसद का विश्वास या प्रसाद प्राप्त हो।

(4) **राजनीतिक व्यवस्था में संसद सत्ता का केन्द्र होती है**—संसद ही कार्यपालिका की निर्देशक, निरीक्षक होती है। बर्न के शब्दों में, "यह वह मंच है जहां राजनीति का नाटक खेला जाता है।" अर्थात् राजनीतिक व्यवस्था में सभी शक्तियों का उद्‌भव संसद से ही होता है, राजनीतिक नीतियो के निर्धारण का मंच भी संसद ही रहती है। संसदीय प्रणाली में संसद एक ऐसा चक्र बन जाती है जिसके इर्द-गिर्द सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था चक्कर लगाती रहती है।

संसदीय शासन प्रणाली की सबसे बेहतरीन मिसाल इंग्लैण्ड और भारत की राजनीतिक व्यवस्थाओं मे पाई जाती है। इसे ऐसे बहुमत का शासन कहा जाता है जो प्रधानमन्त्री के

नेतृत्व में उसके विश्वस्त सहयोगियों के सहयोग से चलाया जाता है, जिन्हें महत्वपूर्ण विभागों का कार्यभार सौंपा जाता है, जिसमें सभी संसद के प्रति और अन्तिम दृष्टि से अपने वास्तविक निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना रखते हैं।

2. कैबिनेट शासन : आधुनिक इंगलिश प्रतिमान (Cabinet System : Contemporary English Model)

यद्यपि संसदीय शासन के आवश्यक सिद्धान्तों का पालन किया जा रहा है तथापि मन्त्रिमण्डल और संसद के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र मे महान् परिवर्तन आ गया है जिसके कारण 'संसदीय शासन प्रणाली' के स्थान पर इसका अधिक लोकप्रिय नाम 'कैबिनेट शासन पद्धति' हो गया है। जैसा कि **मुनरो** ने लिखा है कि "कैबिनेट सांविधानिक संरचना में एकमात्र अत्यधिक महत्वपूर्ण यन्त्र बन गयी है," या जैसा **रैम्जे म्योर** ने कहा है कि यह "राज्य रूपी जहाज का संचालन चक्र" है। सिद्धान्त में कैबिनेट संसद पर आश्रित है, जबकि व्यवहार में यह संसद की स्वामिनी है।

कार्यपालिका के रूप में कैबिनेट की सर्वशक्तिमान स्थिति का आभास निम्नलिखित बातों से लग सकता है—

1. कैबिनेट राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में प्रमुख भूमिका अदा करती है।
2. समस्त प्रशासनिक कार्य कैबिनेट द्वारा किया जाता है तथा मन्त्री प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष होते हैं।
3. संसद में प्रस्तुत किए जाने वाले समस्त विधायी प्रस्तावों को विस्तृत रूप से कैबिनेट के मार्गनिर्देशन में ही तैयार किया जाता है।
4. कैबिनेट राज्य की वित्तीय स्थिति के लिए भी उत्तरदायी है। वित्तमन्त्री द्वारा जो बजट तैयार किया जाता है वह कैबिनेट की नीति के अनुसार होता है।
5. कैबिनेट देश और देश से बाहर की सभी उच्च पदीय नियुक्तियों के लिए उत्तरदायी है और संसद को व्यावहारिक रूप में ऐसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे।
6. कैबिनेट यह निर्णय करती है कि संसद में कौनसी कार्यवाही पेश की जाए और इसके लिए कितना समय नियत किया जाए। मन्त्रिमण्डल संसद के अधिवेशन के आहूत और अवसान करने, राज्य के नाममात्र के अध्यक्ष द्वारा दिए जाने वाले उद्‌घाटन अभिभाषण का पाठ तैयार करने, अधिवेशन के दिनों में संसद की समय सारणी तैयार करने का निर्णय करता है।
7. मन्त्रिमण्डल की सिफारिश के आधार पर ही नाममात्र का अध्यक्ष संसद के निम्न सदन के भंग किए जाने के बारे में निर्णय करता है।

इन बातों से पता चलता है कि मन्त्रिमण्डल ने संसद की शक्तियों को छीन लिया है। इसी कारण ब्रिटिश संसद के बारे में **मुनरो** ने लिखा है "यद्यपि नाममात्र में यह सर्वोच्च है, लेकिन हाउस ऑफ कॉमन्स वास्तव में कैबिनेट का दास बनकर रह गया है।"

3. प्रधानमन्त्री शासन : नवीनतम इंगलिश और भारतीय प्रतिमान (Prime Ministerial System : Emerging English and Indian Model)

शासन के वेस्टमिनिस्टर प्रतिमान में सबसे आश्चर्यजनक घटना यह हुई है कि 'संसदीय शासन' 'प्रधानमन्त्री शासन' में परिवर्तित होता जा रहा है। शक्तियों का केन्द्र अब संसद

केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही कही जा सकती है। इसी तरह, मन्त्रिमण्डल का विधायिका के प्रति उत्तरदायित्व भी केवल औपचारिक ही रह गया है। अब मन्त्रिमण्डल और संसद प्रधानमन्त्री के हाथों की कठपुतली कहा जा सकता है। अब शक्ति का केन्द्र प्रधानमन्त्री बन गया है। इसलिए संसदीय शासन व्यवस्था को 'प्रधानमन्त्री शासन व्यवस्था' कहना अधिक उपयुक्त माना जाता है। क्रासमैन ने लिखा है—"द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में मन्त्रिमण्डलीय शासन प्रणाली प्रधानमन्त्री शासन प्रणाली मे परिवर्तित हो गयी है।" आज इंग्लैण्ड और भारत में आम चुनाव एक तरह से प्रधानमन्त्री के चुनाव का रूप धारण कर लेता है। सबकी आंखें उसी के चुनाव पर केन्द्रित होती हैं और उसके व्यक्तित्व का बिम्ब लोगों के निर्वाचन सम्बन्धी व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है। भारत और ब्रिटेन में प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद के जीवन और मृत्यु के केन्द्र-बिन्दु हैं। उनकी सलाह से संसद का विघटन किया जा सकता है। कैबिनेट में जो मन्त्री होते हैं वे प्रधानमन्त्री के सहयोगी नहीं रहते बल्कि उन्हें 'महल के रक्षकों' के दर्जे पर उतार दिया जाता है। ब्रिटेन और भारत के प्रधानमन्त्रियों ने अनेक अवसरों पर अपने मन्त्रिमण्डल के असहमत या असन्तुष्ट मन्त्रियों को निकाल बाहर किया और इस बारे में अपनी विवेकपूर्ण शक्तियों का खुलकर प्रयोग किया। संक्षेप में, विशेषकर ब्रिटेन और भारत के प्रधानमन्त्रियों के पदों के गहन अध्ययन करने से, कुछ आलोचकों की यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि प्रधानमन्त्री के पद का 'राष्ट्रपतीयकरण' हो गया है।

4. अध्यक्षीय शासन : अमरीकी प्रतिमान (Presidential System : America Model)

अध्यक्षीय शासन का प्रतिमान, विशेष रूप से अमरीका में और उसके अलावा ब्राजील, अर्जेण्टाइना, मेक्सिको, चिली, फिलीपाइन, दक्षिण वियतनाम, दक्षिण कोरिया और कई अ देशों में पाया जाता है।

अमरीकी राष्ट्रपतीय मॉडल की विशेषताएं है—**प्रथम**, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका न्यायपालिका का एक-दूसरे से पृथकत्व तथा हर एक का अनन्य अधिकार क्षेत्र होना। **द्वितीय** मन्त्रिमण्डल का राष्ट्रपति के पूर्णरूप से अधीन रहना। **तृतीय**, राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति केन्द्र का अभाव होना। **चतुर्थ**, कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् होने के कारण उसके प्र उत्तरदायी नहीं रहती, प्रत्युत संविधान के प्रति उत्तरदायी होती है। **पंचम**, राष्ट्रपति न विधानमण्डल को भंग कर सकता है और न ही उसे अवपीड़ित या बाध्य कर सकता है।

अमरीकी संविधान निर्माता इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे कि शक्तियों के पृथक्करण से सरकार के तीनों अंगों मे गतिरोध व विरोध ही उत्पन्न होंगे तथा शासन व्यवस्था बार-बार ठप्प होती रहेगी। इसलिए उन्होंने नियन्त्रण व सन्तुलन के सिद्धान्त को शक्तियों पृथक्करण के सिद्धान्त के साथ जोड़कर अमरीका की शासन व्यवस्था का सृजन किया।

राष्ट्रपतीय शासन पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें शक्तिशाली कार्यपालि (जिसे राष्ट्रपति कहा जाता है) होती है, जिसे निश्चित अवधि के लिए प्रतिष्ठापित किया ज है। उसकी बहुत ही अधिक शक्तियों पर व्यावहारिक तौर पर कोई नियन्त्रण नही रहा है अ... उसकी स्थिति अक्षुण्ण बन चुकी है क्योंकि जिस महाभियोग की प्रक्रिया से उसे हटाने की व्यवस्था की गयी थी, उसे जानबूझकर कठिन बना दिया गया है। महाभियोग की प्रक्रिया के

जटिल होने के तथ्य से परिचित होने के कारण राष्ट्रपति एक 'तानाशाह' के रूप में कार्य करता है।

5. राष्ट्रपतीय शासन का फेंच प्रतिमान (French Model of Presidential System)

फ्रांस में राष्ट्रपतीय और संसदीय शासन पद्धतियों का विचित्र मिश्रण देखने को मिलता है जिसे 'अर्द्ध राष्ट्रपतीय' अथवा 'अर्द्ध-संसदीय' कहा जा सकता है। 1958 के डिगाल संविधान में एक शक्तिशाली राष्ट्रपति की व्यवस्था की गयी है जिसे वास्तविक अधिकार प्राप्त है, जिसे सात वर्षों के लिए चुना जाता है और जिसे महाभियोग की प्रक्रिया से हटाया जा सकता है। साथ ही दूसरे एक प्रधानमन्त्री की भी व्यवस्था की गयी है जिसके अधीन एक मन्त्रिमण्डल है जो संसद के प्रति उत्तरदायी है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद द्वारा न होकर एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है। राष्ट्रपति को अनेक वैयक्तिक अधिकार दिए गए है जिनका प्रयोग वह स्वविवेक से करता है तथा जिनसे सम्बन्धित आदेशों पर मन्त्रियों के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रपति ही मन्त्रिमण्डल तथा प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है। मन्त्रियों को संसद की सदस्यता से वंचित किया गया है, किन्तु उन्हे संसद के द्वारा उत्तरदायी बना दिया गया है। प्रधानमन्त्री की सलाह से राष्ट्रीय सभा को भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियां दी गयी हैं जिसका निर्णायक वह स्वयं है।

इस प्रकार फ्रेंच राष्ट्रपति सांविधानिक तन्त्र का निर्णायक हो गया है। वह राष्ट्र का वास्तविक अध्यक्ष, राष्ट्र का प्रतीक, शासन का प्रमुख और राष्ट्रीय पंच के तुल्य बना दिया गया है, जबकि प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति का एजेण्ट सा बन जाता है। फ्रेंच राजनीतिक व्यवस्था के बारे में **ब्रोगन** का यह कथन उल्लेखनीय है कि "वह न तो अमरीकी ढंग का अध्यक्षात्मक संविधान है और न अंग्रेजी ढंग का संसदात्मक संविधान ही, वह तो दोनों का मिश्रण है।"

6. बहुल कार्यपालिका : स्विस प्रतिमान (Plural Executive : Swiss Model)

अभी तक हमने संसदीय एवं अध्यक्षीय कार्यपालिका का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार की कार्यपालिका भी होती है जिसमें कार्यपालिका शक्ति व्यक्ति विशेष में निहित न होकर एक सम्पूर्ण सभा में समाहित होती है। उनके समस्त सदस्य संयुक्त रूप से कार्यांग के कार्य सम्पादित करते हैं।

स्विस संघीय परिषद स्विस कार्यपालिका है। संघीय परिषद के सदस्यों की संख्या सात है। इनका चुनाव संघीय सभा के दोनो सदन एक संयुक्त बैठक में करते हैं। संघीय परिषद का चुनाव चार वर्ष के लिए होता है। इसे इस अवधि से पूर्व हटाया नहीं जा सकता। यदि चार वर्ष से पूर्व कोई स्थान खाली हो तो उसको संघीय सभा अपने अगले अधिवेशन में शेष अवधि के लिए किसी नए व्यक्ति का चुनाव करके भर देती है।

वहां इस प्रकार की परम्परा है कि संघीय परिषद के सातों सदस्यों में प्रायः सभी दलों के प्रतिनिधि आ जाते है और ऐसा नहीं होता कि सब सदस्य एक ही दल के हो जाएं। संघीय परिषद के सदस्यों में से एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष होता है। संघीय परिषद का सबसे वरिष्ठ सदस्य ही अध्यक्ष बनता है। प्रतिवर्ष इनका निर्वाचन परिषद स्वयं करती है तथा यह परम्परा बन गयी है कि इस वर्ष का उपाध्यक्ष अगले वर्ष अध्यक्ष निर्वाचित किया जाता है।

संघीय परिषद के अध्यक्ष को ही 'स्विस राष्ट्रपति' कहकर सम्बोधित किया जाता है। सुविधा, स्तर व अधिकार की दृष्टि से अध्यक्ष के पद का कोई विशिष्ट महत्व नहीं है। का अध्यक्ष उन सात व्यक्तियों में से ही एक होता है, जो सब दृष्टियों से समान स्थिति में हैं। अध्यक्ष पद के अधिकारी का कोई विशिष्ट महत्व नहीं है, इसलिए वहां व्यवस्था यह है कि अध्यक्ष पद बारी-बारी से परिषद के सब सदस्यों को प्राप्त होता है। परिषद के अन्य सदस्यों के निर्णयों को बदलने का उसे कोई अधिकार नही है। उसका वास्तविक कार्य केवल इतना ही है कि वह संघीय परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करे, संघ राज्य का प्रतिनिधित्व करे, देश-विदेश में औपचारिक कृत्यों का सम्पादन करे, परिषद के कार्यों का निरीक्षण एवं संचालन करना, ग्रन्थि पड़ जाने पर निर्णायक मत देना आदि।

स्विस संघीय परिषद के अध्यक्ष को विधेयक पर 'वीटो' करने का अधिकार प्राप्त नहीं है तथा परिषद के अन्य सदस्यों की तरह वह एक प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष रहता है। उसके कोई विशेषाधिकार नहीं होते। वह केवल औपचारिक अवसरों पर नाममात्र का राज्याध्यक्ष होता है। उसे 'बिना महत्व का राष्ट्रपति' (A President without Significance) कहा जाता है।

इस प्रकार स्विस संघीय परिषद मे न तो राष्ट्रपति होता है, न प्रधानमन्त्री, न मन्त्रिमण्डल होता है और न उसका सामूहिक उत्तरदायित्व, न कार्यपालिका विधानमण्डल का विघटन कर सकती है और न विधानमण्डल कार्यपालिका को अपदस्थ कर सकता है। विश्व में यह अपने ढंग की एक अनोखी संस्था है। मुनरो के अनुसार, "स्विस संघीय परिषद संसदीय तथा अध्यक्षीय दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओ के गुणों से युक्त तथा दोषों से मुक्त है। बहुल कार्यपालिका होते हुए भी एकलापूर्ण कार्यपालिका के गुण इसमें पाए जाते हैं।" इसकी अद्भुत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लार्ड ब्राइस ने लिखा है—"किसी अन्य देश मे कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति के स्थान पर एक परिषद में निहित नही की गयी; किसी भी स्वतन्त्र देश की कार्यपालिका को दलगत राजनीति से इतनी दूर नही रखा गया जितना कि स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद को। यह परिषद ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की तरह मन्त्रिपरिषद नही है, क्योंकि यह विधानमण्डल का नेतृत्व नही करती और न उसके द्वारा अपदस्थ की जा सकती है, साथ ही यह अमरीका तथा उसका अनुसरण करने वाले अन्य अध्यक्षीय शासनो के समान विधानमण्डल से स्वतन्त्र भी नही है। यद्यपि इसमें दोनो पद्धतियों के लक्षणों का समावेश है, परन्तु दलगत स्वभाव से वंचित रहने के कारण यह दोनों से ही पूर्णतः भिन्न है।"

कार्यपालिका के कार्य
(FUNCTIONS OF THE EXECUTIVE)

कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो रहा है। कार्यपालिका 'सरकार' शब्द का पर्यायवाची बन गई। गेटेल ने कार्यपालिका के पांच कार्य बतलाए हैं—कूटनीतिक कार्य, प्रशासनिक कार्य, सेना सम्बन्धी कार्य, व्यवस्था सम्बन्धी कार्य और न्याय सम्बन्धी कार्य। कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का विवरण निम्न रूप से किया जा सकता है—

(1) प्रशासन का संचालन—कार्यपालिका का सबसे पहला और महत्वपूर्ण कार्य देश का प्रशासन चलाना है। आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना वह प्रमुख कार्य है जिसके लिए सरकार की स्थापना की जाती है। इस प्रयोजन के लिए कार्यपालिका पुलिस शक्ति रखती

है जो इसके आदेशों का पालन करती है। यह रक्षा सेनाओं की भी व्यवस्था करती है ताकि बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा की जा सके। यह प्रशासकों की नियुक्तियां भी करती है। आन्तरिक और वाह्य प्रयोजनों के लिए राष्ट्रीय नीति का निर्माण करना कार्यपालिका का ही कार्य है।

(2) **कूटनीतिक कार्य**—विदेशों के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करने का उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका पर ही रहता है। इसके लिए वह विदेशों में अपने दूतावास स्थापित करती है, राजदूत नियुक्त करती है तथा अन्य देशों से आए राजदूतों का स्वागत करती है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सुरक्षात्मक सन्धियां कार्यपालिका द्वारा की जाती है। विदेशों से सभी प्रकार के समझौते कार्यपालिका द्वारा ही किए जाते है।

(3) **विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य**—कार्यपालिका विधि-निर्माण कार्य में भाग लेती है। इन कार्यो का क्षेत्र शासन-प्रणाली के स्वरूप पर निर्भर करता है। अधिकांश राज्यों में कार्यपालिका को संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा निम्न सदन को भंग करने का अधिकार प्राप्त है। राज्याध्यक्ष ऐसे अध्यादेश लागू कर सकता है जिसका प्रभाव कानून के ही समान होता है। संसदीय शासन-प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका ही विधि-निर्माण में व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है। संसद द्वारा पारित विधेयक राज्याध्यक्ष के निषेधाधिकार (Veto) केअधीन होते है। संसदीय शासन प्रणाली मे ससद द्वारा पास किए गए अधिकांश विधेयक सरकारी विधेयक होते हैं। अध्यक्षीय शासन-प्रणाली वाले देशों में भी सीमित रूप में कार्यपालिका विधि-निर्माण को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, अमरीकी राष्ट्रपति कांग्रेस को सन्देश भेज सकता है और 'विलम्ब निषेधाधिकार' का प्रयोग कर सकता है।

कार्यपालिका शक्तियो के भंडार मे जिस वात ने सबसे अधिक योगदान किया है वह है—प्रत्यायोजित विधायन। क्योंकि संसद कोई ऐसा कानून पास नही कर सकती जो हरेक तरह से पूर्ण हो, अतः यह कार्यपालिका विभागों पर छोड़ दिया जाता है कि वे समय-समय पर परिपत्र, अधिसूचनाएं आदि जारी करके संसदीय विधायन में आवश्यक संवर्द्धन और अनुपूरण करें।

(4) **न्यायिक कार्य**—आधुनिक युग में कार्यपालक विभागों ने न्यायिक कार्य भी धारण कर लिए हैं। सभी देशों में राज्याध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह अपराधियों को क्षमा कर दें, उनकी सजा में परिवर्तन कर दें या सजा कम कर दे। इसे क्षमा का परमाधिकार कहा जाता है। आजकल 'प्रशासनिक न्याय' की अवधारणा का विकास हुआ है। विभागीय अध्यक्ष विभाग के कर्मचारियों के बीच झगड़ो के निपटान के लिए ट्रिब्यूनल की स्थापना कर सकता है। यह भी सम्भव है कि मन्त्रियों को ऐसी शक्तियां प्रदान की जाएं कि वे अपीलीय ट्रिब्यूनल के रूप में कार्य कर सकें। संक्षेप में, प्रशासनिक न्यायालयों की स्थापना 'प्रशासनिक और न्यायिक-संरचनाओं के बीच अनम्य विभाजक रेखा को खींचे जाने से रोकती है।'

(5) **वित्तीय कार्य**—शासन का वार्षिक आय-व्यय निर्धारित करने का कार्य भी कार्यपालिका का है। राष्ट्रीय बजट पास करना और आर्थिक व्यवस्था पर नियन्त्रण रखना आदि विधायिका के कार्य हैं, परन्तु इस दिशा में पहल एवं मार्गदर्शन कार्यपालिका ही करती है। कार्यपालिका ही इस बात का निर्णय करती है कि कौन से कर आरोपित या समाप्त किए जाएं किस कर की दर में वृद्धि या कमी की जाए या कौन से कर्ज की मंजूरी दी जाए या वसूली की जाए।

यह देखना कार्यपालिका का कर्तव्य है कि वजट की व्यवस्थाओं को संसद द्वारा पास किए जाने के बाद उन पर पूरी तरह से कार्य किया जा रहा है अथवा नहीं।

(6) **विविध कार्य**—कार्यपालिका के अन्य कार्य हैं—उपाधियों का वितरण करना, राष्ट्रीय आयोजन करना, विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्रदान करना, आदि।

चेस्टर बर्नार्ड ने अपनी प्रसिद्ध कृति **'फंक्शन्स ऑफ दि एक्जीक्यूटिव'** में प्रमुख कार्यपालिका के तीन कार्यों का उल्लेख किया है—

1. संगठन मे सम्प्रेषण प्रणाली को बनाए रखना
2. व्यक्तियों से आवश्यक सेवाएं प्राप्त करना
3. संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्यों का निर्धारण करना।

संक्षेप में, कार्यपालिका के कार्यों का जिस गति से विस्तार होता जा रहा है उसे देखते हुए आलोचक कहने लगे हैं कि **'प्रतिनिधि लोकतन्त्र'** की जगह **'प्रशासकीय लोकतन्त्र'** ने ग्रहण कर ली है।

कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि
(GROWTH OF THE EXECUTIVE POWERS)

आधुनिक युग की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों ने कार्यपालिका की शक्तियों में दिन-दूनी, रात-चौगुनी वृद्धि की है। लॉक तथा रूसो ने अपने सामाजिक समझौते में 'सीमित कार्यपालिका' तथा 'लोकप्रिय कार्यपालिका' के सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे, किन्तु यथार्थ में आधुनिक प्रवृत्तियों ने समस्त कार्यपालिकाओं को हॉब्स का यथार्थ अनुयायी बना दिया है। मेक्रीडिस ने ठीक ही कहा है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अनेक तत्वों व प्रवृत्तियों ने राजनीतिक कार्यपालिका को शक्ति का प्रधान केन्द्र बना दिया। कार्यपालिका में शक्तियों के केन्द्रण के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

(1) **केन्द्रीकरण**—चाहे संघात्मक शासन हो अथवा एकात्मक शासन, केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति जोरों पर है। प्रशासन, राजनीतिक दल अथवा सरकार के विभिन्न अंगों को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न ढांचों का सन्तुलन केन्द्रीकरण की ओर झुका है। अमरीका और भारत जैसे संघों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियां निरन्तर बढ़ती रही हैं। राज्यों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता जैसी हो गई है। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का अनिवार्य परिणाम यह रहता है कि उन समस्त अवैध शक्तियों का प्रयोग कार्यपालिका ही करती है जो संविधान के इतर विकसित होती हैं।

(2) **समाजवाद**—आधुनिक युग में दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति समाजवाद तथा लोक-कल्याणकारी राज्य का आन्दोलन है। प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि राज्य उसके लिए अधिक से अधिक लाभकारी कार्य करे। बेरोजगारी, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता तथा उच्च जीवन-स्तर का अभाव प्रत्येक देश की महत्वपूर्ण समस्याएं हैं। इन समस्याओं के निराकरण के लिए बड़े-बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा आर्थिक जीवन में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है। आज सभी सरकारें कृषि, उद्योग, व्यवसाय आदि क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से कार्य कर रही हैं। राज्यों की कार्य-वृद्धि का अनिवार्य परिणाम कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होना है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय और गृह-संकट**—वर्तमान युग संकटों का युग है। प्रत्येक देश की समस्याएं पेचीदी और जटिल हैं। उदाहरण के लिए भारत में बेरोजगारी, कभी अकाल, कभी

सूखा, कभी बाढ़ जैसी भयंकर समस्याएं रहती हैं। अमरीका में काले नीग्रो तथा गोरों के सामंजस्य की भयंकर राष्ट्रीय समस्या है। इसी प्रकार चीन-वियतनाम युद्ध, पश्चिमी एशिया का संकट, भारत-पाक सम्बन्ध की नाजुक स्थिति, भारत-चीन सम्बन्ध की जटिलता आदि कुछ ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय पेचीदे संकट तथा झगड़े हैं जो कभी-कभी युद्ध का रूप ले लेते हैं। युद्धों के साथ राष्ट्रीय जय-पराजय जुड़ी रहती है। अतः संकट के इस युग में कार्यपालिका के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। हम सभी जानते हैं कि प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय लॉयड जार्ज तथा चर्चिल की शक्तियां हिटलर और मुसोलिनी से कम नहीं थीं। आर्थिक संकट के समय फ्रैंकलिन रूजवेल्ट अमरीका के संवैधानिक अधिनायक ही थे।

(4) नेतृत्व की आवश्यकता—राष्ट्रीय नेतृत्व राष्ट्रीय गौरव और प्रतिष्ठा का स्रोत होता है। दुर्बल नेतृत्व राष्ट्र को दुर्बल करने के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का ह्रास करता है। आज प्रत्येक देश की जनता गौरव और प्रतिष्ठा की आकांक्षा रखती है। कार्यपालिका ही राष्ट्र को सबल नेतृत्व प्रदान कर सकती है।

(5) संचार तथा आवागमन के साधनों का विकास—आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता दूरी की कमी है। प्राचीन काल में संचार तथा आवागमन के द्रुतगामी साधनों के अभाव में कार्यपालिका का नियन्त्रण तथा प्रभाव ढीला ही रहता था और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रशासनिक कार्यकुशलता के लिए अनिवार्य हो जाती थी। वर्तमान समय में कार्यपालिका तकनीकी यन्त्रों की सहायता से अधिकांश कार्यों की देख-रेख स्वयं कर सकने की स्थिति में है, स्वयं निर्देश दे सकने की स्थिति में है।

(6) राजनीतिक दलों का विकास—आज प्रत्येक देश में राजनीतिक दलों का विकास हो चुका है। प्रत्येक देश में कार्यपालिका अपने दल की नेता तथा प्रमुख वक्ता होती है। उसका दल उसकी नीतियों और कार्यों का समर्थन करते हुए उसके पक्ष में लोकमत तैयार करता रहता है। राजनीतिक दलों में कठोर अनुशासन पाया जाता है तथा वे सदैव अपने नेता के नेतृत्व में कार्य करते हैं। दलीय प्रथा की कठोरता ने कार्यपालिका को जहां जन-समर्थन प्रदान किया है वहां अनौपचारिक दृढ़ता भी प्रदान कर दी है।

(7) व्यवस्थापिका की शक्तियों का ह्रास—आधुनिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने व्यवस्थापिका के स्वरूप को ही बदल दिया है। व्यवस्थापिका के सदस्य न तो समस्याओं की जटिलताओं को समझ पाते हैं और न वे स्वयं कानून बनाते हैं। कानून प्रशासकों के बन्द कमरों में बनते हैं और संसद तो 'हां' या 'न' करने वाली संस्था रह गई है। कार्यपालिका के नेतृत्व, बहुमत एवं शक्ति के कारण संसद 'ना' भी नहीं कर सकती। वह एक 'रबर स्टाम्प' मात्र बनकर रह गई है। **रैम्जे म्योर** ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"

संक्षेप में, सभी देशों में कार्यपालिका ने विधायिका को पीछे ढकेलते हुए अत्यधिक शक्तियां हथिया ली हैं। लिप्सन ने लिखा है, "राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।"[1]

1 "Every new service that the voters thrust upon the State, every additional power that the Government sought, rebounded to the advantage of the Executive."
—Lipson, *The Great Issues of Politics*, p. 283.

आलोचनात्मक मूल्यांकन
(CRITICAL ESTIMATE)

आधुनिक शासन प्रणालियों में समान शक्तियों वाले सरकार के तीन अंगों का पुराना सिद्धान्त अस्वीकार्य समझा जाता है। वे दिन बीत गए जब विधायिका को सरकार का सबसे पहला और अत्यधिक शक्तिशाली अंग समझा जाता था। कर्टिस इसे 'स्वर्ण युग का गुजर जाना' कहते है। जैसा रोड़ी ने कहा हैस "एक ओर प्रतिनिधि सभाओ की बुद्धिमता और सक्षमता के लिए पहले वाला उत्साह समाप्त हो चुका है; दूसरी ओर सार्वजनिक रूप से निर्वाचित कार्यपालिका के साथ लगभग एक शताब्दी के अनुभव ने पुरानी शंकाओं को समाप्त कर दिया है और उनके स्थान पर इसमे विश्वास की स्थापना हुई है। इसके साथ ही तीव्रता से बढती हुई लोकतान्त्रिक शासन की समस्याओं और कार्यो ने, वास्तव में, कई शक्तियों को विधायिका से कार्यपालिका की ओर स्थानान्तरित करने पर मजबूर कर दिया है। आन्तरिक और विदेश नीति के क्षेत्रों में त्वरित सरकारी कार्यवाही की बढ़ती हुई आवश्यकता ने आधुनिक व्यवस्थापिका को मजबूर कर दिया है कि वह अधिकांश विधायी प्राधिकार को कार्यपालिका के पक्ष में हस्तान्तरित करे जो नियमतः विधायिका द्वारा प्रस्तुत किए गए मार्गदर्शक सिद्धान्तों और सीमाओं के अधीन हों।"

आज आवश्यकता इस बात की नहीं है कि विधायी प्राधिकार के ह्रास या पतन पर आंसू बहाए जाएं, बल्कि यह सोचा जाए कि किस प्रकार कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्तियों पर अंकुश लगाया जाए ताकि वह निरंकुश आचरण न कर सके।

प्रश्न

1. कार्यपालिका को शक्तिशाली बनाने वाले कारकों का वर्णन प्रजातन्त्र कीजिए। पर पड़ने वाले इसके प्रभावों की विवेचना कीजिए। (राजस्थान, 1997; अजमेर, 1997)
2. कार्यपालिका के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए। इनमें से आप किसे बेहतर समझते हैं तथा क्यों? (राजस्थान, 1995; अजमेर, 1996, 98)
3. कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों को समझाइए। सारांश में इसके व्यवस्थापिका से सम्बन्ध को भी समझाइए। (राजस्थान, 1994)

7

शासन का संगठन : न्यायपालिका

[ORGANIZATION OF GOVERNMENT : JUDICIARY]

शासन शक्तियों का दुरुपयोग न कर सके इसके लिए सामान्यतया तीन व्यवस्थाएं अपनायी जाती हैं—**प्रथम**, शक्तियों को संविधान द्वारा निर्धारित व सुनिश्चित करना; **द्वितीय**, शक्तियों का नियन्त्रण व सन्तुलन करना ताकि यदि शासन का एक अंग शक्तियों का दुरुपयोग करे तो दूसरा अंग उसे रोक सके; **तृतीय**, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना करके।

व्यवहार में दोनों (उपर्युक्त) व्यवस्थाओं की पूरक होने के कारण न्यायपालिका का शक्ति-नियन्त्रक के रूप में विशिष्ट महत्व है। आज तो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को राजनीतिक स्थिरता का आवश्यक पहलू माना जाता है। लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्थाएं स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका के मजबूत स्तम्भ पर ही स्थिर रहती है।

एलेन बाल के अनुसार, "न्यायाधीश और न्यायालय समग्र राजनीतिक प्रक्रिया के महत्वपूर्ण पहलू होते हैं।" इसी विचार को **राबर्ट डहल** ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय को एकमात्र विधिक संस्था समझना अमरीकी राजनीतिक पद्धति में उसके महत्व को कम आंकना है क्योंकि यह राजनीतिक संस्था भी है यानी उस संस्था से राष्ट्रीय नीति के विवादास्पद प्रश्नों पर निर्णय प्राप्त किए जा सकते हैं।" उदाहरणार्थ, अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय 1950 और 1966 से शुरू होने वाले दशकों के दौरान नागरिक अधिकार जैसे महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों के विषय में दिशासूचक रहा है जबकि उसी दौरान राष्ट्रपति और कांग्रेस ऐसे विवादग्रस्त क्षेत्रों में राजनीतिक नेतृत्व के अनिच्छापूर्वक अनुसरण तथा निष्क्रियता की स्थितियों के बीच झूल रहे थे।

न्यायपालिका का महत्व
(SIGNIFICANCE OF JUDICIARY)

01

न्यायपालिका शासन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। लोकतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त हैं, इन सिद्धान्तो की रक्षा समुचित न्याय-व्यवस्था के बिना नहीं हो सकती। न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है। यह विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों की व्याख्या करती है और कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है।

यदि किसी राज्य में उचित और निष्पक्ष न्यायपालिका नहीं है तो अधिकारों की सुरक्षा खतरे में रहती है। रॉले के शब्दों में, "अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए न्याय विभाग नितान्त आवश्यक है।"[1] लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "किसी शासन की उत्तमता की जांच करने की सर्वश्रेष्ठ कसौटी उसकी न्याय-व्यवस्था की कार्यक्षमता है।"[2] राज्य का अस्तित्व ही न्याय-व्यवस्था पर निर्भर होता है। न्याय विभाग की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए गार्नर ने लिखा है, "बिना विधायिकी अंगों के समाज की कल्पना की जा सकती है, किन्तु बिना न्यायिक अंगों व न्यायाधिकरण के एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"[3] जिस देश में *न्यायांग सुचारु रूप से कार्य नहीं करता, यदि वह अन्धकार के गर्त में समा जाए तो* कोई आश्चर्य की बात नहीं। कैण्ट के शब्दों में, "जिस देश में कानूनों की व्याख्या करने और उन्हें कार्यान्वित करने, विवादों का निर्णय करने तथा अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए कोई न्याय विभाग नहीं होता, वहां शासन ही नष्ट हो जाता है।" लॉस्की ने लिखा कि, "जब हम जानते हैं कि राष्ट्र-राज्य किसी प्रकार अपने यहां न्याय करता है तब हमें यह ज्ञात होता हो जाता है कि वह नैतिक चरित्र के किसी स्तर पर है।"[4] मैरियट के अनुसार "यदि नागरिकों को न्याय पाने में देर लगती है अथवा न्याय की सन्तोषजनक व्यवस्था न है तो नागरिकों का जीवन दुःखद बन जाता है।" ब्राइस के अनुसार, "यदि न्याय का दीप अंधेरे में बुझ जाए तो वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती

न्यायपालिका का अर्थ व परिभाषा
(MEANING AND DEFINITIONS OF JUDICIARY)

न्यायपालिका शासन का वह अंग होती है जो विधियों की व्याख्या करती है तथा उनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। साधारण अर्थ में विधियो की व्याख्या करने उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालि कहा जाता है। यह उन व्यक्तियों का समूह है जिन्हें कानून के अनुसार समाज के विव को हल करने का अधिकार प्राप्त रहता है। प्रो. लास्की के अनुसार, "एक राज्य की न्यायपालि अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिनका कार्य राज्य किसी कानून-विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत का, जो विभिन्न लोगों के या नागरिकों व राज्य के बीच एक-दूसरे के विरुद्ध होती है, समाधान व फैसला करता है संक्षेप में न्यायपालिका, न्यायिक प्रक्रिया की संरचनात्मक व्यवस्था है। यह व्यवस्थित का लड़ाई के लिए की गई व्यवस्था के अन्तर्गत जांच करने का तरीका है। यह समाज में प्रच विधियों को लेकर उठने वाले विवादों का समाधान करने का संस्थागत यन्त्र है।

1 "It is indispensable that there should be judicial department to ascertain decide rights to, punish crimes to, administer justice and protect the innocent fr injury and usurption." —Ro

2 "There is no better test of the excellence of Government than the efficiency of Judicial System." —Lord B

3 "A society without legislative organs in conceivable......but a civilized state with judicial organs and machinery is hardly conceivable." —Gar

4 "When we know a nation-state dispenses justice, we know with some exactr the moral character to which it can pretend." —L

न्यायपालिका के कार्य
(FUNCTIONS OF THE JUDICIARY)

न्यायपालिका के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—

(1) न्याय प्रशासन—न्यायालयों का पहला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य न्याय प्रशासन करना है। न्यायालय दीवानी, फौजदारी और सांविधानिक मुकदमों में अपना निर्णय देते हैं जिसमें विवादग्रस्त पक्ष अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(2) कानूनों की व्याख्या करना—न्यायपालिका का प्रमुख कार्य कानूनों की व्याख्या करना है। प्रायः कानून अस्पष्ट तथा क्लिष्ट भाषा में होते हैं। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश अपने विवेकानुसार कानूनों की व्याख्या करते हैं और उनके अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

(3) नागरिक अधिकारों की रक्षा करना—न्यायालय नागरिकों की रक्षा करते हैं। कई राज्यों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख संविधान में दे दिया जाता है ताकि उसे संविधान और न्यायपालिका का संरक्षण प्राप्त हो सके। ऐसी स्थिति में यह न्यायपालिका का विशेष उत्तरदायित्व होता है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि सरकार का कोई अंग इन अधिकारों का अतिक्रमण न करे।

(4) अभियोगों के निर्णय—विधि के उल्लंघन से उत्पन्न मुकदमों का निर्णय न्यायपालिका करती है। नागरिकों के पारस्परिक विवादों का निर्णय न्यायपालिका द्वारा होता है। नागरिकों के दीवानी व फौजदारी के विवादों पर पक्ष तथा प्रतिपक्ष के विचार सुनकर न्यायालय फैसला सुनाते हैं।

(5) संविधान की रक्षा—संविधान की रक्षा करने का उत्तरदायित्व न्यायपालिका का होता है। यदि विधायिका ऐसा कानून पारित करती है जो संविधान की भावना के प्रतिकूल है तो न्यायपालिका उस कानून को असंवैधानिक घोषित कर सकती है। इसे न्यायिक पुनर्निरीक्षण कहते है। न्यायिक पुनर्निरीक्षण से अभिप्राय यह है कि न्यायालय किसी विधायी या प्रशासनिक उपाय की सांविधानिक वैधता का परीक्षण कर सकते हैं और उसके पश्चात् उसे पूर्ण या आंशिक रूप में 'शक्ति वाह्य' (*ultra vires*) या 'शक्ति आंतर' (*intra-vires*) घोषित कर सकते हैं। न्यायालय की इस अद्वितीय शक्ति का आरम्भ अमरीका में हुआ और इसका सर्वश्रेष्ठ रूप भी वहीं उपलब्ध है।

(6) संघात्मक व्यवस्था की रक्षा—संघ-शासन-व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों का विभाजन होता है। कभी-कभी संघीय इकाइयों में आपस में अथवा संघ तथा अन्य इकाइयों में विवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संघीय न्यायालय की सर्वोच्चता इसलिए स्थापित की जाती है कि इन विवादों में उसका निर्णय ही मान्य होगा। इस प्रकार न्यायपालिका संघ में किसी को भी क्षेत्राधिकार का उल्लंघन नहीं करने देती। इस प्रकार एक संघीय शासन के न्यायालय एक 'संविधान न्यायालय' का रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि यह सच है कि ऐसे अधिकांश मामलों में निर्णय केन्द्रीय सरकार के पक्ष मे जाते हैं, लेकिन हरेक मामले में ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

(7) मन्त्रणा-कार्य अथवा परामर्श देना—अनेक राज्यों में न्यायपालिका राष्ट्राध्यक्ष को परामर्श देने का कार्य करती है। इंग्लैण्ड में कार्यपालिका की प्रार्थना पर प्रिवी कौंसिल की

न्यायिक समिति वैधानिक प्रश्नों पर अपनी राय देती है। भारत में भी राष्ट्रपति गम्भीर संवैधानिक प्रश्नों पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है।

(8) **विधायन सम्बन्धी कार्य**—विधि-निर्माण व्यवस्थापिका का कार्य है तथापि विभिन्न मुकदमों के निर्णय के सिलसिले में न्यायपालिका कानूनों की जो व्याख्या करती है उन व्याख्याओं से ही कतिपय कानूनों का निर्माण हो जाता है। अमरीकी न्यायाधीश ह्यूज ने जब यह कहा कि "न्यायाधीश भी विधायन कार्य करते हैं", तब यह कोई कानूनी कल्पना न होकर एक हकीकत थी। जहां विधि या कानून मौन है या किसी अन्य कानून के अनुसार असगत प्रतीत होता है, तब न्यायालय यह निर्णय करता है कि कानून क्या है और किस कानून को स्वीकार किया जाना चाहिए। इस बारे मे उसका मार्गदर्शन साम्यता और न्यायिक सूझबूझ के सिद्धान्तो द्वारा किया जाता है। ये निर्णय बाद में दृष्टान्त या नजीरें (Precedents) हो जाते हैं। इन दृष्टान्तों को 'न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून' या 'केस लॉज' कहते हैं।

(9) **सरकार के कार्यों को औचित्य प्रदान करना**—सरकार के कार्यों को औचित्य प्रदान करने के लिए न्यायालय महत्वपूर्ण पक्ष है। यह आशा की जाती है कि न्यायालयों को लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं के बारे में पूर्ण तौर से संजग रहना चाहिए, और जैसा भारत के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश पी. बी. गजेन्द्र गड़कर ने कहा है, उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में कानून के अर्थ की व्याख्या करनी चाहिए। न्यायालय सरकार के निर्णयों को औचित्य प्रदान करने का कार्य करते हैं। यह हो सकता है कि सरकार के किसी 'नवोन्मेशी निर्णय' को लोग असांविधानिक मान लें और उसे वे विधि न्यायालय में चुनौती दें, तब यह न्यायाधीश का काम है कि वह गत्यात्मक दृष्टिकोण से उस स्थिति का परीक्षण करे और उसे औचित्य का स्वरूप प्रदान करने के लिए अपना निर्णय दे।

(10) **प्रशासनिक कार्य**—न्यायालय अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं। न्यायालय की कार्यवाही से सम्बन्धित प्रक्रिया का निर्धारण करते है और उन्हें छोटे-छोटे नियमों को लागू करने का अधिकार है।

(11) **विविध कार्य**—न्यायालय अल्पवयस्क या नाबालिगों की जायदाद के लिए ट्रस्टी या संरक्षक नियुक्त करता है। नागरिक विवादों की मंजूरी देता है। निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों की अपील सुनता है। वसीयतनामों तथा इच्छा-पत्रों की रजिस्ट्री भी न्यायपालिका द्वारा होती है। इन्हे न्यायालयों के अर्द्ध-न्यायिक कार्य कह सकते हैं।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
(INDEPENDENCE OF THE JUDICIARY)

न्यायपालिका शासन का वह अंग है जो कानूनों की व्याख्या करता है और न्याय की व्यवस्था करता है। यदि शासन का वह अंग किसी अन्य सत्ता के अधीन हो तो वह निष्पक्षता के साथ निर्णय देने में असमर्थ होगा। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के अभाव में न्याय-व्यवस्था का कोई अर्थ हो नहीं होता। इस सम्बन्ध में गार्नर लिखते हैं—"यदि न्यायाधीशो में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो, तो न्यायालय का वह ढांचा खोखला प्रतीत होगा और उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।"

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्नो पर अग्रलिखित शीर्षकों में चर्चा की जाएगी—

(1) **न्यायाधीशों की योग्यता (Qualifications of Judges)**—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए न्यायाधीशों की योग्यता महत्वपूर्ण तथ्य है। न्यायाधीश योग्य, प्रशिक्षित तथा अनुभवी होने चाहिए। न्यायाधीशों में कानून का गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। उन्हें निष्पक्ष, ईमानदार तथा बाह्य प्रभाव से मुक्त होना चाहिए। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए यह योग्यता रखी गई है कि वे कम-से-कम दस वर्ष तक उच्च न्यायालय के वकील अथवा पांच वर्ष तक वहां न्यायाधीश के पद पर कार्य कर चुके हों।

(2) **न्यायाधीशों का वेतन (Salary of Judges)**—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीशों को समुचित वेतन-भत्ता मिले जिससे वे निश्चिन्त होकर अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। यही नहीं, एक बार उनके वेतन-भत्ते के नियत हो जाने पर फिर किसी दशा में उसमें कमी नहीं की जानी चाहिए। उन्हें प्राप्त अन्य सुविधाओं में भी कोई कमी नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही वे निश्चिन्त, निष्पक्ष और निर्भीक होकर अपने उत्तरदायित्वों को निभा सकते हैं। उनके वेतन, भत्ते आदि पर्याप्त एवं यथेष्ट होने चाहिए ताकि योग्य व्यक्ति इन पदों की ओर आकर्षित हो सके।

(3) **न्यायाधीशों का कार्यकाल (Term of Judges)**—न्यायाधीशों का कार्यकाल निश्चित होना चाहिए। निश्चित कार्यकाल से उन्हें वैधानिक संरक्षण प्राप्त हो जाता है। पदावधि छोटी होने से कोई भी न्यायाधीश अपने पद का दुरुपयोग कर नाजायज लाभ उठा सकते हैं। उनका कार्यकाल लम्बा होना चाहिए। न्यायाधीशों का कार्यकाल स्थायी अथवा जीवनपर्यन्त भी हो सकता है। अवकाश ग्रहण करने की आयुपर्यन्त वे अपने पद पर रह सकते हैं। केवल शारीरिक या मानसिक दुर्बलता या गम्भीर अपराधों के कारण ही उन्हें अपने पद से हटाया जा सकता है।

(4) **न्यायाधीशों की बर्खास्तगी (Removal of Judges)**—न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया सरल नहीं होनी चाहिए। उनकी बर्खास्तगी किसी व्यक्ति की इच्छानुसार मनमाने ढंग से नहीं होनी चाहिए। न्यायाधीशों को अपदस्थ करने की कठोर व्यवस्था होनी चाहिए जिससे इसका दुरुपयोग न किया जा सके। न्यायाधीशों को उस समय तक अपने पद पर बनाए रखना चाहिए जब तक उनमें कुशलता के साथ कार्य-सम्पादन की क्षमता हो।

(5) **विधायिका तथा कार्यपालिका से स्वतन्त्र होना (Independence from Legislature and Executive)**—न्यायाधीशों को विधायिका तथा कार्यपालिका से स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए। यदि कार्यपालिका उनके कार्यों में हस्तक्षेप करेगी तो नागरिक स्वतन्त्रता प्रभावित होगी। न्यायाधीशों को राजनीतिक दलों से दूर रहना चाहिए ताकि उनके विचार तटस्थ रह सकें। यदि न्यायाधीश किसी भी अंश तक कार्यपालिका के अधीन या दबाव में होगा तो वह अपनी निर्भीकता एवं निष्पक्षता की रक्षा नहीं कर सकेगा।

न्यायाधीशों का चयन
(SELECTION OF JUDGES)

आजकल न्यायाधीशों की नियुक्ति के तीन तरीके प्रचलित हैं—

(1) **कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति**—भारत और अमरीका में न्यायाधीशों की नियुक्ति मुख्य कार्यपालक द्वारा एक निश्चित समय के लिए की जाती है। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के

न्यायाधीशों को नियुक्त करता है, किन्तु उन्हें हटा नहीं सकता। ऐसी नियुक्ति का ध्येय न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाए रखना है, लेकिन राष्ट्रपति की व्यक्तिगत पसन्द में दलीय भावना आदि के प्रभाव की सम्भावना होती है।

(2) विधायिका द्वारा निर्वाचन—कतिपय देशों में विधायिका के सदस्यों द्वारा भी न्यायाधीशों का निर्वाचन किया जाता है। स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधीशों का निर्वाचन विधायिका द्वारा ही होता है। इस प्रणाली में अनेक दोष हैं—(1) विधायिका द्वारा न्यायाधीशों का निर्वाचन शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल है। (2) इससे दलगत राजनीति को बढ़ावा मिलेगा। (3) दलीय आधार पर चुने गए न्यायाधीशों से निष्पक्ष न्याय की आशा करना व्यर्थ होगा।

(3) जनता द्वारा निर्वाचन—न्यायाधीशों को जनता द्वारा भी चुना जाता है। स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों और अमरीका के कुछ राज्यों में यह व्यवस्था आज भी विद्यमान है। इस प्रणाली के समर्थन में यह तर्क दिए जाते हैं कि यह जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है तथा यह व्यवस्था शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के भी अनुकूल है। जनता द्वारा निर्वाचित होने पर न्यायाधीश विधायिका के दबाव से पूरी तरह मुक्त होकर कार्य कर सकते हैं। **प्रो. लॉस्की** का कथन है, "नियुक्ति के जितने भी तरीके हैं, उनमें जनता के निर्वाचन द्वारा नियुक्ति सबसे बुरी है।"[1] गार्नर के अनुसार, "यह तरीका न्यायाधीशों को राजनीतिज्ञ बना देगा।" जनता द्वारा चुने गए न्यायाधीश कभी भी, निष्पक्ष, ईमानदार और सम्मानित नहीं हो सकते। जब वे दलीय आधार पर चुने जाएंगे तो उनके निर्णय भी पक्षपातपूर्ण होंगे।

संक्षेप में, नियुक्ति के विभिन्न तरीकों में कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था श्रेष्ठ है, लेकिन एक बार नियुक्त करने के बाद कार्यपालिका को न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए।

न्यायपालिका का संगठन
(ORGANIZATION OF JUDICIARY)

न्यायिक व्यवस्था के संगठन का सभी देशों में एक-सा ढांचा नहीं पाया जाता। एकात्मक और संघात्मक राज्यों में पाई जाने वाली न्यायिक व्यवस्था के ढांचे में अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार साम्यवादी और अधिनायकवादी व्यवस्था के न्यायिक ढांचे में भी अन्तर देखने को मिलता है। फिर भी, प्रायः सभी देशों की न्यायिक व्यवस्था के संगठन में मोटे रूप से निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं—

(1) पिरामिड की भांति संरचना—प्रायः सभी देशों में न्यायपालिका का संगठन पिरामिड की तरह होता है। सभी देशों में न्यायपालिका का संगठन एक ऐसी श्रृंखला के रूप में होता है जिसमें निम्न स्तर के न्यायालयों के ऊपर उच्च स्तरीय न्यायालय होते हैं और सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता है। न्यायिक संरचना में ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों न्यायालयों की संख्या घटती जाती है और अन्त में शीर्ष के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता है।

(2) सर्वोच्च न्यायालय में पीठ-व्यवस्था—प्रायः सभी देशों में सर्वोच्च न्यायालयों में बेंच व्यवस्था का प्रावधान रहता है। बेंच व्यवस्था में हर न्यायाधीश को जांच करने, बोलने व निर्णय देने की स्वतन्त्रता है। हर न्यायाधीश विचाराधीन मुकदमे पर अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखते हुए निर्णय करता है। हर मुकदमे की सुनवाई में सर्वोच्च न्यायालय पीठ (बेंच) के रूप में

1 Laski: *A Grammar of Politics*, p. 545.

कार्य करता है। पीठ में न्यायाधीशों की संख्या मुदकमे के महत्व पर निर्भर करती है। हैमिल्टन के अनुसार, "उचित विचार-विमर्श की पक्की व्यवस्था करने के लिए मुकदमे न्यायाधीशों की बेंच के निर्णय हेतु रखे जाते हैं।"

(3) सामान्य और प्रशासनिक न्यायालयों की व्यवस्था—कतिपय देशों में दो प्रकार के न्यायालय पाए जाते है—सामान्य और प्रशासनिक न्यायालय। इन देशों में यह माना जाता है कि व्यक्ति की नागरिक के रूप में और प्रशासनिक अधिकारी के रूप में अलग-अलग भूमिका होती है इसलिए सामान्य नागरिक के मुकदमों की सुनवाई हेतु सामान्य न्यायालय तथा प्रशासनिक अधिकारियों के मुकदमों की सुनवाई हेतु प्रशासनिक न्यायालय होने चाहिए। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी में इसी प्रकार की न्याय-व्यवस्था है।

(4) विशेषीकृत न्यायालय—कुछ देशों में न्यायालयों का संगठन विशेषीकरण के आधार पर होता है। इन देशो में दीवानी, फौजदारी, प्रशासनिक और संवैधानिक मामलों के अलग-अलग विशेषीकृत न्यायालय होते हैं। पश्चिमी जर्मनी में दीवानी, फौजदारी, प्रशासनिक और संवैधानिक मामलों में अलग-अलग न्यायालय है। विशेषीकृत न्यायालय व्यवस्था का स्वेच्छाचारी शासनों में अधिक प्रयोग होता है। इन देशों में सैनिक अदालतों का गठन किया जाता है।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण
(JUDICIAL REVIEW)

(A) न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ—न्यायालय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार है। न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ है न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना। डिमॉक के अनुसार, न्यायिक पुनर्निरीक्षण, व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून और कार्यपालिका या प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा किए गए कार्यों से सम्बन्धित अपने सामने आए मुकदमों में, न्यायालय द्वारा उस जांच को कहते है, जिसके अन्तर्गत वे निर्धारित करते हैं कि कानून का कार्य संविधान द्वारा प्रतिबन्धित है या नहीं।"[1] **कॉरविन** के शब्दों में, "न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हें अपने न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध में तथा कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध में प्राप्त है, जिन्हें वे अवैध और इसलिए व्यर्थ समझें।" अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के चीफ जस्टिस मार्शल ने सन् 1803 ई. में **मार्बरी बनाम मेडीसन**' के मामले में निर्णय देते हुए न्यायिक पुनर्निरीक्षण की परिभाषा इस प्रकार दी थी, "न्यायिक पुनर्निरीक्षण न्यायालयों द्वारा अपने समक्ष पेश विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक कार्यों का यह निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है कि क्या ये एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किए गए हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्तियो से बढ़कर कार्य किया है या नहीं।"

(B) अमरीका में न्यायिक पुनर्निरीक्षण का आधार—अमरीका के संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को स्पष्ट रूप से न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति प्राप्त नहीं है। इसकी स्पष्ट रूप से

1 "Judicial Review is the examination by the Courts in cases actually before them, of legislative statutes and executive or administrative acts to determine whether or not they are prohibited by a written constitution or are in excess of powers granted by it." —*Dimock*

घोषणा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने सन् 1803 में एक विवाद 'मार्वरी मेडीसन' के निर्णय में की।

यह विवाद इस तरह उत्पन्न हुआ कि 3 मार्च, 1801 की रात्रि को राष्ट्रपति एडम्स ने मार्वरी को कोलम्बिया जिले का 'शान्ति न्यायाधीश' नियुक्त कर दिया, परन्तु इस आदेश के जारी करने के पश्चात् राष्ट्रपति एडम्स की अवधि समाप्त हो गयी। उस समय तक वह आदेश मार्वरी के पास नहीं पहुंचा था। नए राष्ट्रपति जेफरसन ने तुरन्त पद संभाला और मेडीसन को अपना राज्य सचिव नियुक्त कर दिया। मेडीसन मार्वरी की नियुक्ति के विरुद्ध था, इसलिए उसने राष्ट्रपति एडम्स के आदेश को मार्वरी तक पहुंचाने से रोक दिया। मार्वरी ने मेडीसन के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अभियोग चलाया। मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने मेडीसन के कार्य को अवैध ठहराया तथा अपने निर्णय में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए—

(1) यह निश्चित रूप से न्याय विभाग का कर्तव्य और अधिकार है कि वही यह बता सकता है कि कानून क्या है? जो लोग किसी विशेष नियम को किसी मामले पर लागू करते है वे ही उक्त नियम की व्याख्या करते हैं और वे ही उक्त नियम का निर्वचन करते हैं।

(2) यदि दो कानून एक-दूसरे के विरुद्ध होंगे तो न्यायालय ही निश्चित करेंगे कि दोनों कानून किस सीमा तक लागू हो सकते हैं।

(3) उसी प्रकार यदि कोई कानून संविधान के विरुद्ध होगा और यदि किसी मामले में उक्त कानून और संवैधानिक कानून दोनों ही लागू होगे तो न्यायालय को देखना होगा कि वह उक्त मामले या विवाद पर संविधान की किस मान्यता के आधार पर निर्णय दे।

(4) यदि न्यायालय संवैधानिक कानून को सर्वोच्च कानून मानता है और यदि संविधान साधारण विधानमण्डलों से श्रेष्ठतर और उच्चतर है तो ऐसे किसी मामले पर, जिसमें संविधान भी और साधारण कानून भी लागू होता है, संविधान को ही प्रधानता प्रदान की जाएगी और उसके सामने सामान्य कानून असंवैधानिक घोषित हो जाएगा।

निर्णय के परिणाम—'मार्वरी बनाम मेडीसन' विवाद में दिए गए निर्णय से अनेक महत्वपूर्ण परिणाम निकले, जो इस प्रकार हैं—

(i) संविधान की सर्वोच्चता—फरगूसन एवं मैकहैनरी के अनुसार, "यद्यपि निर्णय की आलोचना की जाती है तो भी न्यायिक पुनर्निरीक्षण का सिद्धान्त अमरीकी शासन-प्रणाली का एक मजबूत भाग बन गया है।" अब अमरीका मे संविधान ही सर्वोच्च कानून है। संविधान की व्यवस्था के प्रतिकूल बनाया गया कोई कानून वैध नही है। यदि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कोई कानून संविधान के प्रतिकूल है तो सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह उस कानून को अवैध घोषित कर दे।

(ii) संविधान की सुरक्षा—सर्वोच्च न्यायालय की इस अद्वितीय शक्ति के कारण ह्यूजेस ने कहा था कि हम संविधान के अधीन रह रहे हैं, किन्तु संविधान वही है जिसे न्यायाधीश बताते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति के द्वारा संविधान की रक्षा की है। राज्यों के अनेक कानूनों को, जो कि संघीय संविधान के विरुद्ध थे, अवैध घोषित करके इसने संघीय संविधान तथा कानूनों की रक्षा की है।

(iii) न्यायालय तीसरा सदन—न्यायिक परीक्षण की शक्ति के कारण न्यायालय तीसरा सदन बन गया है। लास्की ने लिखा है कि न्यायिक निरीक्षण की शक्ति के कारण सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस का तीसरा सदन बन गया है। ब्रोगन का भी मत है कि न्यायिक निरीक्षण का प्रभाव यह है कि अमरीका का न्यायालय तीसरा सदन बन गया है।

(iv) नियन्त्रण व सन्तुलन—न्यायिक निरीक्षण का एक परिणाम यह भी हुआ है कि उसके द्वारा नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त क्रियान्वित हो गया है। मुनरो का कथन है कि, "यदि अमरीका में न्यायिक समीक्षा का प्रचलन न होता तो अमरीका की शासन-व्यवस्था में पचास प्रतिद्वन्द्वी राज्यों के परस्पर विरोधी हितों के कारण भारी अराजकता उत्पन्न हो जाती।"

(v) संघात्मकता की रक्षा—यह न्यायिक निरीक्षण का परिणाम है कि अमरीकी संघ अब तक सुरक्षित रहा है। न्यायमूर्ति होम्स ने भी इस बात पर बल दिया है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। उनके अनुसार "मेरा निश्चित मत है कि यदि सर्वोच्च न्यायालय राज्यों द्वारा बनाए गए कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर सकने के अधिकार से वंचित हो जाएगा तो हमारा संघ अवश्य खतरे में पड़ जाएगा।" सर्वोच्च न्यायालय ने सदैव राज्यों के ऊपर अंकुश रखा है और उनको अपने अधिकार-क्षेत्र में रोके रखा है।

(vi) मतभेदों का निवारण—इसी शक्ति के कारण सर्वोच्च न्यायालय ने शासन के दो अन्य मुख्य विभागों—कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच के सभी झगड़ों को ठीक-ठीक निपटाया है और दोनों को अपने-अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करने से रोका है। इस आधार पर कहा जाता है कि सर्वोच्च न्यायालय अमरीकी शासन-व्यवस्था का सन्तुलन चक्र है। फाइनर के शब्दों में, "सर्वोच्च न्यायालय वह सीमेण्ट है जिसने समस्त संघीय ढांचे या महल को मजबूती से जमाए रखा है।"

(vii) न्यायिक सर्वोपरिता—सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक निरीक्षण की शक्ति द्वारा संविधान को परिवर्तित किया है तथा समय के अनुसार उसको नयी दिशा भी प्रदान की है। इस शक्ति द्वारा ही सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य के विधानमण्डलों द्वारा निर्मित 300 कानूनों और संघीय कांग्रेस द्वारा निर्मित 480 कानूनों को अवैध घोषित किया है। इसी तरह चौदहवें संशोधन के अन्तर्गत 'कानून की उचित प्रक्रिया' उपबन्ध की व्याख्या इसने इस तरह की कि प्रो. कॉरविन के शब्दों में, "राज्य के कानून को निषिद्ध करने की इसे स्वविवेक शक्ति मिल गयी।"

(viii) राज्य की अपेक्षा संघ की शक्ति सुदृढ़ होना—इस शक्ति का अन्य संवैधानिक प्रभाव यह हुआ कि राज्य की तुलना में संघ की स्थिति दृढ़ हो गयी। 'मैकूलोक बनाम मेरीलैण्ड' (1819) में सर्वोच्च न्यायालय ने कांग्रेस को राज्य विधान के विरुद्ध बैंक की स्थापना करने का अधिकार प्रदान किया, यद्यपि संविधान में कांग्रेस को ऐसा कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है। 'ब्राउन बनाम मेरीलैण्ड' (1827) के निर्णय द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने वैदेशिक व्यापार को संचालित करने का अधिकार संघीय सरकार को दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रकार व्यापार, वाणिज्य और वित्त के क्षेत्र में संघीय सरकार के हाथ को बहुत मजबूत बना दिया।

(ix) रूढ़िवादिता को प्रश्रय—सर्वोच्च न्यायालय ने कई सामाजिक तथा आर्थिक विधियों को रद्द किया है। 'हैमर बनाम डेजनहर्ट' (1918) विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कांग्रेस के

उस कानून को अवैध घोपित किया जिसके द्वारा उसने वच्चों के श्रम से उत्पादित वस्तुओं को वाणिज्य से निष्कासित करने की चेष्टा की। सन् 1922 में *'बेली बनाम फर्नीचर कम्पनी'* के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने वच्चों के श्रम को उन्मूलित करने के कांग्रेस के प्रयास को विफल किया। सन् 1933-36 में तेरह कानूनों को अवैध घोषित कर सामजिक-आर्थिक विधायन विफल करने की प्रवृत्ति चोटी पर पहुंच गयी। फलस्वरूप न्यायालय के इस अधिकार के विरुद्ध आन्दोलन उठ खडा हुआ। इसके वाद न्यायालय के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और उसने उदार मार्ग अपनाना शुरू किया।

(C) न्यायिक पुनर्निरीक्षण की प्रक्रिया—सर्वोच्च न्यायालय अपने-आप ही किसी कानून की वैधता की जांच नही करता। जव उसके पास कोई ऐसा मामला आता है जिसमें संघ या राज्य के किसी कानून को चुनौती दी जाती है तो न्यायालय को अपना निर्णय देना पड़ता है।

(D) न्यायिक पुनर्निरीक्षण का क्षेत्र—न्यायिक निरीक्षण का क्षेत्र वड़ा व्यापक है। न केवल कांग्रेस के वनाए कानून अपितु अमरीका के राज्यों के संविधान, उनके द्वारा बनाए गए कानून, सन्धियां जो संघ सरकार द्वारा दूसरे देशों से की जाएं तथा संघ और राज्यों की कार्यपालिकाओं द्वारा जारी किए गए आदेश शामिल हैं।

(E) न्यायिक पुनर्निरीक्षण की आलोचना—अनेक विद्वानों ने न्यायिक पुनर्निरीक्षण के अधिकार की आलेचना की है। आलोचकों के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

1. लोकमत और प्रजातन्त्र की उपेक्षा—कांग्रेस देश की प्रतिनिधि संस्था है। कांग्रेस राष्ट्र तथा लोकमत का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। अतः कांग्रेस द्वारा बनाए हुए कानूनों को अवैध घोपित करके सर्वोच्च न्यायालय लोकमत और लोकभावना की उपेक्षा करता है।

2. शक्ति-पृथक्करण की भावना के प्रतिकूल—अमरीकी शासन-प्रणाली की मौलिक विशेषता शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार के तीनों अंग एक-दूसरे से पृथक् है। न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति के कारण सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति कांग्रेस और कार्यपालिका से सर्वोच्च हो जाती है, जिससे शक्ति-पृथक्करण की भावना का अन्त हो जाता है।

3. राजनीतिक निर्णय—सर्वोच्च न्यायालय की नीति और निर्णयों में एकरूपता का अभाव रहा है। अनेक अवसरों पर न्यायालय के निर्णय विशुद्ध वैधता पर आधारित न होकर न्यायाधीशों की अपनी मान्यताओं और उनके अपने राजनीतिक और सामाजिक विचारों पर आधारित रहे है। न्यायाधीशों के निर्णय राजनीतिक पुट लिए हुए होते हैं। **गेल्स** के अनुसार, ''न्यायाधीशों के विचार उसी प्रकार परिवर्तनशील है जिस प्रकार कि नकली सिल्क के रंग परिवर्तनशील होते है और वे राजनीतिक धूप के कारण शीघ्र बदल जाते है।''

4. पुनर्निरीक्षण का संवैधानिक आधार नहीं—अमरीकी संविधान में कहीं पर भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख नही है कि सर्वोच्च न्यायालय को पुनर्निरीक्षण का अधिकार दिया गया है।

5. प्रगतिशीलता में बाधक—सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति का प्रयोग करके अनेक प्रगतिशील कानूनों के निर्माण में गम्भीर बाधा उपस्थित की है। 'राष्ट्रीय पुनरुद्धार ऐक्ट', 'कृषि आयोजन ऐक्ट' जैसी प्रगतिशील विधियों को रद्द करके न्यायालय ने अपने को सम्पत्तिशाली वर्ग का संरक्षक ही घोपित कर दिया।

6. **कांग्रेस का तीसरा सदन**—इस शक्ति द्वारा न्यायालय ने कांग्रेस के तीसरे सदन का रूप ग्रहण कर लिया है। लोकतन्त्र में न्यायालय की ऐसी स्थिति अनुचित है क्योंकि कानून निर्माण की शक्ति तो जन-प्रतिनिधियों को ही प्राप्त होती है जबकि सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस द्वारा पारित अधिनियमों को अवैध घोषित कर एक उच्च विधानमण्डल की स्थिति प्राप्त कर रहा है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था कि, "न्यायिक पुनर्निरीक्षण की आड़ में सर्वोच्च न्यायालय को यदि तृतीय व्यवस्थापिका सदन बना रहने दिया गया तो इससे देश की प्रगति रुक जाएगी और लोक-कल्याणकारी कार्यों का प्रतिपादन नहीं हो सकता।"

(F) **न्यायिक पुनर्निरीक्षण का महत्व**—सामान्य अमरीकी दृष्टिकोण न्यायिक पुनर्निरीक्षण का प्रशंसक है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने इसका खूब खुलकर प्रयोग किया है। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर न्यायिक पुनर्निरीक्षण का समर्थन किया जा सकता है—

1. **संविधान की पवित्रता की रक्षा**—न्यायिक पुनर्निरीक्षण संविधान की पवित्रता की रक्षा का एक अमोघ अस्त्र है। संविधान की रक्षा करते हुए उसने लोकतन्त्र के आदेश तथा प्रशासन की मनमानी से भी देश की रक्षा की है।

2. **संघ प्रणाली की रक्षा**—संघात्मक शासन-व्यवस्था में जहां केन्द्र और राज्यों के बीच अनेक संवैधानिक विवाद उत्पन्न हो सकते है, वहां यह उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है कि सर्वोच्च न्यायालय के पास न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति हो।

3. **कानून की वैधता पर विचार**—कांग्रेस की अपेक्षा न्यायालय कानूनों की वैधता पर समुचित विचार कर सकता है। न्यायाधीश कानून के विशेषज्ञ होते हैं और फिर न्यायालय तटस्थ भाव से कानून की वैधता पर विचार करने की सामर्थ्य रखता है।

4. **राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में निर्णय**—न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने राज्यों की प्रांतीयता की संकुचित प्रवृत्ति को रोकने का भी कार्य किया है और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहित किया है।

5. **नागरिक अधिकारों की रक्षा**—इस शक्ति द्वारा न्यायालय ने नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा का कार्य किया है।

6. **राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर**—आमतौर से सर्वोच्च न्यायालय राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर होता है। वह राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर रहकर संविधान की रक्षा करता है।

भारत में न्यायिक पुनर्निरीक्षण
(JUDICIAL REVIEW IN INDIA)

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्निरीक्षण के सिद्धान्त का उल्लेख संविधान के उपबन्धों में कहीं नही मिलता है। फिर भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त के आधारभूत तत्वों की मौजूदा स्थिति के कारण इस सिद्धान्त का स्वतः विकास हुआ है। साधारणतया न्यायिक निरीक्षण की तीन अपरिहार्य शर्तें हैं (1) लिखित तथा कठोर संविधान, (2) केन्द्र एवं राज्यों के मध्य शक्ति-विभाजन, (3) मौलिक अधिकारो की व्यवस्था। भारतीय शासन विधान इन सभी शर्तों को पूरा करता है, अतः स्पष्ट संवैधानिक उपबन्धों के अभाव में भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त का चलन हुआ और अनेक निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने इसका प्रयोग किया है और कार्यपालिका तथा संसद के उन कार्यों या विधियों को असंवैधानिक घोषित किया जो संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध थे।

भारतीय संविधान के अनेक प्रावधानों में न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का सुदृ आधार उपलब्ध है जिससे परोक्ष रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संविधान-निर्मा सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे अधिकार सौंपने के इच्छुक रहे हैं।

सर्वप्रथम, अनुच्छेद 13 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी कानून द्वारा राज्य मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उस कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा अपने मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है; इस प्रका सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिए कार्यपालिका और संसद के द्वा निर्मित कानूनों का पुनर्विलोकन कर सकता है।

द्वितीय, संविधान के अनुच्छेद 246 के अन्तर्गत संघ और राज्यों की विधायी सीमा व

उल्ले

है जि

यदि

होगा

यह प्रावधान किया गया है कि समवर्ती-सूची के किसी विषय पर यदि किसी राज्य विधानम द्वारा निर्मित कानून संघ संसद द्वारा निर्मित किसी कानून से संघर्ष में है तो राज्य का कान अवैध माना जाएगा।

तृ

केन्द्रीय

निश्चित

तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।

चतुर्थ, संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार ऐसे मामलों में जहां संविधान की व्याख का प्रश्न निहित है, सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

अतः यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय को संवैधानिक मामलों पर निर्णय देने अन्तिम अधिकार है।

न्यायमूर्ति मुखर्जी के अनुसार भारत में संसदीय सम्प्रभुता के बजाय संवैधानिक सर्वोच्च के सिद्धान्त को मान्यता दी गई। इस दृष्टि से भारत का संविधान अंग्रेजी संविधान के बज अमरीकी संविधान से मिलता-जुलता है। शासन के समस्त उपकरण संविधान के अधीन हैं । न्यायालय को उनके कार्यों की वैधता की जांच करने की शक्ति प्राप्त है। डी. डी. बसु अनुसार, "यह अधिकार सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से हमारे संविधान का आधारभूत सिद्धान्त यह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोपालन के प्रकरण में स्वीकृत किया गया है।"

भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले कई वर्षों में कई अभियोगों के सिलसिले में ऐसे फैसले दिए हैं, जिनमें न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। गोपा बनाम मद्रास राज्य के मुकदमे में 'निवारक निरोध अधिनियम' के 14वें खण्ड को असंवैधा घोषित किया गया। 'स्वर्ण नियन्त्रण अधिनियम' के कतिपय अंशों को सर्वोच्च न्यायाल संविधान के प्रतिकूल घोषित किया है। 'इब्राहीम वजीर बनाम बम्बई राज्य' के मुकदमे में सर्व न्यायालय ने पाकिस्तानी शरणार्थियों के आगमन पर नियन्त्रण लगाने के लिए 1949 में

कानून बनाया गया था उसके खण्ड 7 को इसलिए अवैध घोषित कर दिया क्योंकि यह भारत के किसी भी भाग में निवास के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाता था। 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व-निर्णयों को बदल डाला तथा मूल अधिकारों को अक्षुण्ण घोषित किया। 'बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम' को सर्वोच्च न्यायालय ने इसलिए अवैध घोषित कर दिया कि उसमें निहित क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त अप्रासंगिक हैं। राजाओं की शाही थैली तथा विशेषाधिकारों की राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा समाप्ति को भी सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध करार दिया। अप्रैल 1973 में शासन की अखबारी कागज सम्बन्धी नीति के सिलसिले में समाचारपत्रों के लिए दस पृष्ठों की सीमा बांधने की नीति को न्यायालय ने अवैध घोषित किया। इससे पूर्व 'बम्बई पुलिस कानून' को सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध घोषित किया। इस प्रकार केशवानन्द भारती की याचिका पर विचार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 23 अप्रैल 1973 को 25वें संविधान संशोधन की धारा 3 का दूसरा खण्ड अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 31 (स) को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी विचार प्रकट किया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है, परन्तु यदि किसी संशोधन से संविधान का बुनियादी ढांचा प्रभावित होता है तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे संशोधन को असंवैधानिक घोषित कर सकता है। इस प्रकार भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का स्पष्ट चलन हो गया है।

प्रो. एम. वी. पायली का मत है, "जहां तक न्यायिक पुनर्विलोकन का सम्बन्ध है, भारत की स्थिति दो प्रकार की 'अतियों' (extermes) के मध्य की है ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है और अमरीकी शासन-व्यवस्था में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रचलन हुआ है। दूसरी तरफ भारतीय शासन-व्यवस्था संसदीय सर्वोच्चता और न्यायिक सर्वोच्चता के बीच के उस मध्यम मार्ग का प्रदर्शन करती है जिसे भारतीय संविधान ने अपनाया है।

इस प्रकार भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का सिद्धान्त हमारे संविधान की अद्भुत विकास क्षमता का ही परिणाम है। हमारी राजनीतिक व्यवस्था में न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति दिन-प्रतिदिन स्पष्ट (explicit) होती जा रही है। संसदीय विधियों का मूल्यांकन करने में हमारे न्यायाधीशों ने अपूर्व नैतिक साहस और तटस्थता का परिचय दिया है। संक्षेप में, भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएं उभरकर सामने आती हैं।

(1) भारत में संविधान सर्वोच्च है न कि न्यायालय।

(2) भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग काफी सोच-समझकर किया है।

(3) न्यायालय ने विधायी अधिनियमों की उदार व्याख्या प्रस्तुत करके विधानांग तथा न्यायांग के मध्य संघर्ष (Conflict) को टालने की कोशिश की है।

(4) न्यायालय के निर्णयों को शासन ने सदैव कार्यान्वित किया है, चाहे वे उसकी घोषित नीतियों के प्रतिकूल भी रहे हों।

(5) न्यायिक पुनर्विलोकन का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय संविधान में बहुत अधिक संशोधन करने पड़े है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन अधिकार के निम्नलिखित कारण हैं—

प्रथम, भारत का संविधान विस्तृत लेख है और उसमें संघ तथा राज्य के मध्य शक्ति-विभाजन का तीन सूचियों द्वारा विस्तार से विवेचन किया गया है।

द्वितीय, संविधान के स्वरूप का अन्तिम रूप से निर्धारण संसद और राज्य विधानमण्डलों के हाथ में है। संविधान में आवश्यक संशोधन करके सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को बदला जा सकता है।

तृतीय, भारत में सर्वोच्च न्यायालय प्राकृतिक विधि की कसौटी को उपयोग में लाने के लिए स्वतन्त्र नहीं है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन अधिकार की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि हमारी संसद देश की प्रतिनिधि संस्था है जो लोकमत का सच्चा दर्पण कही जा सकती है। संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित करके सर्वोच्च न्यायालय लोकमत और लोकतन्त्र की ही यथार्थ में उपेक्षा करता है। इस आलोचनाओं में सार अवश्य है, किन्तु लोकतन्त्र का यह भी तकाजा है कि निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता पर समुचित विचार और समीक्षा करे अन्यथा लोकतन्त्र की परम्परावादी मान्यताएं विखण्डित हो जाएंगी। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू का मत था कि "कोई भी सर्वोच्च न्यायालय या न्यायपालिका संसद की सार्वभौम इच्छा जो कि जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक है, के रास्ते में रुकावट नहीं बन सकती। यह स्पष्ट है कि कोई भी अदालत या न्याय-प्रणाली एक तीसरे सदन के रूप में जो कि संसद के दोनों सदनों के ऊपर पुनर्विचार का अधिकार रखता है, कार्य नहीं कर सकती।"

निष्कर्षतः भारत में न्यायालय ने संविधान को सर्वोच्च माना है तथा विशाल पैमाने पर निरीक्षण नहीं किया है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनर्विलोकन के अस्त्र से पूर्णतया सुसज्जित है और उसने इसका प्रभावकारी प्रयोग किया है।

प्रश्न

1. न्यायिक पुनरावलोकन के अर्थ तथा प्रक्रिया की विवेचना कीजिए। भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन की क्या व्यवस्था है? समझाइए। **(राजस्थान, 1997)**
2. न्यायिक पुनरावलोकन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। **(राजस्थान, 1996, 98)**
3. न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति के विशिष्ट सन्दर्भ में न्यायपालिका के कार्यों एवं भूमिका की विवेचना कीजिए। **(राजस्थान, 1995)**
4. न्यायपालिका के कार्य बताइए। प्रजातन्त्र में स्वतन्त्र न्यायपालिका के महत्व को समझाइए। **(अजमेर, 1997, 98)**
5. न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं एवं उसकी पूर्व शर्तें बताइए। **(अजमेर, 1996)**

8

लोकतन्त्र एवं प्रशासन : लोकतान्त्रिक प्रशासन के लक्षण

[DEMOCRACY AND ADMINISTRATION : FEATURES OF DEMOCRATIC ADMINISTRATION]

लोकतन्त्रों का प्रारम्भिक स्वरूप वैसा नहीं था जैसा कि आजकल है। प्लेटो के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक लोकतन्त्र शब्द घृणित व निन्दनीय ही रहा है। प्लेटो और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिक लोकतन्त्र को शासन का विकृत रूप मानते थे। लोकतान्त्रिक सरकारों को अपने आधुनिक स्वरूप तक पहुंचने मे बहुत समय लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लोकतन्त्र शासन को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। आज तो लोकतन्त्र शासन का श्रेष्ठतम रूप बन गया है। लोकतन्त्र से अभिप्राय अनिवार्यतः उस सरकार से है जिसमें शासितों को शासन सम्बन्धी निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त रहती है। लोकतन्त्र का सार जनता की सहभागिता एवं नियन्त्रण में निहित है।

लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (The Meaning and Definitions of Democracy)

लोकतन्त्र के अर्थ पर सर्वाधिक मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इसे आडम्बरमय व्यवस्था कहा है तो अन्य कतिपय विद्वानों ने इसे शासन-व्यवस्था का श्रेष्ठतम रूप बतलाया है। **सारटोरी** ने लिखा है, "लोकतन्त्र ऐसी वस्तु के आडम्बरमय नाम के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।" लॉवेल के अनुसार लोकतन्त्र शासन के क्षेत्र में केवल एक 'एक प्रयोग है। **अब्राहम लिंकन** इसकी परिभाषा 'जनता के लिए, जनता द्वारा, जनता का शासन' कहकर करते है। **सीले** कहते हैं कि लोकतन्त्र 'वह शासन है जिसमें हर व्यक्ति भाग लेता है।' **डायसी** लोकतन्त्र को सरकार का ऐसा स्वरूप बताते है 'जिसमें जनता का एक बड़ा भाग शासन करता है।' **हर्नशॉ** के अनुसार, "लोकतन्त्र वह राज्य है जिसमें प्रभुत्व शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन-सूत्र स्थापित किया जाए। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की

ही एक विधि नही है अपितु वह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण रखने तथा उसे अपदस्थ करने की विधि भी है।"

ऊपर लोकतन्त्र को शासन एवं राज्य के प्रकार के रूप में दर्शाया गया है। लोकतन्त्र एक सामाजिक व्यवस्था भी है। समाज के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र से उस समय का ज्ञान होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य व्यक्ति के रूप में होता है और जाति, रंग, धर्म, सम्पत्ति के भेद के बिना सभी व्यक्ति समान समझे जाते हैं। **डॉ. बेनीप्रसाद** के शब्दों में, "लोकतन्त्र जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व उतना ही है जितना अन्य किसी के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नही समझा जा सकता।" लोकतन्त्र को आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में भी देखा जाता है। आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र का तात्पर्य आर्थिक समानता की स्थापना से है। लोकतन्त्र राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का एक प्रकार ही नहीं है; वरन् यह तो जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण भी है। लोकतन्त्र में सभी व्यक्तियों द्वारा दूसरे के प्रति वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा व्यवहार वह अपने प्रति पसन्द करता है। **गिडिंग्स** के मत में, "लोकतन्त्र केवल सरकार का ही रूप नही है वरन् राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है।" **मैक्सी** ने लोकतन्त्र का व्यापक अर्थ करते हुए लिखा है—"बीसवी सदी में लोकतन्त्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढांचे से नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यो की स्वतन्त्र और ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमे अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके।"

संक्षेप में, लोकतन्त्र—(अ) एक विशेष प्रकार का शासन है; (आ) एक सामाजिक व्यवस्था है; (इ) एक विशेष प्रकार का आर्थिक तन्त्र है; (ई) एक जीवन-पद्धति या जीने का ढंग है; (उ) एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति; तथा (ऊ) एक नैतिक अथवा आध्यात्मिक आदर्श है।

अवधारणा (Concept) के रूप मे लोकतन्त्र के तीन अन्तःसम्बन्धित अर्थ किए जाते हैं—(1) यह निर्णय करने की विधि है। (2) यह निर्णय लेने के सिद्धान्तों का समूह है। (3) यह आदर्शात्मक मूल्यों का समूह है।

(1) निर्णय करने की विधि के रूप में लोकतन्त्र—लोकतन्त्र निर्णय करने की प्रक्रिया है। लोकतान्त्रिक ढंग से लिया गया निर्णय सम्पूर्ण समाज के द्वारा लिया गया निर्णय ही कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में अरस्तू ने कहा था कि, "निर्णय लेने के लोकतान्त्रिक ढंग में पदाधिकारियों का चुनाव सबमे से, सबके द्वारा तथा सबका हर एक पर और प्रत्येक का सब पर शासन होता है।" अर्थात् वे ही निर्णय शासन प्रणाली में लोकतान्त्रिक ढंग से लिए हुए कहे जाते हैं जिनमें—(अ) विचार-विनिमय, (आ) जन-सहभागिता, (इ) बहुमतता (ई) संवैधानिकता, (उ) अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण, आदि तत्व होते हैं। निर्णय-प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए संविधान में कई प्रावधान होने चाहिए, जैसे—(i) जनता के सामने प्रतियोगी पसन्दों के अनेक विकल्प, (ii) मताधिकार की पूर्ण समानता, (iii) निर्वाचित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता, (iv) प्रतिनिधित्व की अधिकतम समरूपता, (v) बिना किसी भेदभाव के सार्वजनिक पदों को धारण करने की क्षमता।

(2) निर्णय लेने के सिद्धान्तों के रूप में लोकतन्त्र—लोकतान्त्रिक व्यवस्था कतिपय सिद्धान्तों पर आधारित होती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था उस राजनीतिक पद्धति में विद्यमान रह सकती है जहां सिद्धान्तों के आधार पर ही निर्णय लिए जाते है। लोकतन्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त है—

(i) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त,
(ii) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त,
(iii) संवैधानिक सरकार का सिद्धान्त,
(iv) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त,
(v) लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। सरकार निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा निर्वाचित होनी चाहिए। सरकार जनता के प्रति अपने समस्त क्रिया-कलापों के लिए उत्तरदायी होनी चाहिए। लोकतान्त्रिक शासन में नियतकालीन निर्वाचनों के माध्यम से जनता को सरकार के कार्यों का मूल्यांकन करने का अवसर मिलना चाहिए। लोकतन्त्रात्मक शासन में राज्य का न केवल संविधान हो अपितु संवैधानिक सरकार भी होनी चाहिए। सवैधानिक सरकार वह सरकार होती है जो संवैधानिक उपबन्धों के अनुसार संगठित, सीमित और नियन्त्रित होती है तथा व्यक्ति-विशेष की इच्छाओं के स्थान पर केवल कानून के अनुसार ही सचालित होती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रतियोगी राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि अनेक संगठन, राजनीतिक दल व समूह प्रतियोगी रूप में उस अवस्था में सक्रिय रहें। लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है। राज्य में जनता सर्वोपरि एवं सम्प्रभु होती है।

(3) आदर्शात्मक मूल्यों के रूप में लोकतन्त्र—लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था कतिपय आदर्शों अथवा मूल्यों (values) पर टिकी होती है। लोकतन्त्र के आदर्श हैं—व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, विधि का शासन, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा समता का सिद्धान्त।

लोकतन्त्र का ऐतिहासिक विकास (Historical Evolution of Democracy)

लोकतन्त्र को हम जैसा जानते है, वह पूर्णतया एक आधुनिक विचार है। अनेक प्राचीन समाजों में 'लोकतान्त्रिक' सरकारों का अस्तित्व था। इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया कि प्राचीन भारत में कुछ ऐसे समाज थे जिनकी सरकारें लोकतन्त्रीय सरकारों से मिलती-जुलती थीं। प्राचीन यूनान में भी इसी प्रकार की सरकारें थी, किन्तु लोकतन्त्र के सम्बन्ध में चर्चा करते समय हमें थोडा सचेत रहना चाहिए। यूनान के प्राचीन नगर-राज्यों में ऐसी सरकारें थीं जिन्हें लोकतान्त्रिक कहा जाता है, किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो यह सत्य नहीं है। प्राचीन एथेन्स में जनसंख्या दो वर्गों में विभाजित थी। एक वर्ग में दास थे जिन्हें राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार के अधिकार नहीं मिले थे। वे एथेन्स की सरकार के अंग नहीं थे यद्यपि वहां की अधिकांश अर्थव्यवस्था उन्हीं के श्रम पर आधारित थी। दूसरे, वहां पर मालिकों का एक छोटा-सा वर्ग था। मालिक वे व्यक्ति थे जिनको दासो पर स्वामित्व तथा राजनीतिक अधिकारों का एकाधिकार प्राप्त था। जहां तक इन अल्पसंख्यक मालिकों का सम्बन्ध था, एथेन्स की सरकार पूर्णतया लोकतान्त्रिक थी, जबकि आधुनिक मानदण्ड के अनुसार इसे निकृष्टतम अत्याचारतन्त्र कहा जाएगा। आधुनिक युग में लोकतन्त्र की विचारधारा पूर्णतया समता से सम्बद्ध है। ऐसा

नहीं हो सकता कि कुछ व्यक्तियों के लिए लोकतन्त्र का अस्तित्व हो और अधिकांश के लिए न हो। इस दृष्टि से प्राचीन यूनान में एक प्रकार से लोकतन्त्र था भी और नहीं भी था। नागरिकों के लिए सरकार निश्चयात्मक रूप से लोकतान्त्रिक थी जबकि दासों के लिए ऐसा नहीं था। वस्तुतः आधुनिक मानदण्डों के अनुसार एथेन्स का लोकतन्त्र, लोकतन्त्र नहीं था। आधुनिक लोकतन्त्र में प्रथम और द्वितीय श्रेणी के नागरिक नहीं हो सकते।

आधुनिक लोकतन्त्र का विकास सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड प्रथम देश था जिसने लोकतान्त्रिक पद्धति अपनायी। निःसन्देह यह कोई सरल कार्य नहीं था। सन् 1640 के बाद इंग्लैण्ड में इसके लिए दीर्घकाल तक राजनीतिक अशान्ति तथा गृहयुद्ध चलता रहा। सन् 1688 में इसकी 'गौरवपूर्ण क्रान्ति' के रूप में परिणति हुई। 1688 में नये राजा को पदासीन किया गया, किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि सरकार का एक नवीन सिद्धान्त भी प्रतिष्ठित हुआ जिसे 'उत्तरदायी सरकार' का सिद्धान्त कहते हैं। उत्तरदायित्व का अर्थ जनता की उस शक्ति से है जिसके कारण जनता सरकार से पूछ सकती है कि जो कुछ उसने किया वह क्यो किया और यदि वह सरकार की कार्यप्रणाली से सन्तुष्ट नहीं है तो उसे आगामी निर्वाचन में अपदस्थ कर सकती है। सन् 1688 के पूर्व इन सिद्धान्तों का पूर्ण विकास नही हो पाया था। सामन्तशाही का पतन और लोकतन्त्र का उदय एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी। 1688 मे इस प्रक्रिया का केवल सूत्रपात ही हुआ था, किन्तु इससे कानून के शासन की स्थापना हुई जिसका अर्थ है कानूनों के मानदण्ड पर आधारित सरकार, न कि ऐसी सरकार जो सत्तारूढ़ व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता पर निर्भर हो। कभी-कभी इसे संवैधानिक शासन प्रणाली भी कहा जाता है।

अमरीकी क्रान्ति से भी लोकतन्त्र के विचार को बल मिला। ब्रिटेन के अमरीकी उपनिवेशों के विद्रोह से लोकतान्त्रिक विचारधारा का एक अन्य पक्ष भी प्रकाश में आया। अमरीकी उपनिवेशों ने ब्रिटिश संसद द्वारा कर लगाए जाने का विरोध किया क्योंकि उसमें उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही था। अमरीकी क्रान्ति द्वारा गणतन्त्रीय अध्यक्षात्मक सरकार का विचार विकसित हुआ जो राजतन्त्र से पूर्णतया भिन्न था। उसके बाद से अधिकतर लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं का गणतन्त्रात्मक स्वरूप प्रचलित हो गया।

सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने लोकतन्त्र के सिद्धान्त के विकास में सबसे अधिक योगदान दिया। इंग्लैण्ड में लोकतान्त्रिक क्रान्ति अर्थात् सामन्तीय राजनीतिक व्यवस्था के लोकतान्त्रिक व्यवस्था में परिवर्तित होने की प्रक्रिया के पूर्ण होने में अधिक समय लगा। इसके अतिरिक्त, सामन्तो के राजनीतिक विशेषाधिकार भी पूर्ण रूप से समाप्त नही किए गए। फ्रांसीसी क्रान्ति एक भिन्न प्रकार की क्रान्ति थी। इसने प्राचीन राजतन्त्र को एक प्रकार से समाप्त कर दिया और उसके साथ ही सामन्तों के अधिकांश विशेषाधिकार भी समाप्त कर दिए। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने मानव अधिकारो का घोषणा-पत्र अंगीकार किया। इसमें सभी व्यक्तियों को समान घोषित किया गया। लोकतन्त्र की प्रारम्भिक क्रान्तियों में फ्रांसीसी क्रान्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। इसने लोकतन्त्र के विचार को स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व से सम्बन्धित कर दिया।

लोकतन्त्र सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण (Different Concepts of Democracy)

आधुनिक विश्व के अधिकांश राज्य 'लोकतान्त्रिक' होने का दावा करते हैं। यहां तक कि एक बार हिटलर ने लोकतान्त्रिक शासन की बात करते हुए अपने शासन को 'जर्मन लोकतन्त्र' कहना पसन्द किया। कहीं लोकतन्त्र को राज्य का रूप माना गया है तो कहीं इसे समाज और जीवन का ढंग कहा गया है। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों में आजकल बहुत अन्तर आ गया है। यह वैचारिक अन्तर लोकतन्त्र के सिद्धान्तों, आदर्शों एवं मूल्यों में भी द्रष्टव्य है। इस कारण लोकतन्त्र के अनेक दृष्टिकोण सामने आए हैं जो इस प्रकार हैं—(1) लोकतन्त्र का पारम्परिक उदारतावादी दृष्टिकोण। (2) लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त। (3) लोकतन्त्र का बहुलतावादी सिद्धान्त। (4) लोकतन्त्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण। (5) लोकतन्त्र का समाजवादी दृष्टिकोण।

(1) **लोकतन्त्र का पारम्परिक उदारतावादी दृष्टिकोण**—पारम्परिक उदारतावादी सिद्धान्त को हम प्रतिष्ठित या लोकप्रिय सिद्धान्त भी कह सकते हैं। यह सिद्धान्त पिछली तीन शताब्दियों में विकसित हुआ है। बेंथम, जे. एस. मिल, टी. एच. ग्रीन, अब्राहम लिंकन, आदि इसी उदारतावादी धारणा को स्वीकार करते हैं।

लोकतन्त्र के उदारतावादी सिद्धान्त का विकास आधुनिक युग के आरम्भ के साथ देखा जा सकता है। पुनर्जागरण तथा सुधारवाद के सांस्कृतिक एवं धार्मिक आन्दोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्च मानते हुए तमाम चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति को माना। हॉब्स ने लोकतन्त्र के दृष्टिकोण के जिस महत्वपूर्ण तत्व को विकसित किया, वह था, सरकार या राज्य व्यक्तियों के आपसी समझौते का परिणाम है। लॉक ने राजनीतिक सत्ता को जनता की सहमति पर आधारित बतलाया और संवैधानिक तथा सीमित सरकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अठारहवीं शताब्दी में तर्कवाद के दार्शनिक मॉण्टेस्क्यू ने स्वतन्त्रता को महत्व दिया और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए सरकार की तीन शक्तियों—विधायी, कार्यकारी तथा न्यायिक—मे पृथक्करण की सिफारिश की। रूसो ने लोकतन्त्र की आत्मा के रूप में अपना सामान्य इच्छा का सिद्धान्त दिया। यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के महान् मसीहे के रूप में जाना जाता है। अठारहवीं शताब्दी मे ही अमरीका तथा फ्रांस की क्रान्तियों द्वारा लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। उन्नीसवी शताब्दी में उपयोगितावादी दार्शनिकों—बेन्थम और जे. एस. मिल—ने लोकतन्त्र का समर्थन इस आधार पर किया कि वह शासन अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के लिए आवश्यक है। बेन्थम ने स्पष्ट तौर से प्रतिनिधिक सरकार का सिद्धान्त दिया जिसमें सरकार जनता के बहुमत द्वारा चुनी हुई होनी चाहिए। बेन्थम के विचारों का समर्थन करते हुए जे. एस. मिल ने विचारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया। बीसवीं शताब्दी में अर्नेस्ट बार्कर, डेवी, लिण्डसे, लास्की, पैनोक, आदि ने लोकतन्त्र का समर्थन किया।

लोकतन्त्र के उदारवादी दृष्टिकोण के बुनियादी तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) सब व्यक्ति समान है। व्यक्ति अपना भला-बुरा स्वयं सोचने की शक्ति रखता है।

(2) शासन जनता द्वारा स्वयं संचालित होना चाहिए।

(3) सरकार बहुमत की होनी चाहिए तथा जनता की इच्छा सरकार की शक्ति का आधार है।

(4) राजनीतिक सत्ता जनता की अमानत है।

(5) सरकार का उद्देश्य सामान्य जन का भला करना तथा व्यक्ति का घहुंमुखी विकास करना है।

(6) सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होगी।

(7) सरकार सीमित होनी चाहिए।

(8) जनता को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(9) लोकमत का सरकार द्वारा आदर किया जाना चाहिए।

लोकतन्त्र के इस उदारतावादी दृष्टिकोण की आलोचना निम्न आधार पर की जाती है—**प्रथम**, यह सिद्धान्त राजनीतिक समानता पर बल देता है जबकि राजनीतिक समानता जैसी कोई चीज नहीं होती। प्रत्येक समाज में कुछ विशिष्ट वर्ग होते हैं; चुनाव हो या न हो, शासन उन्हीं का होता है। **द्वितीय**, यह सिद्धान्त शासन का संचालन जनता द्वारा मानता है, जबकि जनता का राजनीति में हिस्सा लेना लोकतन्त्र को भीड़तन्त्र में बदल देता है। आलोचक कहते हैं कि यदि लोकतन्त्र को बचाना है तो जनता को शासन से दूर रखो। जनता द्वारा राजनीति मे अधिक अभिरुचि लेने से राजनीतिक व्यवस्था का सन्तुलन बिगड़ जाता है। **तृतीय**, लोकतन्त्र का उदारतावादी सिद्धान्त मूल्यों तथा आदर्शों पर अधिक ध्यान देता है, राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं पर कम। राजनीति में व्यवहारवाद के उदय के बाद, मूल्य-विहीन राजनीति के समर्थक हर राजनीतिक सिद्धान्त को केवल राजनीतिक जीवन के तथ्यों पर स्थापित करना चाहते है। **चतुर्थ**, यह सिद्धान्त राजनीति में नेताओं, शासन करने वाले विशिष्ट वर्ग तथा संगठित संस्थाओं को उचित महत्व प्रदान नहीं करता।

(2) **लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त**—मॉस्का, पैरेटो, मिचेल, बर्नहम, आदि विचारकों ने लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इन लेखकों ने उदारवादी लोकतन्त्रों को शंकास्पद पाया। इनका मानना है कि आधुनिक युग में हर शासन अल्पतन्त्रीय है जिसमें केवल कुछ शक्तिशाली नेता लोग ही अपना प्रभाव एवं शक्ति रखते हैं। ये लोग विशिष्ट वर्ग के होते हैं। जनता का शासन तो एक धोखा है। जहां कहीं भी सरकार होगी तथा राजनीतिक संगठन एवं शासक होंगे, वहां सत्ता केवल अल्पमत के पास होगी क्योंकि ये ही नेतृत्व प्रदान करते हैं। विशिष्ट वर्गीय लोकतन्त्र का सिद्धान्त इस बात का खण्डन करता है कि सरकार जनता के द्वारा चलाई जा सकती है।

पैरेटो ने इसे 'शासक विशिष्ट वर्ग' (Governing Elite), मॉस्का ने 'राजनीतिक वर्ग' (Political Class), मिचेल्स ने 'शक्ति विशिष्ट वर्ग' (Power Elite), आदि कहकर पुकारा है। हेरल्ड लासवेल के अनुसार, "राजनीतिक विशिष्ट वर्ग एक राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति रखने वालो का होता है। शक्ति रखने वालों में नेतृत्व तथा समाज के वे सभी समूह आते हैं जिनसे नेता आते हैं तथा जिनके प्रति नेताओं का उत्तरदायित्व होता है।"

विशिष्ट वर्ग की धारणा प्रारम्भ में लोकतन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी, किन्तु अब इसे लोकतन्त्रीय सिद्धान्त के आधार के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की गई है। यह नारा दिया गया कि यदि लोकतन्त्र को बचाना है तो जनता को इससे दूर रखो। शासन जनता के पास नहीं बल्कि केवल एक योग्य, अनुभवी क्षमता वाले, प्रतिभाशाली विशिष्ट वर्ग के हाथों मे होना चाहिए। चुनाव जनता की इच्छा जानने के लिए नहीं बल्कि नेताओं का या विशिष्ट वर्ग का

चुनाव करने के लिए होता है। प्रतिनिधि लोकतन्त्र वास्तव में विशिष्ट वर्ग का ही शासन है, क्योंकि चुनाव के माध्यम से जनता की इच्छा को व्यक्त करने वाले प्रतिनिधि नहीं बल्कि शासन करने वाला विशिष्ट वर्ग चुना जाता है

लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण के बुनियादी तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) सरकार 'जनता के द्वारा' नहीं हो सकती, 'जनता के लिए' हो सकती है।

(2) लोकतन्त्र वह है जहां जनता केवल चुनाव के द्वारा अपने शासक (विशिष्ट वर्ग) को चुनती है।

(3) बिना विशिष्ट वर्ग के प्रजातन्त्र नहीं हो सकता, केवल भीड़तन्त्र हो सकता है।

(4) लोकतन्त्र विशिष्ट वर्गों में सत्ता के लिए संघर्ष है जो चुनाव के माध्यम से, जनता के वोट पाकर हारते या जीतते हैं।

(5) राजनीतिक निर्णय लेने का कार्य केवल विशिष्ट वर्ग का है, आम जनता का नहीं।

लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है—**प्रथम**, इस सिद्धान्त का विश्वास जनता में न होकर केवल नेताओं के विशिष्ट वर्ग में है। जनता को लोकतन्त्र से दूर रखकर लोकतन्त्र तत्वहीन तथा मूल्यहीन हो जाता है। **द्वितीय**, यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह सिद्धान्त परिवर्तन का विरोधी है तथा मौजूदा व्यवस्था का समर्थक है। यह सिद्धान्त लोकतन्त्र की प्रगतिशीलता को नष्ट करते हुए इसे रूढ़िवादी राजनीतिक सिद्धान्त बना देता है। **तृतीय**, यह सिद्धान्त लोकतन्त्र का उद्देश्य मानव का विकास तथा कल्याण न मानकर मानव का उद्देश्य लोकतन्त्र का स्थायित्व तथा कार्य-कुशलता मान लेता है। **चतुर्थ**, यह सिद्धान्त केवल नेताओं में श्रद्धा रखता है तथा केवल उन्हीं को लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने का दायित्व सौंपता है। इसमें नेताओं द्वारा लोकतन्त्र के दुरुपयोग का खतरा खड़ा हो जाता है। **पंचम**, यह सिद्धान्त व्यक्तियों की समानता का विरोधी है।

(3) **लोकतन्त्र का बहुलतावादी सिद्धान्त**—लोकतन्त्र के बहुलतावादी सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था को बहुलतावादी साबित करते हुए इसे विशुद्ध लोकतान्त्रिक ठहराते हुए सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं को लोकतन्त्र-विरोधी साबित करना है।

बहुलतावाद का मूल मन्तव्य है 'अनेकता में एकता स्थापित करना लोकतन्त्र है, अनेकता को नष्ट करना गैर-लोकतान्त्रिक है।' बहुलतावादी लोकतन्त्र को रावर्ट डाहल ने 'बहुतन्त्रवाद' (Polyarchy) कहा है। बहुलतावादी लोकतन्त्र का अर्थ एक ऐसी शासन-व्यवस्था से है जिसमें नीति-निर्धारण का नाम समाज के विभिन्न हित आपसी विचार-विनिमय द्वारा करते हैं। बहुलतावादियों की मुख्य धारणा यह है कि शक्ति का प्रयोग, विशेषकर राजनीतिक नीतियों का निर्धारण, समाज की सब संस्थाओं तथा हितों को मिल-बांटकर करना चाहिए। बहुलतावादी लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए आर. प्रिस्थस ने लिखा है, "यह एक ऐसी सामाजिक-राजनीतिक प्रणाली है जिसमें राज्य की शक्ति बहुत सारे प्राइवेट समूहों, समान रुचि के संगठकों तथा ऐसे संगठनों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों के बीच बंटी रहती है।"

लोकतन्त्र के बहुलतावादी दृष्टिकोण के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं—

(1) बहुलतावादी लोकतन्त्र का आधार व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्तियों के संगठन—दबाव-समूह, ट्रेड यूनियन संघ, राजनीतिक दल, संस्थाएं, आदि है। व्यक्ति इन्हीं समूहों के माध्यम

से राजनीति में हिस्सा लेता है तथा इन समूहों को राज्य के नीति-निर्धारण में हिस्सा प्राप्त होना चाहिए।

(2) बहुलतावादी लोकतन्त्र का दूसरा आधार सम्प्रभुता की बहुलतावादी धारणा है जिसके अनुसार व्यक्ति केवल राज्य के पास नहीं, बल्कि समाज की अन्य संस्थाओं तथा राज्य में विभाजित होनी चाहिए।

(3) राज्य की शक्ति सीमित होनी चाहिए। सरकार के विभिन्न अंगों की शक्ति इस प्रकार रखी जाए कि वे एक-दूसरे को नियन्त्रित कर सकें।

(4) जनता को नीति-निर्धारण में हिस्सा उनके व्यवस्थित संगठनों के माध्यम से दिया जाना चाहिए।

(5) नीति बनाते समय प्रभावित होने वाले समूहों से विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।

लोकतन्त्र के बहुलतावादी सिद्धान्त की आलोचना मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर की जाती है—**प्रथम**, यह सिद्धान्त संगठित समूहों तथा संस्थाओं को महत्व देता है, न कि व्यक्तियों को। **द्वितीय**, यह सिद्धान्त राजनीति को दबाव-गुटों की राजनीति बना देता है। सरकार को दबाव में आकर झुकना पड़ता है और समझौतावादी नीतियां अपनानी पड़ती हैं। तृतीय, यह सिद्धान्त राज्य की प्रभुसत्ता को विभाजित मानता है जबकि एकलवादियों ने एक समाज में सत्ता के विभाजन को असम्भव बताया है।

(4) **लोकतन्त्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण**—लोकतन्त्र की साम्यवादी धारणा मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित है। यह लोकतन्त्र की द्वन्द्वात्मक व्याख्या है। साम्यवादियों ने लोकतन्त्र को नए अर्थों में ग्रहण किया है। सोवियत संघ तथा चीन के शासकों को 'जनवादी लोकतन्त्र' कहा जाता है।

मार्क्सवाद लोकतन्त्र को एक शासन-व्यवस्था के अलावा मूल्यों की एक व्यवस्था समझता है। लोकतान्त्रिक मूल्यों में आर्थिक समानता, सामाजिक न्याय, शासन में जनता का हिस्सा तथा शोषण की अनुपस्थिति को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। प्राइवेट सम्पत्ति को खत्म करके, उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व स्थापित करते हुए लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना की जा सकती है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार यदि समाज की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी है तो लोकतन्त्रीय सरकार भी पूंजीपतियों के हितों का विशेष रूप से संरक्षण करेगी। जब तक पूंजी का समाजीकरण न कर दिया जाए तब तक सही अर्थ में जनवादी लोकतन्त्र की स्थापना सम्भव नहीं है। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र ही सच्चा लोकतन्त्र है, क्योंकि यहां सम्पत्ति पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होता है, न कि थोड़े-से पूंजीपतियों का।

मजदूर वर्ग की तानाशाही केवल एक वर्ग का राज्य है, हर राज्य एवं लोकतन्त्र की तरह यह पूर्ण लोकतन्त्र नहीं है। मार्क्सवाद पूर्ण लोकतन्त्र को तर्कसंगत नहीं मानता क्योंकि सारे लोगों की शासन-व्यवस्था अपने आप में एक विरोधी बात है। लोकतन्त्र भी एक प्रकार का राज्य है और हर राज्य केवल एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर वर्ग-राज्य ही हो सकता है। अतः यह पूर्ण लोकतन्त्र कभी नहीं हो सकता। साम्यवादी समाज में जब राज्य का विलोप हो जाएगा तब पूर्ण लोकतान्त्रिक समाज की स्थापना होगी। जब तक राज्य है, यह वर्ग-राज्य होगा तथा वर्ग-प्रजातन्त्र होगा।

मजदूर वर्ग की तानाशाही पूंजीवादी लोकतन्त्रों से श्रेष्ठ लोकतन्त्र है। यह बहुमत वाले वर्ग का लोकतन्त्र है तथा शोषण को बनाए रखने के लिए नहीं, बल्कि शोषण का अन्त करके, शोषणमुक्त समाज की रचना का एक माध्यम मात्र है। लेनिन के शब्दों में, "मजदूर वर्गीय प्रजातन्त्र पूंजीवादी प्रजातन्त्र से लाखों गुना अधिक प्रजातान्त्रिक है।"

मजदूर वर्ग की तानाशाही या साम्यवादी लोकतन्त्र की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है—**प्रथम**, यह एक वर्ग की तानाशाही है जबकि लोकतन्त्र तमाम जनता—अमीर व गरीब का शासन है। **द्वितीय**, यह मजदूरों के अतिरिक्त अन्य वर्गों का दमन करता है जबकि लोकतन्त्र में किसी भी वर्ग को दूसरे वर्ग को खत्म करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। **तृतीय**, मजदूर वर्ग की तानाशाही वाला लोकतन्त्र बहुमत का शासन नहीं है बल्कि कुछ क्रान्तिकारियों का विशिष्ट वर्ग ही वास्तव में शासन करता है। यह मजदूर वर्ग की तानाशाही नहीं बल्कि मजदूर वर्ग पर तानाशाही है।

(5) **लोकतन्त्र का समाजवादी दृष्टिकोण**—समाजवादी लोकतन्त्र का मॉडल उदारतावादी और मार्क्सवादी लोकतन्त्र का समन्वित रूप है। समाजवादी लोकतन्त्रों में राजनीतिक समाजों के मूल्य तो उदारतावादी लोकतन्त्रों की अवधारणा के समान स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा जन-कल्याण की साधना के ही हैं, परन्तु साधनों की दृष्टि से समाजवादी लोकतन्त्र साम्यवादी विचारधारा के समीप लगते हैं। इन लोकतन्त्रों में समानता के आर्थिक पहलू पर अधिक बल दिया जाता है।

इस प्रकार लोकतन्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र की अवधारणा परिवर्तित होती गयी है। यह कहना कठिन है कि लोकतन्त्र का श्रेष्ठतम दृष्टिकोण कौन-सा है।

लोकतान्त्रिक प्रशासन
(DEMOCRATIC ADMINISTRATION)

किसी देश का संविधान लोकतान्त्रिक हो सकता है, राजनीतिक व्यवस्था का ढांचा लोकतान्त्रिक हो सकता है, किन्तु आवश्यक नहीं कि प्रशासन की कार्यशैली लोकतान्त्रिक हो। लोकतान्त्रिक प्रशासन वह प्रशासन होता है जो सदैव जनता के प्रति उत्तरदायी होता है, जिस पर संसद और न्यायपालिका का प्रभावी नियन्त्रण होता है और प्रशासकों का आचरण मालिक की भांति न होकर सेवक की भांति होता है।

01

लोकतान्त्रिक प्रशासन के लक्षण
(FEATURES OF DEMOCRATIC ADMINISTRATION)

यह आवश्यक नहीं है कि यदि किसी देश में लोकतान्त्रिक ढंग की सरकार है तो वहां प्रशासन भी पूर्णतया लोकतान्त्रिक ही हो। ऐसा भी हो सकता है कि सर्वोच्च स्तर पर तो लोकतन्त्र हो, किन्तु परम्परा और पिछले इतिहास के कारण प्रशासन, विशेषतया निचले स्तरों पर, पूरी तरह लोकतान्त्रिक न हो। भारत में लोकतन्त्र और प्रशासन की कार्यशैली कुछ ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहां स्वतन्त्रता के उपरान्त लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था को अपनाया गया, किन्तु यह शिकायत हम प्रायः सुनते हैं कि प्रशासन का स्वरूप अभी भी सामन्तवादी एवं नौकरशाही जैसा है। अतः लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना के साथ-साथ प्रशासन को लोकतान्त्रिक बनाना आवश्यक हो जाता है।

लोकतन्त्रात्मक प्रशासन शासन का यह रूप है जिसमें सरकारी तन्त्र के संचालन में स्वयं जनता भाग लेती है, प्रशासनिक नीतियां जनता की सहमति से निर्मित की जाती हैं, अधिकारी एवं जन-प्रतिनिधि एक साथ मिलकर प्रशासनिक निर्णयों को कार्यान्वित करते हैं तथा प्रशासकों को जन-प्रतिनिधियो द्वारा जनहित में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। लोकतान्त्रिक प्रशासन आम लोगों के हित में काम करता है न कि किसी खास वर्ग व समूह के हित में। यह जनमत का आदर करता है और नागरिक के अधिकारों की रक्षा करता है। यह विधायिका के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों के अधीनस्थ कार्य करता है। वस्तुतः ऐसा प्रशासन लोकतान्त्रिक होगा जो जनता के प्रभुत्व में विश्वास करता हो, जन प्रतिनिधियों की सहमति से कार्य करता हो एवं जिसका ध्येय जनहित हो। संक्षेप में, लोकतान्त्रिक प्रशासन के निम्नलिखित विशेषताएं या लक्षण हैं—

(1) **जन इच्छा का सम्मान**—लोकतन्त्र में प्रशासन जनता का सेवक है न कि मालिक प्रशासन जनता के लिए है न कि जनता प्रशासन के लिए। प्रशासन के लिए आवश्यक है कि वह जन इच्छा का सम्मान करे, जनता की आकांक्षाओं और समस्याओं को जाने तथा जन इच्छा की पूर्ति के लिए कदम उठाए। इसके लिए प्रशासन को जन सम्पर्क का एक व्यापक जाल बिछाना होगा।

(2) **नीति-निर्माण एवं क्रियान्वयन में भागीदारी**—लोकतान्त्रिक प्रशासन में लोगों को सरकारी नीतियां बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने में योगदान देने के लिए अधिकतम अवसरों की गारण्टी दी जानी चाहिए। इसकी गारण्टी का एक तरीका पंचायतों एवं नगरपालिकाओं जैसी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओ की स्थापना द्वारा प्राधिकार के विकेन्द्रीकरण की सक्रिय प्रणाली बनाने का है। प्रशासन मे जनभागीदारी को कारगर बनाने के अन्य तरीके हैं—लोगों को सलाहकार समितियो और बोर्डों मे शामिल करना, जिससे शिक्षित नागरिकों और प्रशासन में रुचि रखने वाले प्रबन्ध स्तर पर प्रशासनिक विभाग के लोगों का प्रतिनिधित्व हो और दूसरे स्थान पर प्रशासनिक कार्यक्रमों के वास्तविक कार्यान्वयन में प्रभावित नागरिकों का सहयोग लिया जाए। भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन में इसी प्रकार का जनसहयोग लिए जाने का प्रावधान किया गया था। भारत सरकार प्रशासन के सभी स्तरो (केन्द्रीय, राज्य एवं जिला स्तर पर) पर सलाहकार एवं परामर्शदात्री निकायों का उदारतापूर्वक उपयोग कर रही है।

(3) **उत्तरदायित्व**—लोकतन्त्र में प्रशासन को जनता के प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए। लोकतान्त्रिक प्रशासन के उत्तरदायित्व की संकल्पना के अनुसार सरकारी कर्मचारी को राजनीतिक कार्यवाहक अर्थात् मन्त्रियों की इच्छानुसार कार्य करना चाहिए जो लोगों के प्रतिनिधि हैं और जो अपनी कार्यवाहियों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होते है। इसके अतिरिक्त अधिकांश लोकतान्त्रिक सरकारों मे प्रशासन की कार्यवाही न्यायिक समीक्षा के अधीन होती है। भारत जैसे लिखित संविधान वाले देश में सरकारी कर्मचारी नियमो और संविधान के ढांचे के अन्तर्गत कार्य करने के लिए बाध्य है। ऐसे संविधान में प्रशासन के मनमाने अधिकार की अपेक्षा न्यायिक सुरक्षा की रचना होती है। प्रशासनिक कानून और प्रशासनिक अधिनिर्णय में व्यापक वृद्धि से अधिकारी तन्त्र की शक्तियो में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण न्यायिक नियन्त्रण की आवश्यकता और भी अनिवार्य हो गई है।

(4) **खुली निर्णय प्रक्रिया**—लोकतान्त्रिक प्रशासन मे प्रशासनिक निर्णय गुप्त नहीं रखे जाते। प्रशासन द्वारा लिए गए निर्णयों की पूरी जानकारी जनता को उपलब्ध करायी जाती है। लोगों को सरकार की नीतियों की आलोचना करने का अधिकार होता है। सरकार को लोकमत *तथा प्रेस की स्वतन्त्रता और संघ बनाने तथा प्रदर्शन करने के अधिकार जैसी लोक स्वतन्त्रताओं* का पर्याप्त सम्मान करना होता है। लोकतान्त्रिक प्रशासन सही आलोचना और रचनात्मक सुझावों के प्रति अनुक्रियाशील होता है। संक्षेप में, लोकतान्त्रिक प्रशासन में प्रशासन द्वारा निर्मित नीतियां जन-आलोचना के लिए खुली रहती हैं।

(5) **जन-सम्पर्क**—लोकतान्त्रिक प्रशासन जनता से अलग-थलग नही रहता अपितु कारगर जन-सम्पर्क व्यवस्था के माध्यम से जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखता है। जनता अपनी इच्छा व्यक्त कर सके, नागरिकों की शिकायते शीघ्र एवं प्रभावशाली ढंग से दूर करने के लिए प्रशासन के सभी स्तरों पर जनसम्पर्क की प्रभावी मशीनरी विकसित की जानी चाहिए। यदि और कुछ नहीं किया जा सकता तो एक सुझाव व शिकायत पुस्तिका प्रत्येक सरकारी कार्यालय में रखी जानी चाहिए, जिसके भरे हुए पन्नों को प्रतिमाह उच्च अधिकारी को भेजा जाना चाहिए, *साथ ही उस कर्मचारी का उत्तर या स्पष्टीकरण भी हो जिसके कार्यक्षेत्र से यह* सुझाव या शिकायत सम्बन्धित है।

(6) **प्रशासन का व्यापक आधार**—लोकतान्त्रिक प्रशासन समाज के कतिपय उच्च वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रशासन ही नही होता अपितु इसमें जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग का प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए। यदि प्रशासन को लोकतान्त्रिक तौर पर कार्य करना है तो जाति, वर्ग, क्षेत्रीयतावाद, प्रान्तीयता या भाषावाद की सामाजिक सीमाओं को अपने स्वतन्त्र और स्वच्छ कार्य के निष्पादन में बाधाएं उत्पन्न करने की छूट नहीं दी जानी चाहिए। इसका व्यापक सामाजिक स्तर पर गठन किया जाना चाहिए। संक्षेप में, प्रशासन के व्यापक आधार का अर्थ यह है कि नौकरशाही के कर्मचारियों की सारे समाज में से भर्ती होने की केवल प्रक्रियात्मक व्यवस्था ही नहीं हो अपितु, प्रशासक वास्तव में समाज के सभी वर्गों से आ सके, इसकी व्यवस्था हो। यही कारण है कि भारत में पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए इन सेवाओं में स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था है जिससे नौकरशाही व्यापक आधार वाली बन सके।

(7) **स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण**—लोकतन्त्र मे प्रशासन निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नही बन सकता। उसे अनेक संवैधानिक एवं संस्थागत नियन्त्रणों में रहकर कार्य करना होता है। उस पर संसद और न्यायपालिका का प्रभावी नियन्त्रण होता है। भारत में संसद प्रश्न पूछकर, स्थगन प्रस्ताव लाकर, अविश्वास प्रस्ताव पारित कर प्रशासन को नियन्त्रित करती है। यदि कोई चीज जो प्रशासन को अत्यधिक सतर्क, भयभीत एवं सावधान रखती है तो वह केवल संसदीय प्रश्नो का भय ही है। भारत में प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की दृष्टि से बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण, अधिकार पृच्छा, आदि लेख प्रमुख हैं।

(8) **विकेन्द्रीकरण**—लोकतान्त्रिक प्रशासन यथासम्भव विकेन्द्रित होता है जिससे निर्णय जनता के नजदीक लिए जा सकें और अनेक स्तरों पर जन प्रतिनिधियों को साथ लिया जा सके। इससे संगठन में पद सोपान के स्तर कम हो जाते हैं और प्रशासक जन प्रतिनिधियों

से मिलकर जन भावना के अनुकूल चलने का आदी हो जाता है। इससे शासन में अधिक अधिक लोग भागीदार हो जाते हैं।

(9) आदर्श एवं मूल्यों पर आधारित—लोकतान्त्रिक प्रशासन की यह भी विशेषता है इसके निश्चित ध्येय व आदर्श (मूल्य) होते है। ऐसा प्रशासन जनता की स्वतन्त्रता को बना रखने का उत्सुकता से प्रयत्न करता है; वह सभी के लिए अवसर की समानता तथा जी का एक न्यूनतम स्तर उपलब्ध कराने का प्रयत्न करता है।

(10) प्रशासन का लोकतान्त्रिक ढांचा—लोकतान्त्रिक प्रशासन में सरकारी कर्मचारि और नागरिकों के बीच सम्बन्धों के महत्व पर ही बल नहीं दिया जाता बल्कि प्रशासनिक ढा में कार्यरत कार्मिकों के परस्पर सम्बन्धों पर भी बल दिया जाता है। किसी बढ़े संगठन व कार्यपद्धति की तरह लोक प्रशासन भी अपने सदस्यों के साथ सम्बन्ध बनाने में निर्वैयक्तिक अपना सकता है जहां एक अकेला कर्मचारी बड़ी मशीन में मात्र पुर्जा बनकर रह जाता है लोक संगठनो के प्रत्येक कार्मिक का, चाहे वह उच्च पद पर हो या निम्न पद पर, यह कर्तव्य है कि वह संयुक्त उद्यम में अपने साथी कर्मचारी को समान हिस्सेदार के रूप मे माने। सरकारी संगठनों के प्रबन्ध अध्यक्षों के पास कार्मिकों को किसी थोपे गए तरीके की अपेक्षा अपने समझाने-बुझाने की प्रक्रिया द्वारा प्रेरित करने के नेतृत्व की सक्रिय शक्ति होनी चाहिए। प्रबन्धक वर्ग और कार्मिकों के बीच विवादों के सभी मामलों को परस्पर बातचीत और समझौते द्वारा निपटाया जाना चाहिए जिससे किसी तरह कार्मिकों के आत्मसम्मान और भावनाओं को चोट न पहुंचे। इंग्लैण्ड की ह्निटले परिषदें और भारत का संयुक्त परामर्शदात्री तन्त्र प्रशासनिक ढांचे के अन्दर लोकतान्त्रिक निर्णय शैली के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

(11) राजनीतिक नेतृत्व की सर्वोपरिता—लोकतान्त्रिक प्रशासन में लोक सेवा के अधिकारी चाहे कितने ही उच्च पद पर आसीन हों, राजनीतिक नेतृत्व (मन्त्री) के निर्देशन एवं अधीक्षण में कार्य करते हैं। मन्त्री और सचिव सम्बन्धों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सचिव को मन्त्री के मार्ग निर्देशन में कार्य करना होता है क्योंकि विधायिका के प्रति मन्त्री उत्तरदायी होता है।

निष्कर्ष—संक्षेप में, लोकतन्त्र में प्रशासक सेवक की भूमिका अदा करता है, प्रशासन का ध्येय सार्वजनिक होता है और प्रशासक की महान् सृजनात्मक भूमिका होती है। लोकतन्त्र में प्रशासन एक नैतिक कार्य है और प्रशासक एक नैतिक अभिकर्ता। लोकतन्त्र में प्रशासन के मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी यह है कि वह आम नागरिक का कितना हित संवर्द्धन कर पाता है। प्रशासन अपने आप में साध्य नहीं है, बल्कि वह प्रत्येक नागरिक और सम्पूर्ण समाज के उत्थान का साधन है। अभी तक नागरिकों के हित की अपेक्षा राज्य के हित को अधिक महत्व दिया जाता है। लोक प्रशासन की मुख्य धुरी 'प्रशासन' रही है, 'लोक' नहीं। अतः लोकतन्त्र के इस युग में प्रशासन का प्रमुख उद्देश्य 'नागरिक सन्तुष्टि' (Citizen satisfaction) की पूर्ति करना हो गया है।

प्रशासन को अधिक से अधिक लोकतान्त्रिक बनाने के लिए कतिपय सुझाव इस प्रकार हैं—

(1) सरकारी कार्यालयों के साथ जन परामर्शदात्री समितियों को अधिक से अधिक सम्बद्ध किया जाना।

(2) स्वयंसेवी संस्थाओं के कार्यों एवं भूमिका का विस्तार।

(3) व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा विकसित व्यवसायगत मानदण्डों व आचार संहिता पर आधारित आन्तरिक प्रतिबन्ध।

(4) प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की कारगर व्यवस्था।

(5) जन चेतना का विकास।

(6) प्रशासन पारदर्शी होना चाहिए।

(7) नागरिक को प्रशासन से सूचना मांगने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

संक्षेप में, लोकतान्त्रिक प्रशासन के निर्माण के लिए जागरूक जनमत, निर्भीक समाचार पत्र, संगठित विरोधी दल तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका अपरिहार्य है।

प्रश्न

1. प्रजातान्त्रिक प्रशासन की अवधारणा को समझाते हुए इसकी विभिन्न विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (राजस्थान, 1995)
2. प्रजातान्त्रिक प्रशासन की महत्वपूर्ण विशेषताओ को विस्तार से समझाइए। (राजस्थान, 1994, 98)
3. लोकतान्त्रिक प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए। (अजमेर, 1994)
4. प्रजातान्त्रिक प्रशासन के प्रमुख लक्षण बतलाइए। (अजमेर, 1996)

9

नौकरशाही की भूमिका

[ROLE OF BUREAUCRACY]

लोक प्रशासन के साहित्य में 'नौकरशाही' शब्द जितना सुपरिचित तथा सामान्य प्रयोग मे आने वाला शब्द है उतना ही यह बदनाम तथा अप्रिय भी है। यह मुख्य रूप से लोक सेवाओं के व्यावहारिक जीवन को अपने अर्थ के कलेवर में शामिल करता है जिसके अन्तर्गत कर्मचारीगण अपने पद के दायित्वों का निर्वाह करते हुए एक विशेष प्रकार का आचरण करते हैं। इस नौकरशाही की संस्थागत रूप-रचना तथा संगठनात्मक एवं संरचनात्मक पक्ष को कार्मिक प्रशासन के रूप में जाना जाता है। इसके अन्तर्गत लोक सेवकों की भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, पद वर्गीकरण, वेतन, सेवा की अन्य शर्तें, आदि विषय शामिल किए जाते हैं। कार्मिक प्रशासन (Personnel Administration) के इन सभी पहलुओं की सन्तोषप्रद व्यवस्था होने पर ही यह आशा की जा सकती है कि नौकरशाही सुचारु रूप से कार्य करते हुए अप निर्धारित लक्ष्यों की उपलब्धि की दिशा मे निश्चयात्मक रूप से अग्रसर हो सकेगी।

सर्वप्रथम 18वीं शताब्दी के मध्य में दि गार्ने (de Gournay) नामक एक फ्रांसी विचारक ने 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग शिकायत रूप में किया। उनके शब्दों में फ्रांस में एक नई बीमारी ने जन्म लिया है जो हमारे लि भयंकर मुसीवत बन सकती है। इस बीमारी का नाम है 'ब्यूरोमेनिया'। आगे चलकर मॉस्क मिशेल्स, मैक्स वेवर, आदि ने कई प्रकार से इस शब्द का प्रयोग किया है।

नौकरशाही का अर्थ एवं प्रकृति (Meaning and Nature of Bureaucracy)

'नौकरशाही' का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'ब्यूरोक्रेसी' (Bureaucracy) फ्रांसीसी भ के 'ब्यूरो' शब्द से लिया गया है। इसका अर्थ एक विभागीय उपसम्भाग अथवा विभाग से है। यह प्रायः सरकारी विभाग का परिचायक है। फ्रांस में इस शब्द का प्रयोग ड्राअर वाली मेज अथवा लिखने की डैस्क के लिए हुआ करता था। इस डैस्क पर ढकें कपड़े को 'ब्यूरल' कहा जाता था तथा इसी के आधार पर निर्मित 'ब्यूरो' शब्द सरकारी कार्यों का परिचायक था। आगे चलकर इसका प्रयोग विशेष प्रकार की सरकार को चलाने के लिए सम्भवतः फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व फ्रेंच सरकार के लिए किया गया। 19वीं शताब्दी में इसका ह्रासकारी प्रयोग सारे यूरोप में किया जाने लगा। जहां-जहां सरकार में निरंकुशता, संकुचित दृष्टिकोण तथा सरकारी

अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता दिखायी पड़ी, वहीं उसे '**नौकरशाही**' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे इसका भावार्थ नियमों का कठोर पालन, अनुत्तरदायित्व, जटिल प्रक्रियाओं तथा निहित स्वार्थों से लिया जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इसे 'पारकिन्सन कानून' की प्रतिमूर्ति मान लिया गया जिसका संकेत नौकरशाही द्वारा सत्ता, साम्राज्य निर्माण, साधनों का अपव्यय, उदासीनता, आत्म प्रसार, आदि दुष्प्रभावपूर्ण प्रवृत्तियों से था। **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका** के अनुसार, "जिस प्रकार तानाशाही का अर्थ तानाशाह का तथा प्रजातन्त्र का अर्थ जनता का *शासन होता है उसी प्रकार ब्यूरोक्रेसी का अर्थ ब्यूरो का शासन है।*"[1]

रॉबर्ट सी. स्टोन के अनुसार, "इस पद का शाब्दिक अर्थ कार्यालय द्वारा शासन या अधिकारियो द्वारा शासन है। सामान्यतः इसका प्रयोग दोषपूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं के सन्दर्भ में किया जाता है।" नौकरशाही संगठनों में लालफीताशाही, कठोर नियम और कार्यविधि पर जोर दिया जाता है।[2] **मार्सटीन मार्क्स** के अभिमत में 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग मुख्यतः चार रूपों में किया जाता है—(i) नौकरशाही एक विशेष प्रकार का संगठन है, विशेषतः यह लोक प्रशासन के कार्य करने की एक संरचना है। (ii) नौकरशाही संगठन की एक ऐसी बीमारी है जो अच्छे प्रवन्ध में अवरोध उत्पन्न करती है। (iii) नौकरशाही एक '**बड़ी सरकार**' है। यह अच्छे-बुरे कार्यो के लिए सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ एक विशाल संस्थान है। (iv) नौकरशाही एक बुराई पैदा करने वाला अभिशाप है जो स्वतन्त्रता के लिए हानिकारक है।

जे. एस. मिल ने नौकरशाही को समाज में सरकार के व्यावसायिक प्रशासक वर्ग के रूप में प्रयोग किया, **हेरल्ड लास्की** ने भी इसे इसी अर्थ में प्रयोग किया। **हरमन फाइनर** ने भी नौकरशाही को 'सरकारी अधिकारियों का शासन' माना। **लास्वेल** तथा **कैप्लन** ने इसे वह प्रशासन माना जिसमें उच्चवर्गीय लोग अधिकारी पद पर आसीन होते है। **मॉस्का** ने माना कि *नौकरशाही उच्चवर्गीय अधिकारियों का निरंकुश नियन्त्रण है।* ***मिशेल्स*** *ने नौकरशाही पर व्यापक* दृष्टि से विचार किया जिसमें सरकारी तथा राजनीतिक दल जैसी गैर-सरकारी संस्थाओं में कार्यरत वेतनभोगी व्यवसायी पदाधिकारी आ जाते है। **रैम्जे म्योर** जैसे लेखकों की मान्यता है कि नौकरशाही का मतलब है स्थायी अधिकारी और व्यावसायिक प्रशासक। **लापलोम्बरा** के अनुसार नौकरशाही के अन्तर्गत सभी लोक सेवक आते हैं। **टेल्काट पार्सन्स** संगठन एवं नौकरशाही को पर्यायवाची मानते है। **पीटर ब्लाव** (Peter Blau) का विश्वास है कि नौकरशाही वह संगठन है जो प्रशासन में अधिकतम कुशलता लाता है।

माइकेल क्रोजियर के अनुसार नौकरशाही एक अस्पष्ट शब्द है।[3] समाज विज्ञानों में इस शब्द का प्रयोग मुख्यतः तीन रूपों में हुआ है—(i) **प्रथम**, प्रयोग के अनुसार ब्यूरोक्रेसी ब्यूरो द्वारा सरकार है। यह राज्य के उन विभागों द्वारा संचालित होती है जिनमें निर्वाचित नहीं वरन् नियुक्त कार्यकर्ता होते हैं। ये पदसोपान के रूप में संगठित किए जाते हैं। इस अर्थ में नौकरशाही कानून और व्यवस्था के शासन की परिचायक है, किन्तु इसमें जनता का कोई

---

1 "Literally, then bureaucracy would mean bureau rule, much as autocrat means the rule by the despot and democracy the rule of the people."
—*Encyclopaedia Britanica*, Vol. 4, p. 421.

2 "The literal meaning of this term is rule by the officials. In the popular usage, it often carries a prerogative sense." —*Robert C. Stone*

3 Michel Crozier, *The Bureaucratic Phenomenon*, 1964, p. 145.

योगदान नहीं होता। (ii) द्वितीय, इसका दूसरा प्रयोग मैक्स वेबर से प्रारम्भ हुआ तथा इसे समाजशास्त्रियों एवं इतिहासकारों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया। तदनुसार नौकरशाही सामूहिक क्रियाओं का तार्किकीकरण (Rationalization of Collective Activities) है। इसके लिए उत्पादन की इकाइयों का केन्द्रीकरण तथा सभी संगठनों में अव्यक्तिगत नियमों का विकास किया जाता है। इन नियमों द्वारा विभिन्न पदाधिकारियों के कार्यों तथा दायित्वों को परिभाषित किया जाता है। (iii) तृतीय, इसका तीसरा प्रयोग ऐसे संगठन का द्योतक है जिसमें कार्यों का धीमापन, प्रक्रियाओं की जटिलता, नियमित कार्यविधि, लक्ष्यों के प्रति दुर्भावनापूर्ण प्रतिक्रियाएं, कष्टकारी प्रभाव, लालफीताशाही, विभागीयता का विचार, आदि बातें एक साथ प्राप्त होती हैं।

नौकरशाही की आधुनिक अवधारणा का प्रस्तुतीकरण मुख्यतः संरचनात्मक (Structural) तथा कार्यात्मक (Functional) दो दृष्टियों से किया गया है। संरचनात्मक दृष्टि से नौकरशाही को एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था माना गया जिसमें पदसोपान, विशेषीकरण, योग्य कार्यकर्ता, आदि विशेषताएं पायी जाती है। कार्ल फ्रेडरिक के शब्दों में, "नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्चस्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है जिन्हें इन पदों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।"[1] कार्यात्मक दृष्टि से नौकरशाही का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्था की अन्य उपव्यवस्थाओं पर पड़ने वाले नौकरशाही व्यवहार के प्रभाव का अध्ययन है। स्वयं नौकरशाही भी इस सामान्य सामाजिक व्यवस्था का एक भाग होती है। माइकेल क्रोजियर के शब्दों में, "नौकरशाही व्यवहार में धीमापन, प्रक्रिया की जटिलता, रूटीन प्रकृति और प्रशासनिक संगठन के सदस्यों अथवा सेवित व्यक्तियों के लिए कुण्ठाजनक वातावरण, आदि बातें शामिल की जाती हैं।" हैरल्ड लास्की ने नौकरशाही एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था को माना है जिसमें "यन्त्रवत् कार्य के लिए उत्कण्ठा, नियमों के लिए लोचशीलता का बलिदान, निर्णय लेने में देरी और नवीन प्रयोगों का अवरोध, रूढ़िवादी दृष्टिकोण, आदि बातें प्रभावशाली रहती हैं।"[2] एफ. एम. मार्क्स ने "पदसोपान, क्षेत्राधिकार, विशेषीकरण, व्यावसायिक प्रशिक्षण, निश्चित वेतन एवं स्थायित्व को नौकरशाही संगठन की विशेषताएं स्वीकार किया है।"[3]

संक्षेप में, 'नौकरशाही' शब्द के विभिन्न प्रयोगों और अर्थों को देखकर यह कहा जा सकता है कि निश्चय ही यह शब्द पर्याप्त अस्पष्ट और अनेकार्थक है। इस सम्बन्ध में एफ. एम. मार्क्स का यह कथन सही प्रतीत होता है कि "करोड़ों लोगों ने नौकरशाही शब्द नहीं सुना है, किन्तु जिस किसी ने भी सुना है वह या तो इसके प्रति शंकालु है अथवा यह समझता

1 "Bureaucracy is a form of organization marked by hierarchy, specializatioin of roles and a high level of competence displayed by incumbents trained to feel these roles."
—Carl J. Friedrich, *Man and His Government*, 1963, pp. 469-70

2 [illegible] king [illegible] 70

3 [illegible] has several unmistakable characteristics. They include as principal factors hierarchy, jurisdiction, specializatioin, professional trainning, fixed compensation and permenence."
—Fritz Morstein Marx, *The Administrative State: An Introduction to Bureaucracy*, p. 22

है कि नौकरशाही शब्द किसी-न-किसी बुरी बात से सम्बन्धित है। यद्यपि पूछे जाने पर वह इसका अर्थ बताने से कतराएगा, किन्तु यह अवश्य कह देगा कि इसका मतलब कोई बुरी बात है।"

नौकरशाही के सम्बन्ध में मैक्स वेबर के विचार (Bureaucracy : Ideas of Max Weber)

मैक्स वेबर नौकरशाही का व्यवस्थित अध्ययन करने वाला प्रथम समाजशास्त्री था। उसका योगदान बहुत से क्षेत्रों में रहा जिसमें समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा राजनीति विज्ञान प्रमुख हैं। मैक्स वेबर और नौकरशाही, दोनों ही एक-दूसरे के परिचायक बन गए। 1920 में प्रकाशित अपनी कृति **'सामाजिक और आर्थिक संगठन का सिद्धान्त'** में उसने नौकरशाही के **'आदर्श प्रकार'** (Ideal Type) का वर्णन किया है। प्रशासन सम्बन्धी आधुनिक विचारकों पर भी वेबर का बहुत प्रभाव रहा है। वेबर के नौकरशाही सिद्धान्त तथा वैधानिकता और प्रभुत्व सिद्धान्तों ने ही भावी सिद्धान्तों का आधार तैयार किया। वेबर ने औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में प्रबन्ध प्रणाली में व्याप्त व्यक्तिगत अधीनता, भाई-भतीजावाद, निर्दयता और व्यक्तिपरक निर्णयों के चलन के विरुद्ध अपने इस **मॉडल** (आदर्श प्रकार की नौकरशाही) का विकास किया था। उसका विश्वास था कि औद्योगिक क्रान्ति को गति प्रदान करने वाली मानव और यन्त्र ऊर्जा का उपयोग करने और उसे उपलब्ध कराने के लिए **नौकरशाही** सर्वोत्तम साधन है। उसने नौकरशाही को प्रशासन की तर्कपूर्ण (Rational) व्यवस्था माना है। उसके मतानुसार संस्थागत मानव व्यवहार में तर्कपूर्णता लाने का सर्वोत्तम साधन नौकरशाही है। मैक्स वेबर ने सत्ता के वर्गीकरण का प्रयास किया था। वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त प्रभुत्व के सिद्धान्त का ही एक अंग है। प्रभुत्व का अर्थ है नियन्त्रण की अधिकारिक शक्ति। दूसरे शब्दों में कहें तो वेबर ने यह प्रश्न उठाया कि कैसे एक व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाता है और इसी के उत्तर में यह भी कहा कि प्रभुत्व का उपयोग यदि किसी भी तरह न्यायसंगत तथा वैध हो तो वह स्वीकार्य हो जाता है। एक तरह से देखें तो एक प्रकार की वैधता से किसी विशिष्ट प्रकार का प्रभुत्व होता है और दूसरी तरह की वैधता से एक अन्य प्रकार का। वेबर ने प्रभुत्व के कुल तीन प्रकार माने—(i) पारम्परिक प्रभुत्व, (ii) श्रद्धा पर आधारित प्रभुत्व, तथा (iii) वैधानिक प्रभुत्व। नौकरशाही इनमें से अन्तिम श्रेणी में आती है। विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही को वह संगठन का सबसे प्रभावशाली स्वरूप मानता था।

जैसा कि हम सभी जानते हैं, राजनीतिक, धार्मिक, व्यापारिक, सैनिक, शैक्षिक और अन्य संगठनों में **नौकरशाही** देखी जा सकती है। **'नौकरशाही'** शब्द, सरकार, उद्योग तथा सेना जैसे आधुनिक बड़े-बड़े संगठनों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त होता है। संस्थाओं के उद्देश्य भिन्न हो सकते हैं, परन्तु उनके **'नौकरशाही तन्त्र'** की विशेषताएं एक-सी होती हैं। नौकरशाही के **'आदर्श रूप'** (Ideal Type) की कतिपय विशेषताओं का वर्णन मैक्स वेबर ने किया है, जो निम्नलिखित है—

1. **स्पष्ट श्रम-विभाजन** (Clearcut Division of Labour)—नौकरशाही में संगठन के सभी कर्मचारियों के बीच कार्य का सुनिश्चित तरीके से स्पष्ट वितरण किया जाता है तथा प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्य प्रभावशाली रूप से सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है।

2. निश्चित कार्यविधियां (Set Procedures)—नौकरशाही संगठन में कार्यविधियां पूर्णतया निश्चित रहती हैं। संगठनों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो भी क्रियाएं करनी होती हैं, उनकी रीतिया पूर्व-निर्धारित होती हैं। समस्त कार्य पूर्व-निश्चित नियमों के अनुसार किए जाते है। ये नियम और प्रक्रियाएं कुल मिलाकर स्थिर और व्यापक होती हैं। विशेष बल इस वात पर रहता है कि कार्यकुशलता एक-सी वने रहे, लक्ष्य का औचित्य निर्वैयक्तिक तरीके से सिद्ध किया जाता है, व्यवहार नियमो के अन्तर्गत, एक सिलसिलेवार अनुशासन और नियन्त्रण के अन्तर्गत होना चाहिए।

3. निश्चित कार्यक्षेत्र (Clearly defined Functions)—नौकरशाही व्यवस्था की एक अन्य विशेषता यह है कि संगठन के कार्यो को पूरा करने के लिए जिन आदेशों की आवश्यकता होती है उनको जारी करने वाले पदाधिकारियों का कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है। इस कार्यक्षेत्र का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है। कोई भी पदाधिकारी अपने निर्धारित क्षेत्र के वाहर नहीं जाता।

4. कार्यों को पूरा करने के लिए विधिपूर्वक व्यवस्था (Consistent System of Abstract Rules)—नौकरशाही पद्धति में कार्यो को नियमित रूप से पूरा करने के लिए विधिपूर्वक व्यवस्था की जाती है। कार्य पूर्ण क्षमता के साथ सम्पन्न हो, इस उद्देश्य से केवल उन्हीं व्यक्तियों को संगठन में नियुक्त किया जाता है जो निर्धारित योग्यताएं रखते है।

5. पदसोपान पद्धति (Hierarchical Structure)—नौकरशाही प्रणाली पदसोपान पद्धति पर आधारित होती है। इसमें कर्मचारी के वीच उच्च अधीनस्थ सम्बन्ध (Superior-subordinate relationship) पाया जाता है। आदेश के सूत्र ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं। संगठन का प्रशासनिक ढांचा एक 'पिरैमिड' के समान रहता है उच्चतम और निम्नतम अधिकारियों के बीच कई सोपानें रहती है। हर काम 'उचित मार्ग से' (through proper channel) होता है।

6. पद के लिए अर्हताएं अथवा योग्यताएं (Selections on the basis of Qualifications)—नौकरशाही का एक लक्षण यह है कि इसमें प्रत्येक पद के लिए योग्यताएं निर्धारित रहती हैं। इसमें केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है जो कार्यकुशल हों और सरकारी कार्यो का संचालन कुशलता से कर सकें, नौकरशाही शासन के पदाधिकारियों की न केवल भर्ती वल्कि पदोन्नति भी योग्यता के आधार पर की जाती है।

7. वेतन एवं पेंशन अधिकार (Monthly Salary and Pension Right)—नौकरशाही संगठन की आय के आधार पर कर्मचारियों का वेतन तय नही किया जाता वरन् पदसोपान में उसका स्तर, पद के दायित्व, सामाजिक स्थिति, आदि वातों का ध्यान रखकर तय किया जाता है।

8. निर्वैयक्तिक सम्बन्ध (Impersonal Relations)—नौकरशाही की एक अन्य विशेषता यह है कि कर्मचारियों के बीच सम्बन्ध निर्वैयक्तिक होते हैं। नौकरशाही ढांचे में दफ्तर की स्थिति व्यक्तिगत सम्बन्धों, भावनाओं और अनुभूतियों से मुक्त होती है और इनसे प्रभावित नहीं होती। निर्णय औचित्य के आधार पर लिए जाते हैं न कि व्यक्तिगत आधार पर। यद्यपि वास्तविक परिस्थितियों में इस प्रकार का गैर-व्यक्तिगत दृष्टिकोण अपनाया नहीं जा सकता

तो भी वेबर का दृढ मत है कि नौकरशाही तन्त्र औचित्यपूर्ण निर्णयों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

मैक्स वेबर के विचारों की आलोचना (Criticism of the Ideas of Max Weber)—नौकरशाही के अध्ययन तथा विवेचन में मैक्स वेबर का योगदान एक पथ-प्रदर्शक का रहा है। उसके द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण की प्रतिक्रियास्वरूप समाजशास्त्रियों तथा लोक प्रशासन के विद्वानों द्वारा भारी आलोचनाएं प्रस्तुत की गयी हैं। वेबर की मान्यताओं के विरुद्ध प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—(i) वेबर द्वारा प्रस्तुत 'आदर्श रूप' (Ideal Type) शब्द ही दुर्भाग्यपूर्ण है।[1] नौकरशाही में कुछ भी आदर्श नही है। (ii) आलेचकों के अनुसार वेबर के विचार उपकल्पना के रूप में हैं, उनका कोई गवेषणात्मक आधार नहीं है। वह मानव मनोविज्ञान, व्यक्ति के अनौपचारिक सम्बन्ध तथा अनौपचारिक प्रभावों पर विशेष ध्यान नहीं देता, (iii) यदि नौकरशाही के 'आदर्श रूप' की समस्त विशेषताएं भी किसी संगठन में एक साथ अपना ली जाएं तो भी वे अनिवार्यतः अधिकतम कार्यकुशलता पैदा नहीं कर पातीं क्योंकि यथार्थ में संगठन की कार्यकुशलता का निर्धारण कुछ विशेष संगठनात्मक स्थितियों द्वारा होता है—जैसे कार्यकर्ताओं का तकनीकी स्तर, संगठन के लक्ष्य तथा संगठन का सामाजिक वातावरण, आदि (iv) वेबर ने नौकरशाही के पूर्णतः औपचारिक रूप का अध्ययन किया है तथा सामाजिक घटनाओं या अनौपचारिक सम्बन्धों को केवल प्रसंगवश मानकर छोड़ दिया है जबकि तथ्य यह है कि अनौपचारिक कार्य एवं सम्बन्ध अनौपचारिक संगठन के सुचारु कार्य संचालन के लिए अति आवश्यक हैं।

संक्षेप में, वेबर द्वारा नौकरशाही के 'आदर्श रूप' की अवधारणा अनेक आलोचकों के तीखे प्रहारों का शिकार बनी है। इतने पर भी नौकरशाही के अध्ययन में वेबर का अद्वितीय स्थान है। इनके कटु आलोचक कार्ल जे. फ्रेडरिक ने उनकी प्रतिभा को स्वीकार करते हुए उसे अध्ययन की महत्वपूर्ण दिशाएं खोजने वाला बताया है।[2]

नौकरशाही के लक्षण अथवा विशेषताएं
(SALIENT FEATURES OF BUREAUCRACY)

नौकरशाही 'लोक सेवाओं' के दोषों की ओर संकेत करती है। साधारणतः इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि लोक सेवा के कर्मचारी लालफीताशाही के दोष से घिरे रहते हैं तथा वे जनहित की उपेक्षा करते हैं। नौकरशाही उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारी अपने को जनता का सेवक न समझकर स्वामी समझने लगते हैं, जनहित की उपेक्षा करते है, नियमों और विनियमों का कठोरता से पालन करते हैं और कार्य में विलम्ब होता है। वस्तुतः नौकरशाही के तरीके अनमनीय, यान्त्रिक, हृदयहीन एवं औपचारिक हो जाते है। वे जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते हैं और अपनी श्रेष्ठता का दावा करते हैं। फाइनर ने इसे 'मेज का शासन' कहकर पुकारा है। संक्षेप में, नौकरशाही एक कार्यकुशल, प्रशिक्षित तथा कर्तव्यपरायण सरकारी कर्मचारियों का विशिष्ट संगठन है जिसमें 'पदसोपान' तथा 'आज्ञा की एकता' के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाता है।'

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने नौकरशाही के छः लक्षण बतलाए हैं।[3] ये लक्षण इस प्रकार हैं—

1 [illegible] "in Robert [illegible]

2 [illegible]

3 [illegible]

1. कार्यों का विभिन्नीकरण;
2. पद के लिए योग्यताएं;
3. पदसोपान क्रम का संगठन तथा अनुशासन;
4 कार्य रीति की वस्तुनिष्ठता;
5. लालफीताशाही;तथा
6 प्रशासनिक कार्यों के सम्बन्ध में गुप्तता।

नौकरशाही के निम्नलिखित प्रमुख 'लक्षण' हैं—

1. **कानून व नियमों में अटूट विश्वास**—नौकरशाही का कानूनों और नियमों में अटू विश्वास होता है, उसको प्रारम्भ से ही इस बात का प्रशिक्षण दिया जाता है कि जो भी कार्य किया जाए कानून एवं नियम के अनुसार किया जाए। लोकतन्त्र में कानून को सर्वोच्च स्था दिया जाता है, क्योंकि यह समझा जाता है कि कानून सार्वजनिक इच्छा का प्रतीक है। नौकरशाही जो भी कार्य करती है कानून के अनुसार ही करती है। नौकरशाही के सदस् अपनी स्वय की मर्जी के अनुसार कोई कार्य नहीं कर सकते। उनको वही कार्य करने पड़ें जो कानून या नियम के अनुसार निर्धारित व अपेक्षित है। ऐसे बहुत-से अवसर आते हैं ज कानून का पालन किसी के हित में नहीं होता, परन्तु नौकरशाही कानून की अवज्ञा नहीं क सकती।

2. **प्रत्येक पद के लिए निर्धारित सत्ता**—नौकरशाही में प्रत्येक नौकरशाह की स परिभाषित और निर्धारित होती है। वह उस सत्ता से बाहर कार्य करने की स्थिति में नहीं हो है। उदाहरण के लिए, एक जिले का अधिकारी अपने जिले में ही सत्ता का प्रयोग कर सक है, दूसरे जिले मे जाकर वह सत्ता का प्रयोग नही कर सकता है। जिस विभाग का अधिका है उस विभाग से सम्बन्धित ही कार्य कर सकता है, अन्य विभाग से सम्बन्धित कार्य वह न कर सकता। एक आयकर अधिकारी आयकर लगा सकता है, परन्तु मिलावट करने वाले विरुद्ध कोई कदम नही उठा सकता। "नौकरशाही में कार्य अथवा उत्तरदायित्व के क्षेत्र कठोर के साथ परिभाषित, विशेषीकृत और उप-विशेषीकृत कर दिए जाते हैं।"

3. **प्राविधिक विशेषता**—नौकरशाही के काम करने का एक विशिष्ट ढंग होता है। द से जो संगठन कार्यरत है उस संगठन की अपनी अलग एक विशेषज्ञता स्थापित हो ही ज है। उस विशेषज्ञता को वही लोग जानते है जो नौकरशाही के अंग हैं। जो नौकरशाही अंग नही हैं उनको वह विशेषज्ञता एक ऐसे दुर्ग के समान मालूम् होती है जिसकी दीव को वेध सकना एक दुष्कर कार्य है। एक सरकारी कर्मचारी अपना समस्त जीवन एक वि कार्य में लगा देता है। यह तथ्य उसमें एक प्रकार की विशेषज्ञता का भाव पैदा कर देता एक विशेष कुशलता मे प्रशिक्षित, उसे बार-बार दोहराने वाला तथा अपने पद पर आजी रहने वाला अधिकारी एक विशेष कार्य मे योग्य बन जाता है।

4. **सत्ता का आधार राज्य व शासन का कानून**—नौकरशाही जो भी कार्य करती है उस कार्य को करने का अधिकार उसको शासन से प्राप्त होता है। सामान्य नागरिक यदि नौकरशाही के किसी अंग के विरुद्ध आवाज उठाता है तो यह समझा जाता है कि उस नागरिक ने देश के कानून को अपने हाथ में लिया है। सरकारी कर्मचारी के काम में बाधा डालने का अर्थ है

कानूनों का उल्लंघन। इस स्थिति से शासकीय कर्मचारी को सुरक्षा का एक कवच मिल जाता है जिसके अन्दर रहकर वह निर्भय होकर स्वेच्छा से काम कर सकता है।

5. **आजीविका अर्जित करने वालों का समूह**—नौकरशाही के सदस्य इसलिए लोक सेवा में भर्ती हुए हैं कि उनको *समाज सेवा करनी है। उनका उद्देश्य तो आजीविका का अर्जन* करना होता है। लोक सेवक 'लोक सेवा' के लिए घर से नहीं निकलते हैं, वे अपना और अपने बच्चों का पेट पालने के लिए घर से निकलते है। वे जो कार्य करते है उसके लिए उनको वेतन दिया जाता है।

6 **कागजी कार्यवाही**—आधुनिक कार्यालय की प्रवन्ध व्यवस्था, लिखित दस्तावेजों तथा फाइलों पर ही आधारित है। कार्यालय की गतिविधियां शासक, उद्यमी तथा कार्मिकों के निजी कार्यों से अलग रहती है। इसी प्रकार कार्यालय से सम्बद्ध कोई निर्णय व्यक्तिगत नही होता, प्रत्येक कार्य, निर्णय तथा आदेश लिखित में (रिकार्ड में) होता है। फाइलें, पंच कार्ड अथवा कम्प्यूटर टेप, आदि संस्था के स्मृति कोष हैं, जो भविष्य में कुशल निर्णय लेने में सहायक होते है।

नौकरशाही के प्रकार
(TYPES OF BUREAUCRACY)

एफ. एम. मार्क्स ने नौकरशाही के चार रूपों की चर्चा की है—(i) अभिभावक नौकरशाही (Guardian Bureaucracy); (ii) जातीय नौकरशाही (Caste Bureaucracy); (iii) संरक्षक नौकरशाही (Patronage Bureaucracy); तथा (iv) योग्यता नौकरशाही (Merit Bureaucracy)। मार्क्स की मान्यता है कि इन रूपों में से एक भी किसी देश में पूरी तरह उपलब्ध नहीं होता। यहां हम मार्क्स द्वारा वर्णित नौकरशाही के रूपों की विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन करेंगे—

1. **अभिभावक नौकरशाही** (Guardian Bureaucracy)—इस प्रकार की नौकरशाही जनहित के लिए काम करती है। इसके सारे कामों के पीछे जनहित की भावना छिपी होती है। वे न्याय तथा लोक-कल्याण के संरक्षक होते हैं। प्लेटो की रिपब्लिक में वर्णित अभिभावक (Guardian) *को इस श्रेणी की नौकरशाही कहा जा सकता है।* मार्क्स ने अभिभावक नौकरशाही के दो उदाहरण दिए हैं—चीनी नौकरशाही (सुंगकाल के उदय से 960 तक) और प्रशा की नौकरशाही (सन् 1640 से 1950 तक)। चीन की अभिभावक नौकरशाही की विशेषताएं थीं : (i) प्रशासकों के चयन में प्राचीन ग्रन्थों का प्रभाव; (ii) प्रशासनिक आचरण का स्रोत एवं आधार प्राचीन ग्रन्थ; (iii) परम्परावादी एवं रूढ़िवादी प्रकृति। जनहित की समस्याओं से उदासीन प्रशा की नौकरशाही की विशेषताएं थीं—(i) राज्य के हित में समर्पित; (ii) एकीकृत एवं सन्तुलित प्रशासनिक व्यवस्था; (iii) शिक्षित एवं योग्य प्रशासक; (iv) सजग राजतन्त्र (Enlightened Monarch) के मूल्यों के अनुरूप; (v) जन भावावेशों के प्रति अनुत्तरदायी। इस प्रकार की नौकरशाही की परिभाषा करते हुए मार्क्स ने कहा है कि यह विद्वान *अधिकारीगण होते हैं जो शास्त्रोक्त आचरण में दीक्षित होते हैं।"* ऐसी *लोक सेवा* अपने आपको लोकहित का अभिरक्षक मानती थी, किन्तु यह लोकमत से स्वतन्त्र थी तथा उसके प्रति उत्तरदायी भी होती थी। एक ओर तो यह न्यायपूर्ण, सक्षम, कार्यकुशल तथा लोकहितकारी होती थी, किन्तु दूसरी ओर अनुत्तरदायी तथा अधिकारयुक्त होती थी।

2. जातीय नौकरशाही (Caste Bureaucracy)—जब प्रशासनिक तथा राजनीतिक सत्ता एक ही वर्ग विशेष के हाथों में हो तब जातीय नौकरशाही का उद्भव होता है। जातीय नौकरशाही का आधार एक वर्ग विशेष होता है। इस प्रकार की नौकरशाही अल्पतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं वाले देशों में व्यापक रूप से प्रचलित है। ऐसी व्यवस्थाओं में केवल वे ही व्यक्ति सरकारी अधिकारी हो सकते हैं जो उच्चतर वर्गों या जातियों के होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही उच्चाधिकारी हो सकते थे। भारतीय नरेश अपनी सेवा में समाज के उच्च वर्ग के सदस्यों को ही भर्ती करते थे। इसे विलोबी ने 'कुलीनतन्त्र ... नौकरशाही' ... की प्रमुख ... जाति में अन्तर्सम्बन्ध; (iii) सेवा अथवा पद का एक परिवार से जुड़ जाना; (iv) ... समाज व्यवस्था का प्रतीक। मार्क्स ने जातीय नौकरशाही के पुरातन उदाहरणों में रोमन साम्राज्य तथा अर्वाचीन उदाहरणों में जापान के मेजी संविधान का उल्लेख किया है।

3. संरक्षक नौकरशाही (Patronage Bureaucracy)—यह नौकरशाही का वह रूप है जिसमे लोक सेवाओ की नियुक्ति उनकी तुलनात्मक योग्यता के आधार पर नहीं की जाती है वरन् नियोक्ता और प्रत्याशियो के राजनीतिक सम्बन्धों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की नौकरशाही मे चुनाव में विजयी राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को ऊंचे पदों पर नियुक्त करते हैं। निर्वाचन में विजयी होने के परिणामों को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक था कि प्रशासनिक मशीनरी पर भी नियन्त्रण स्थापित किया जाए। प्रतिबद्ध नौकरशाही (Committed Bureaucracy) भी प्रायः इसी प्रकार की विचारधारा में विश्वास रखती है। इसका दूसरा नाम 'लूट पद्धति' है। संयुक्त राज्य अमरीका इसका परम्परागत घर है। इस तरह की लोक सेवा का अस्तित्व वहां होता है जहां सरकारी पद पर नियुक्ति किसी व्यक्तिगत अनुग्रह या राजनीतिक पुरस्कार के रूप में की जाती है। सं. रा. अमरीका में प्रत्येक नव-निर्वाचित राष्ट्रपति के साथ अनेक कार्य कर रहे उच्च प्रशासनिक पदाधिकारी पद मुक्त कर दिए जाते थे और उनके स्थान पर ऐसे व्यक्तियों की भर्ती की जाती थी जिन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव में भारी समर्थन किया हो, जो उसके दल का प्रमुख व्यक्ति हो अथवा अन्य किसी भी कारण से वह राष्ट्रपति को पसन्द हो। यह लूट प्रणाली वाशिंगटन, जेफरसन तथा ऐडम्स के समय लघु रूप में आरम्भ हुई थी। सन् 1829 में जब जैक्सन राष्ट्रपति पद पर सत्तारूढ़ हुए तो इस लघु धार ने वेगवती नदी का रूप धारण कर लिया एवं तीव्र गति से प्रवाहित होने लगी। संरक्षक नौकरशाही की कतिपय मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—(i) इसमें कर्मचारी की भर्ती के समय उनकी शैक्षणिक अथवा व्यावसायिक योग्यता को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। (ii) लोक सेवाओं से सत्ताधारी दल के कार्यक्रमों एवं नीतियों के साथ प्रतिबद्धता की अपेक्षा की जाती है। (iii) लोक सेवकों का कार्यकाल सुरक्षित नहीं होता। वे अपने पद पर तभी तक कार्य कर सकते हैं जब तक कि उन्हें सत्ताधारी दल का संरक्षण प्राप्त है। (iv) लोक सेवकों का मुख्य कार्य राजनीतिक नेतृत्व को प्रसन्न रखना होता है। प्रशासन राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ नही रह पाता।

4. योग्यता नौकरशाही (Merit Bureaucracy)—योग्यता पर आधारित नौकरशाही का आधार सरकारी अधिकारी के गुण (Merits) होते हैं। योग्यता की जांच के लिए निष्पक्ष

तथा वस्तुगत परीक्षाएं आयोजित की जाती हैं। इसका लक्ष्य लोक सेवा की कुशलता है। इसका लक्ष्य 'प्रतिभा के लिए खुला पेशा' होता है। इस व्यवस्था में लोक सेवक किसी के अनुग्रह भार से दबा हुआ नहीं रहता तथा सदैव सामान्य हित की अभिवृद्धि में रुचि ले सकता है। सभी सभ्य देशों में नौकरशाही की यही पद्धति प्रचलित है। आधुनिक लोकतन्त्र में लोक कर्मचारी वास्तव में लोगों की सेवा में नियुक्त एक अधिकारी होता है और उसकी भर्ती निश्चित योग्यता के आधार पर निश्चित उद्देश्य हेतु की जाती है। योग्यता नौकरशाही की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) योग्यता के आधार पर नियुक्तियां तथा नियुक्तियों की जांच के लिए लिखित परीक्षाएं; (ii) कार्यकाल की सुरक्षा; (iii) नियमानुसार निर्धारित वेतन; (iv) निष्पक्ष एवं निर्भयतापूर्ण कार्य संचालन; (v) राजनीतिक विचारधारा या नीतियों के प्रति प्रतिबद्धता के स्थान पर देश के संविधान एवं अपने कर्तव्यों के प्रति सजग; (vi) वस्तुनिष्ठ मापदण्ड (objective) के आधार पर काम होता है; (vii) प्रत्याशी किसी संरक्षक की कृपा से प्रवेश नहीं पाता अतः उसे किसी संरक्षक का उपकार मानकर उससे दबने की आवश्यकता नहीं रहती।

भारतीय नौकरशाही की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF THE INDIAN BUREAUCRACY)

भारत में उपनिवेशकालीन ब्रिटिश राज के युग में प्रशासन में नौकरशाही की सर्वोपरिता थी। ब्रिटिश शासनकाल से ही भारतीय प्रशासन नौकरशाही प्रधान रहा है। आई. सी. एस. (I. C. S.) अफसरों का ऐसा हुजूम तैयार किया गया जो शक्ति और डण्डे के बल पर शासनतन्त्र की गाड़ी खींचते रहे। आई. सी. एस. की सदस्यता गरिमा का प्रतीक मानी जाती थी और शासन सत्ता में इस वर्ग के अधिकारी छाए रहे। स्वाधीनता के उपरान्त आई. ए. एस. वर्ग के अफसरों की एक और पृथक् जमात खड़ी हो गयी जिसे कुशल और सक्षम प्रशासन का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया गया। इसी नौकरशाही ने विगत वर्षों में शासन सत्ता का स्वाद चखा, प्रशासनिक पदों को गौरवान्वित किया और लोकशाही की उपेक्षा की। भारतीय नौकरशाही की विशेषताएं निम्नलिखित है—

1. **स्थायित्व**—लोक सेवा के सदस्य स्थायी रूप से अपने पदों पर रहते हैं। लोक सेवा के सदस्य युवाकाल में सेवा में प्रवेश करते है और एक निश्चित आयु के बाद पद-निवृत्त हो जाते है।

2. **राजनीति से तटस्थता**—लोक सेवा के सदस्य राजनीतिक दलबन्दी में सक्रिय भाग नहीं लेते। ये राजनीतिक दलों के सदस्य नही होते, राजनीतिक आन्दोलन और निर्वाचन में भाग नही लेते। किसी भी दल की सरकार सत्ता में हो, उनका कार्य तो सरकार की नीतियों का क्रियान्वयन है।

3. **व्यावसायिक**—लोक सेवा के सदस्य पेशेवर कहे जा सकते हैं। सरकारी कर्मचारियों का कार्य सरकारी सेवा करना है, जिसके लिए सामान्य दक्षता की आवश्यकता पड़ती है, यद्यपि व्यावसायिक एवं प्राविधिक सरकारी सेवाओं हेतु विशिष्ट तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है।

4. **पदसोपान**—लोक सेवाओं का संगठन पदसोपान के सिद्धान्त पर होता है। पदसोपान का शाब्दिक अर्थ है उच्चतर व्यक्ति द्वारा निम्नतम व्यक्तियों पर शासन। यह एक क्रमिक

संगठन है जिसमें निम्नस्तरीय व्यक्ति, उच्चस्तरीय व्यक्ति या पदाधिकारी के प्रति उत्तरदाई रहते हैं।

इन सैद्धान्तिक विशेषताओं के अतिरिक्त भारतीय नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएं भी व्यावहारिक अध्ययन में प्रकट होती हैं—

1. भ्रष्टाचार—हमारे देश में अधिकांश शासकीय कार्य लोक सेवा के कर्मचारियों के द्वारा ही किए जाते हैं। गांवों की अशिक्षित जनता अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए पटवारी, ग्राम सेवक, तहसील कार्यालय के क्लर्कों तथा जिले के अधिकारियों की तरफ देखती है। कृषि के लिए खाद लेना हो या सहकारी बैंक से कर्ज या पटवारी से कोई पट्टा तो रिश्वत का सहारा लेना ही पड़ता है। यदि किसी असावधानी से पुलिस के चंगुल में कोई फंस जाता है तो उसकी कमर ही टूट जाती है।

2. राजनीति में संलग्नता—सर्वोच्च स्तर पर बड़े-बड़े अफसर ऊपर से तटस्थ दिखाई देते हैं, किन्तु उनका राजनीति से कहीं-न-कहीं तादात्म्य भी रहता है। वे अपने विचारों को छिपाकर सरकारी निर्णयों पर प्रभाव डालते रहते हैं।

3. लालफीताशाही —भारत की प्रशासनिक सेवाओं में लालफीताशाही अथवा अनावश्यक औपचारिकता पायी जाती है। अधिकारीगण प्रक्रिया की औपचारिकता में विश्वास करते हुए नियमों और विनियमों का पालन कठोरता के साथ करते हैं। इसके परिणामस्वरूप कार्य की सम्पन्नता में विलम्ब होता है और महत्वपूर्ण निर्णय शीघ्र नहीं लिए जा सकते। नौकरशाही प्रक्रिया की औपचारिकता को अपना उद्देश्य बना लेती है और जनता की सेवा की उपेक्षा करती रहती है। औपचारिकता का अत्यधिक पालन करते-करते कर्मचारी तन्त्र मशीन की तरह बन गया है और इसकी निर्णय क्षमता क्षीण हो गयी है। अधिकारीगण उत्तरदायित्व वहन करना पसन्द नही करते, हर बात का उत्तरदायित्व दूसरों पर डालते रहते हैं।

4. शासन करने की अहं वृत्ति—भारत की नौकरशाही में एक झूठा अहं आज भी समा हुआ है कि वे जनता के स्वामी है न कि सेवक। शासन करने के लिए ही वे बड़े-बड़े धारण कर रहे है न कि जनता की सेवा करने के लिए। आजादी के बाद भी नौकरशाही देश की जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकी। सामान्य जनता के सुख-दुख से अधिकारीगण कितने अलग-थलग रहते हैं इसका अवलोकन गांवो में जाकर आसानी से किया जा सकता है।

5. विशेषज्ञों की उपेक्षा—भारतीय प्रशासन सामान्यज्ञ प्रधान है। उदार शिक्षा प्राप्त अधिकारियो का एक विशिष्ट वर्ग ही समूचे शासन मे प्रशासनिक पदों को ग्रहण करता है। ऐसे सामान्यज्ञ प्रशासक कभी वित्त विभाग में उच्च पदों पर नियुक्त किए जाते हैं तो कभी सिंचाई, बिजली, यातायात, शिक्षा, आदि अन्य विभागों की देखभाल करते हैं। यदि आज जिलाधीश के रूप में कार्य करते हैं तो कल उन्हें शिक्षा संचालक अथवा सहकारी विभाग के सचिव के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। संक्षेप में, सामान्यज्ञ प्रशासक को सब रोगों की एकमात्र दवा मान लिया गया है।

6. त्रि-स्तरीय सेवा संरचना—संघ शासन के विचार के साथ केन्द्रीय सेवाएं अखिल भारतीय सेवाओं से अलग होकर स्वतन्त्र रूप में उभरी और इस तरह अखिल भारतीय सेवा (All India Services), केन्द्रीय सेवाओं (Central Services) तथा प्रान्तीय सेवा

(Provincial Services) के रूप में एक त्रिकोणात्मक सेवा संरचना उदित हुई जो स्वतन्त्र भारत को अंग्रेजी राज से विरासत में मिली। इन तीनों प्रकार की उच्च सेवाओं में विभिन्न सेविवर्ग अथवा 'काडर्स' बने, जिसकी ज्येष्ठ, कनिष्ठ, आदि कितनी ही सेवा श्रेणियों के रूप में इन लोक सेवाओं का विकास हुआ।

7. **अभिजनवादी प्रतिबद्धता**—वैसे तो संसार के सभी देशों में योग्यता आधारित लोक सेवाएं अपने आप में 'एलीट' (elite) होती है और वे जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नही कर सकतीं। भारत में जहां का समाज जाति, धर्म, क्षेत्र एवं भाषा की सीमाओं में बंधा हुआ जड़ था वहां यह प्रशासक वर्ग एक नयी जाति के रूप में उभरकर नया अभिजन वर्ग बन गया है।

भारतीय प्रशासन-तन्त्र के चरित्र के अध्ययन के बारे में अनेक विद्वानों ने अपने अध्ययन प्रस्तुत किए हैं—उदाहरण के तौर पर सर्वश्री चन्द्र प्रकाश भाम्भरी, माइकेल गाइल्ड, नरेन्द्र कुमार सिंघई तथा त्रिवेदी एवं राव ने आनुभाविक पद्धतियों के प्रयोगों से कई नए-नए, उल्लेखनीय तथा सर्वथा अप्रत्याशित तथ्य प्रस्तुत किए हैं। मोटे तौर पर कहा जाए तो हमारे देश में किसी भी प्रशासनिक अधिकारी की पृष्ठभूमि में चार कारक पाए जाते हैं और ये हैं—(अ) उच्च विश्वविद्यालयी उपाधियां, (ब) शहरी पृष्ठभूमि, (स) मध्यमवर्गीय विचार भूमि, एवं (द) प्रशासनिक सेवाओं में कार्यरत माता-पिता। फलतः हमें भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में 'नव ब्राह्मणवाद' का उदय साफ-साफ नजर आता है।

8. **अनुत्तरदायी सेवा संरचना**—ब्रिटिश शासन काल में नौकरशाही को जो शासक की भूमिका मिली थी वह बहुत सम्भव हो सकी कि अंग्रेज राजनीतिज्ञ लन्दन में रहते थे और सेवा के महत्वपूर्ण अधिकारी अंग्रेज ही होते थे। अतः स्वाभाविक था कि नौकरशाही को शक्ति प्रदान की जाए और उस पर विश्वास किया जाए। परिणामस्वरूप नौकरशाही एक ऐसे तन्त्र के रूप में सामने आयी जिस पर जनता, कानून एवं राजनीतिज्ञों का कोई अंकुश नही था। ब्रिटिश सरकार उन्हें अपना प्रतिनिधि मानती थी और भारत की जनता उन्हें अपना शासक समझती थी। औपनिवेशिक काल की स्थिति में शासन सेवाओं पर जो भी नियन्त्रण अपेक्षित होते हैं, उन्हें विकसित नहीं होने दिया। परिणाम यह निकला कि लोक सेवाएं कानून की प्रतीक और संरक्षक से अधिक कानून की मालिक बन गयीं। अंकुशों के अभाव में नौकरशाही अनुत्तरदायी बन गयी थी और हजारों मील दूर से उन पर निर्भर करने वाला भारत सचिव उनका नाममात्र का नियन्त्रक बना रहा। अतः स्वतन्त्र भारत को प्रशासनिक क्षेत्र में जो विरासत मिली उसमें अनुत्तरदायी सेवाएं एक बहुत बड़ी विशेषता थी।

नौकरशाही के दोष

अथवा

नौकरशाही की बुराइयां

(EVILS OF BUREAUCRACY)

जहां कहीं भी लोक सेवा के कार्मिक प्रभावशाली जन नियन्त्रण की परिधि से बाहर रहते हैं, जहां वे अपने निजी लाभ के लिए कार्य करते हैं, जहां वे सार्वजनिक आलोचना के प्रति उत्तरदायी एवं जवाबदेह नहीं होते हैं, जहां वे जनता अथवा संसद की आलोचना के किसी भी प्रकार के भय के बिना समाज में एक पृथक् वर्ग का रूप धारण कर लेते हैं वहां उन्हे नौकरशाही अफसरों (Bureaucrats) की संज्ञा दी जाती है। किसी समाज को पूर्णतया

नौकरशाही तब कहा जाता है जबकि शासनतन्त्र समाज के प्रचलित रुझानों तथा मूल्यों के प्रति यथेष्ट रूप में जवाबदेह नहीं होता।

कतिपय विद्वानों ने नौकरशाही पद्धति की कड़ी आलोचना की है। वैसे तो 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग ही बहुधा घृणा अथवा तिरस्कार के साथ किया जाता है। नौकरशाही के आलोचकों में रैम्जे म्योर तथा लॉर्ड हेवार्ट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लॉर्ड हेवार्ट ने 1929 में प्रकाशित अपनी 'नवीन निरंकुशता' (*New Despotism*) नामक पुस्तक में सिविल सेवकों की कठोर आलोचना करते हुए कहा कि वे ऐसी शक्तियां हथियाने का प्रयत्न कर रहे हैं जो यथार्थ में व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के क्षेत्र में आती हैं। रैम्जे म्योर ने नौकरशाही पर यह लांछन लगाया है कि "नौकरशाही मन्त्रीय उत्तरदायित्व की आड़ में फूलती-फलती है।"[1] उन्होंने नौकरशाही की तुलना अग्नि से की है, जो कि एक सेवक के रूप में तो बहुत उपयोगी सिद्ध होती है, परन्तु "जब वह स्वामी या मालिक बन जाती है, तो घातक सिद्ध होती है।"[2] प्रो. लास्की के अनुसार, "नौकरशाही एक ऐसी सरकारी व्यवस्था है जिसका नियंत्रण पदाधिकारियों के हाथों में इतना अधिक रहता है कि उनकी शक्ति सामान्य नागरिकों की स्वतन्त्रताओं को संकट में डाल देती है।"[3]

नौकरशाही के ढांचे की आलोचना इसलिए भी की जाती है कि यह 'नौकरशाही की बीमारी' को बढ़ावा देती है। विक्टर थाम्पसन ने इसे 'ब्यूरोपैथॉलोजी' की संज्ञा दी थी। थाम्पसन इसे इसलिए बीमारी मानता है क्योंकि इसकी वजह से लक्ष्य प्राप्त करने में रुकावट आ सकती है।

अमरीकी राष्ट्रपति हूवर का मत था कि नौकरशाही में प्राप्त स्वस्थिरता, स्वविस्तार और अधिक शक्ति की मांग तीन ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं। कहा जाता है कि नौकरशाही लोकप्रिय मांगो के प्रति अनुत्तरदायी होती है। नौकरशाही में शक्ति की भूख होती है और धीरे-धीरे नीति निर्माण के कार्य पर हावी होती जा रही है। नौकरशाही की आलोचना करते समय जिन दोषों का उल्लेख किया जाता है उनमे से मुख्य निम्नवत् हैं—

1. जनसाधारण की मांगों की उपेक्षा (Unresponsiveness to Popular Demands)—नौकरशाही यह मानकर चलती है कि वह लोकहित की संरक्षक है और उसी के द्वारा जनहित की सही व्याख्या की जा सकती है। यदि लोकमत्त जनहित के विरुद्ध है तो नौकरशाही उसकी उपेक्षा करने में आगा-पीछा नही देखती, किन्तु नौकरशाही किसी की सलाह मानने के लिए तैयार नहीं और वह अपने विवेकानुसार कार्य करती है। इससे जनसाधारण की मांगो तथा इच्छाओं की उपेक्षा होती है।

किन्तु यह दोषारोपण अतिशयोक्तिपूर्ण है। आजकल लोक सेवक जनमत को जानने और उसके अनुसार कार्य करने का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत में भी लोक सेवा ने स्वतन्त्रता के बाद हुए परिवर्तनों के साथ अपने को अनुकूल बना लेने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

1 "Bureaucracy thrives under the clock of ministerial responsibility." —*Ramsay Muir*

2 "......It is ruinous when it becomes the master" —*Ramsay Muir*

3 "A system of government the control of which is completely in the hands of the officials that their power jeopardises the liberties of the ordinary citizens." —*H. J. Laski*

2. लालफीताशाही (Red Tapism)—नौकरशाही का एक दोष यह बताया जाता है कि इसके कार्यों में पर्याप्त विलम्ब होता है। नौकरशाही के कार्य नियत प्रकृति के होते हैं। अधिकारी प्रक्रिया की औपचारिकताओं में विश्वास करते हुए कठोरता के साथ नियमों और विनियमों का पालन करते हैं जिसके परिणामस्वरूप कार्य की सम्पन्नता में बाधा पहुंचती है। नौकरशाही प्रक्रिया की औपचारिकताओं को अपना उद्देश्य बना लेती है जबकि वे जनता की सेवा के लिए माध्यम मात्र हैं। वाल्टर बेजहॉट ने इस दोष के बारे में लिखते हुए कहा है कि "यह एक अनिवार्य दोष है कि नौकरशाही अधिकारी परिणामों की अपेक्षा नियमित कार्यविधि की अधिक परवाह करते हैं।"[1] बर्क ने नौकरशाही अधिकारियों पर व्यंग्य करते हुए कहा है, "वे कार्य की विषय-वस्तु अथवा सार को कार्य के स्वरूप की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते।" इसका नतीजा यह होता है कि "वे कपड़ा तो काटते हैं, परन्तु उन्हें शरीर का पता नही होता।"[2]

लालफीताशाही का विकास कई परिस्थितियों का परिणाम है। एक बड़ा कारण यह है कि कार्यकुशलता की दृष्टि से प्रशासन कार्य के कुछ सोपान स्वीकार कर लेता है। प्रगति का क्रम, निश्चित व्यवस्था, कार्य की निर्धारित गति तथा नियम, कार्य सम्पादन, आदि कुछ चीजें हैं जिनसे लालफीताशाही जन्म लेती है। लालफीताशाही का विकास इस कारण भी प्रोत्साहित होता है कि लोक प्रशासन में कानूनों का अधिक महत्व है। प्रजातन्त्रात्मक सरकार किसी अधिकारी की अन्तरात्मा से संचालित न होकर वस्तुगत नियमों से संचालित होती है। लालफीताशाही वह साधन है जिसके माध्यम से यह निश्चित किया जा सकता है कि सरकार सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करेगी। प्रशासकों का प्रत्येक कार्य जनता की आलोचना और निरीक्षण के लिए खुला रहता है, इसलिए वह कानून के अनुसार कार्य करना उचित समझती है।

3. शक्ति प्रेम (The Lust for Power)—इसमे कोई सन्देह नहीं कि नौकरशाह शक्ति के भूखे होते है। विभिन्न विभागों के नौकरशाह शक्ति के संघर्ष में रत रहने के कारण लोकहित को भुला देते हैं। स्थायी सिविल सेवा के सदस्य लोकतन्त्र के नाम पर विभागों की शक्ति में निरन्तर वृद्धि करते जा रहे है और मन्त्रियों के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के नाम पर उन्होंने सारी शक्तियां स्वयं के हाथों में केन्द्रित कर ली हैं।

4. विभागीकरण या साम्राज्य रचना (Departmentalism or Empire Building)—नौकरशाही के कारण सरकार के कार्य पृथक्-पृथक् खण्डों मे विभाजित हो जाते हैं। ये पृथक् खण्ड बिना किसी समुचित पारस्परिक सम्बन्धों के अपने-अपने उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं। इन इकाइयों में अपने आपको स्वतन्त्र तथा पृथक् इकाइयां मानने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। वे यह भूल जाते हैं कि वे किसी बड़े समग्र के केवल अंग मात्र हैं। वे अपने ही छोटे अधिकार-क्षेत्र को अपनी अन्तिम सीमा मानने लगते है।

5. नौकरशाही की प्रवृत्ति अनुदारवादी होती है (Supporters of Conservatism)—नौकरशाही की प्रवृत्ति रूढ़िवादी होती हैं और वे यथास्थितिवाद के समर्थक होते हैं। वे नवीनता और परिवर्तन के प्रति प्रायः विरोधी भावना रखते हैं। बरट्रेण्ड रसेल लिखते हैं कि "नौकरशाही

1 "It is an inevitable defect that bureaucrats will care more for routine than for results". —*Walter Bagehot*

2 "..They cut the clothes, but do not find the body" —*Walter Bagehot*

8. **आकार में वृद्धि और कुशलता में कमी** (Increasing strength and Decreasing efficiency)—नौकरशाही की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने आकार को और अपने सदस्यों की संख्या को निरन्तर बढ़ाती हुई चलती है। 50 वर्ष पहले नौकरशाही का जो आकार था आज उसका आकार दुगुना हो गया है। अपना प्रभाव और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए कार्य अधिक न होने पर भी नौकरशाही अपने आकार मे वृद्धि करती जाती है। संख्या में वृद्धि होने पर भी कुशलता का स्तर नीचे गिरता चला जाता है। विद्वानों ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि से कुशलता गिरती है। *'लन्दन इकॉनॉमिस्ट' ने 16 नवम्बर, 1955 के अपने अंक में इस सिद्धान्त का कि आकार के बढ़ने से काम की मात्रा कम होती है'* प्रकाशन करके सबको आश्चर्य में डाल दिया। आकार व काम की मात्रा में कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नियम **'पार्किन्सन नियम'** (Parkinson's Law) के नाम से पुकारा जाता है। इससे तात्पर्य है कि काम मे वृद्धि न होने पर भी कर्मचारी वर्ग की संख्या बढ़ती चली जाती है। इसके कई कारण है—(i) प्रथम, प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत करने की नौकरशाही की इच्छा। (ii) दूसरा कारण है कि नौकरशाही की संख्या में वृद्धि करके काम के भार को हल्का कर लेना। संख्या बढ़ाकर उनको आराम का अधिक अवसर मिल जाता है। (iii) तीसरा कारण यह है कि अधिकारी यह चाहता है कि अधीनस्थों को एक-दूसरे की पदोन्नति का भय दिखाकर अनुशासन में रखा जा सके। (iv) चौथा कारण यह है कि नौकरशाही अपने कार्य को अनावश्यक रूप से बढ़ा लेती है और फिर संख्या में वृद्धि कर लेती है। पार्किन्सन नियम आंकड़ों को देकर यह सिद्ध करता है कि कर्मचारियों की संख्या में प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिशत औसत वृद्धि होती है।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त वेतन आयोग ने सन् 1948 में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की संख्या 14,45,050 बतायी थी। सन् 1957 में उनकी संख्या बढ़कर 17,73,570 हो गयी थी। *9 वर्ष के अन्तराल में उनकी संख्या में 22.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई। तृतीय वेतन आयोग* का अनुमान था कि 1971 में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की संख्या 29,82,000 थी। 1957 से 1971 के बीच सिविल सर्विस के कर्मचारियों की संख्या में 17.71 प्रतिशत की वृद्धि हुई। चतुर्थ वेतन आयोग के अनुसार 1 जनवरी, 1984 को केन्द्रीय सरकार में सिविल कर्मचारियों की संख्या 32.87 लाख थी और 1971 तथा 1984 के बीच में 27.0 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी।[1] पांचवें वेतन आयोग के अनुसार 1 जनवरी, 1994 को केन्द्रीय सरकार की सेवा में 41.76 लाख कर्मचारी कार्यरत थे और 10.3 प्रतिशत की वृद्धिदर (1984 तथा 1994 के बीच) दर्ज की गई।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नौकरशाही अनेक दोषों से पीड़ित रहती है। प्रो. रॉब्सन के अनुसार, "नौकरशाही जिन दोषों से युक्त रहती है, वे है—अधिकारियों के आत्म गौरव की अतिशयपूर्ण भावना अथवा अपने कार्यालय को अनावश्यक महत्व देना, आम नागरिकों की सुविधाओं और भावनाओं के प्रति उदासीनता दिखाना, विभागीय निर्णयों की सत्ता की लोचहीनता एवं बाध्यकारिता, विनियमों और औपचारिक प्रक्रियाओं के प्रति झुकाव, प्रशासन की विशेष इकाइयों की क्रियाओं को अधिक महत्व देना और सरकार को एक सम्पूर्ण के रूप में देखना, यह न पहचानना कि प्रशासक और प्रशासितों के बीच स्थित सम्बन्ध प्रजातन्त्रात्मक

1 P. Muthuswamy, *Fourth Central Pay Commission Report*, pp. 59-70.
2 *Report of the Fifth Central Pay Commission*, Vol. I (1997), p. 224 and 552.

प्रक्रिया का एक मूलभूत भाग है।" संक्षेप में, नौकरशाही के अन्तर्गत साधनों को साध्य और साध्यों को साधन बना दिया जाता है तथा उनमें कल्पना और दूरदर्शिता की कमी रहती है।

इन आलोचनाओ के कारण कई लेखकों को मजबूरन मानना पड़ा कि नौकरशाही बिल्कुल गुजरे जमाने की व्यवस्था है और आज के बदलते विश्व में यह अनावश्यक है। लेखकों ने इसे 'द्वीपीय बकवास', 'संगठनात्मक दैत्य', 'एक निर्वैयक्तिक पिशाच', आदि नाम दिए हैं। इन वर्गों में नौकरशाही को अवांछित और नकारात्मक समझा जाने लगा है क्योंकि इससे कार्य को तेजी से करने में अड़चनें आती हैं। अफसरशाहों को भी 'बेकार के कम्पनी वाले', समय, धन और शक्ति की बर्बादी करने वाले, आदि कहा जाता है। विद्वानों ने तो काफी पहले यह भविष्यवाणी भी की थी कि नौकरशाही अब पूरी तरह समाप्त हो जाएगी। परन्तु इन सभी नकारात्मक पहलुओ के बावजूद नौकरशाही आधुनिक प्रशासन का अभि और आवश्यक अंग है और आधुनिक सभ्यता के लिए अपरिहार्य है। आज भी व्यापारिक संगठन, विश्वविद्यालय, सरकारे और अन्य संगठन काफी बड़ी संख्या में और बहुत हद तक नौकरशाही की धारणा पर ही चल रहे है। इसे भगाने की इच्छा करना फिजूल है। संगठन की प्रक्रिया के रूप में नौकरशाही से जबर्दस्त लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। इसलिए यह बहस करने का कोई फायदा नही है कि हम नौकरशाही को अपनाते रहें या इसे छोड़ दें। इस बहस मे खर्च होने वाली शक्ति का उपयोग नौकरशाही को बेहतर ढंग से समझने और उसे सुधारने के प्रयास में किया जा सकता है।

नौकरशाही के दोषों को दूर करने के उपाय (Suggestions to Remove Evils of Bureaucracy)—इन दोषों के बावजूद सरकारी प्रशासन में नौकरशाही का योगदान कम महत्व का नहीं है। सत्य तो यह है कि इसके कारण प्रशासन पहले की अपेक्षा अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष तथा संगत बना है। वस्तुतः नौकरशाही कार्य-कुशलता, विशिष्ट ज्ञान, निष्पक्षता, नियमों तथा कानूनो के पालन, आदि के अनेक गुणों के कारण वर्तमान समय में प्रशासन का अनिवार्य अंग बन गयी है। अतः मैक्स वेबर, डिमॉक तथा रॉब्सन इसे अनिवार्य मानते है तथा इसकी बुराइयों का संशोधन करके इसे अधिक उपयोगी और उत्कृष्ट बनाना चाहते हैं। इसकी तुलना प्रायः अग्नि से की जाती है और कहा जाता है कि 'यह एक अच्छा सेवक है, किन्तु बुरा स्वामी'। आग पर नियन्त्रण रखकर तथा इसे सेवक बनाकर इससे खाना बनाने से लेकर रेल के इंजन चलाने तक के विविध उपयोगी कार्य किए जाते हैं, किन्तु यदि इसे नियन्त्रण में न रखा जाए तो यह विध्वंस का विनाशकारी कार्य करती है। अतः नौकरशाही को जनता पर हावी नहीं होने दिया जाना चाहिए, प्रत्युत उसे सेवक ही बनाए रखना चाहिए। यह कार्य निम्नलिखित चार उपायों से किया जा सकता है—

1. **योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति**—नौकरशाही को नियन्त्रित करना मन्त्रियों का कार्य है यदि ये मन्त्री योग्य और कार्यकुशल होगे तो वे सरकारी सेवकों पर सुदृढ़ नियन्त्रण रख सकेंगे अन्यथा सरकारी सेवक उन पर हावी होकर जनता की स्वतन्त्रता को संकट में डाल देंगे।

2. **सत्ता का विकेन्द्रीकरण**—दूसरा उपाय सत्ता के विकेन्द्रीकरण का है। अधिकारियो में सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण होने से ही उनमे नौकरशाही प्रवृत्ति पनपती है। इसलिए यदि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाएगा तो नौकरशाही अपने दोषों से मुक्त हो जाएगी।

3. **प्रत्यायोजित विधि-निर्माण की मात्रा में कमी**—नौकरशाही की निरंकुशता का मुख्य स्रोत प्रत्यायोजित विधि निर्माण है। अतः नौकरशाही को अधिक उपयोगी बनाने के लिए यह

आवश्यक है कि प्रत्यायोजित विधि निर्माण (Delegated Legislation) की मात्रा में कमी की जाए।

4. **न्यायाधिकरणों की स्थापना**—ऐसे न्यायाधिकरणों की स्थापना की जानी चाहिए जहां नागरिक सिविल कर्मचारियों के विरुद्ध अपनी शिकायतें रख सकें। प्रशासन से भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए तथा नौकरशाही को दोषो से मुक्त करने के लिए ऐसे प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना नितान्त आवश्यक है।

रॉब्सन ने नौकरशाही के दोष दूर करने के लिए निम्न उपायों का सुझाव दिया है—

(i) सरकारी कर्मचारियों मे जनता के प्रति उत्तरदायी होने की भावना उत्पन्न करना तथा उनमें अपने को विशेषाधिकार सम्पन्न विशिष्ट वर्ग समझने की प्रवृत्ति को रोकना (ii) सिविल सर्विस में विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करना (iii) प्रशासन में सामान्य नागरिकों अर्थात् गैर-सरकारी व्यक्तियों को सक्रिय रूप से भागीदार बनाना।

आधुनिक काल में नौकरशाही एक 'आवश्यक बुराई' (a necessary evil) है। लोक प्रशासन में इसके योगदान की उपेक्षा नही की जा सकती। हर्बर्ट मॉरीसन के अनुसार, "नौकरशाही वह मूल्य है जो संसदीय प्रजातन्त्र के लिए हमें चुकाना पड़ता है।" वस्तुतः नौकरशाही अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि नौकरशाही को इस भांति नियन्त्रित किया जाए कि वह *'सेवक'* ही बनी रहे *'स्वामी' (Master)* बनकर हावी न होने पाए। नौकरशाही का विवेचन करते हुए जॉन वीग ने उल्लेखनीय टिप्पणी की है—"माना कि नौकरशाही में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो हृदयहीन, स्वार्थी और तानाशाही प्रवृत्ति के होते हैं, परन्तु इनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। अन्य नौकरशाह तो ऐसे ही नौकर होते हैं जो स्वयं का व्यवसाय करते है या जो निजी उद्योगो में नौकरी करते हैं। नौकरशाही का आकार अब इतना बड़ा हो गया है कि उसको कोसने का अर्थ समाज को और पूरे राष्ट्र को ही कोसना होगा।"

प्रश्न

1. भारत में वर्तमान में बदलती हुई परिस्थितियों में अधिकारीतन्त्र की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। *(राजस्थान, 1997)*
2. एक आधुनिक प्रजातान्त्रिक समाज में अधिकारीतन्त्र की भूमिका को समझाइए। *(राजस्थान, 1996)*
3. नौकरशाही से आप क्या समझते है? भारत में वर्तमान की बदलती हुई परिस्थितियो में अधिकारीतन्त्र (नौकरशाही) की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। *(अजमेर, 1997)*
4. "नौकरशाही सामाजिक परिवर्तन की एक वाहक है।" व्याख्या करें। *(अजमेर, 1995)*
5. लोकतन्त्र मे नौकरशाही की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। *(अजमेर, 1998)*

10

राजनीतिक दल : कार्य एवं भूमिका

[POLITICAL PARTIES : FUNCTIONS AND ROLE]

राजनीतिक दलों की भूमिका एवं महत्व (Significance of Political Parties)

लोकतन्त्र के पहियों के रूप में राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल बहुत बड़ी सीमा तक हमारे जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन चुके है। 'राजनीतिक' शब्द का उच्चारण करते समय उसमें राजनीतिक दलों की ध्वनि झंकृत होती है। लोकतन्त्र, चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यो न हो, राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति मे अकल्पनीय है, इसीलिए उन्हें 'लोकतन्त्र का प्राण' (Life blood of democracy) कहा गया है। यदि राजनीतिक दलों को शासन का चतुर्थ अंग (Fourth organ of the Government) कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। **प्रो. मुनरो** के शब्दों में, "लोकतन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है।.....विश्व के इतिहास में कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नहीं रही है जिसमें राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो।"[1] **ह्यूबर** के शब्दों में, "प्रजातन्त्रात्मक यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य है।"[2] आज की प्रतिनिधिमूलक सरकार का सार यही है कि सरकार और संसद दोनों पर दल का प्रतिबन्ध रहता है। विधानमण्डल और कार्यपालिका, सरकार और संसद केवल संवैधानिक आवरण है। यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतिक दल ही करते हैं।

दल-प्रणाली के बिना लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली कार्य ही नहीं कर सकती। शासन का चाहे ससदीय रूप हो या अध्यक्षात्मक, दल-प्रणाली के अभाव में उसका क्रियान्वयन असम्भव है। किसी भी शासन में हजारो लोग राज्य की समस्याओं पर सोचते हैं, किन्तु जब तक उनके विचारों और दृष्टिकोणों को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं

1 "All popular Government is Party Government. There has never been at any time in the world's history a free Government in which political party did not exist and function." —*Munro*

2 "Political parties are the lubricating oil in the wheels of democratic machinery." —*Huber*

किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। वस्तुतः राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ने, सरल करने तथा स्थिर बनाने का कार्य करते हैं।[1] मैकाइवर के अनुसार, "जिस राज्य में दल-प्रणाली नहीं होती उसमें क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एकमात्र तरीका होती है।" दल-प्रणाली से क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती और संवैधानिक तरीके से शासन में परिवर्तन किया जा सकता है।

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की व्यवस्थित भीड़ के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं, जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को संचालन-शक्ति प्रदान करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में, "दलों के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियों का अनुसरण करने लगेंगे जो उन्हें शक्तिहीन बना देंगी या विनाशकारी, और जिनसे राजनीतिक यन्त्र ध्वस्त हो जाएगा।"[2]

राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन हैं। वे अमूर्त मतदाताओं को मूर्त रूप देते हैं। वे निर्वाचनों में अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और अपने कार्यक्रमों तथा नीतियों का प्रचार कर मतदाताओं को प्रभावित करते हैं। निर्वाचन में विजयी दल सरकार का निर्माण करता है और पराजित दल विपक्ष के रूप में आलोचना करते हैं। अतः इस प्रणाली से प्रतिनिधि शासन को चलायमान किया जाता है।

राजनीतिक दल नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। किसी देश के नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से भी राजनीतिक दल विशेष महत्व रखते हैं। प्रो. लास्की के शब्दों में, "राजनीतिक दल देश में अधिनायकवाद से हमारी रक्षा करने के सर्वश्रेष्ठ कवच हैं।"[3]

मेरियट ने तो दलों को सरकार की 'पूरक संस्था' कहा है क्योंकि वे अधिकारियों का चुनाव, सार्वजनिक नीति का निर्धारण तथा सरकार का संचालन और उसकी आलोचना करने में सहायता प्रदान करते हैं।

मैकाइवर के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के अभाव में न तो सिद्धान्तों की संगठित अभिव्यक्ति ही हो सकती है, न नीतियों का उचित विकास ही और न नियन्त्रित रूप से संसदीय चुनाव के वैधानिक उपायों अथवा मान्य संस्थाओं का सहारा लिया जा सकता है जिसके द्वारा राजनीतिज्ञ अपनी शक्ति बनाए रखने या उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

राजनीतिक दलों की परिभाषा (Political Parties : Meaning and Definitions)

राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ समस्याओं के रूप और उसके समाधान के सम्बन्ध में एकमत है और जिन्होंने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढंग से काम करने का निश्चय कर लिया है। विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक दल की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं।

---

1 एलेन बाल, आधुनिक राजनीति और शासन, 1971, पृ. 85.

2 "Without parties the electorate would be either impotent or destructive by embarking on impossible policies that would only wreck the political machinery."
—H. Finer

3 "The parties are our best defence against the growth of casearism in the country."
—Laski

न्यूमैन के अनुसार—"राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं जो शासनतन्त्र को नियन्त्रित करना चाहता है और उनके लिए जनसभाओं में भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।"

एडमण्ड बर्क के शब्दों में—"राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक समूह है जो कुछ सिद्धान्तों पर सहमत होकर अपने सयुक्त प्रयासो द्वारा जनहित को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहता है।"[1]

लीकॉक के मतानुसार—"राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिकों के समुदाय से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

मैकाइवर के अनुसार—"राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए सगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"[2]

गेटेल के शब्दो में—"राजनीतिक दल पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से संगठित उन नागरिकों का एक समूह होता है जो एक राजनीतिक संस्था की भांति कार्य करते हैं और जिनका ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है।"[3]

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दल नागरिकों के उस संगठित समुदाय को कहते हैं जिसके सदस्य समान राजनीतिक विचार रखते हैं, और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए शासन को अपने हाथ में रखने की चेष्टा करते हैं।"[4]

इस प्रकार राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का निकाय होता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर यदि पूर्णतः नहीं तो कम से कम सामान्य दृष्टिकोणों में समता रखते हों तथा सामूहिक प्रयासों द्वारा शासन को हस्तगत करके अपने उद्देश्यों के क्रियान्वयन पर विश्वास करते हों। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों के किसी भी समूह को, जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है दल कहते हैं। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो उसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

1 "A political party is a body of men, united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interests upon some principles on which they are all agreed." —Edmund Burke

2 "A political party is an association organised in support of some principle or policy which by constitutional means it endeavours to make the determinent of government." —MacIver

3 "A party consists of a group of citizens, more or less organised, who acts as a political unit and who by the use of voting power, aim to control the government and carry out their general policies." —Gettle

4 "A political party is an organised group of citizens who profess to share the same political views and who, by acting as a political unit, try to control the government." —Gilchrist

राजनीतिक दलों की विशेषताएं अथवा तत्व (Main Features or Essential Elements of Political Parties)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से राजनीतिक दलों के निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं—(1) लम्बी अवधि के लिए संगठन; (2) कतिपय सिद्धान्तों अथवा नीतियों के बारे में सहमति; (3) अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों का प्रयोग; और (4) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी नीतियों को कार्यरूप देने की लालसा है। संक्षेप में, किसी भी राजनीतिक दल के निर्माण के लिए निम्न तत्वों का होना आवश्यक है—

(1) **संगठन**—दल को मजबूत एवं स्थायी बनाने के लिए उसमें संगठन होना अत्यन्त आवश्यक है। संगठन से तात्पर्य है कि दल के कुछ अपने लिखित एवं अलिखित नियम, उपनियम, कार्यालय, पदाधिकारी, आदि होने चाहिए। ये दल के सदस्यों को अनुशासित रखते हैं। संगठन के अभाव में दलीय अनुयायी एक बिखरी भीड़ मात्र ही होंगे और वे अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पाएगे। वस्तुत: संगठन ही राजनीतिक दल की शक्ति का रहस्य है।

(2) **मूलभूत सिद्धान्तों की एकता**—दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य सार्वजनिक प्रश्नों पर एक-से विचार रखते है। इन प्रश्नों की बारीकियों पर उनमें मतभेद हो सकता है, लेकिन वे सब मौलिक सिद्धान्तों पर एकमत होते हैं। सिद्धान्तों की एकता ही दल को ठोस आधार प्रदान करती है। सैद्धान्तिक एकता के अभाव में दल की जड़ें हिल जाएंगी और उसका विघटन हो जाएगा।

(3) **संवैधानिक उपायों का प्रयोग**—राजनीतिक दलों को अपने लक्ष्य (सत्ता प्राप्ति) की प्राप्ति के लिए सदा संवैधानिक उपायों का सहारा लेना चाहिए। जो असवैधानिक उपायों का अनुसरण करते हैं अथवा हिंसात्मक साधनों को अपनाते हैं, उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(4) **राष्ट्रीय हित की वृद्धि**—राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित होता है और जिसके कार्यक्रमों और नीतियों का देशव्यापी आधार होता है, क्षेत्रीय अथवा साम्प्रदायिक नहीं। उसे किसी विशेष जाति, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ग के हित की अपेक्षा राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि हेतु चेष्टा करनी चाहिए। यदि कोई संगठन वर्ग, जाति या सम्प्रदाय-विशेष का हित साधन करते है तो यथार्थ में उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

राजनीतिक दलों के आधार (Basis for the Formation of Political Parties)

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के निम्नलिखित आधार हैं—

(1) **मनोवैज्ञानिक**—कई बार दलों के निर्माण का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। कुछ व्यक्ति प्राचीन से चिपके रहना चाहते हैं और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन को पसन्द नहीं करते, जबकि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते है जिन्हें अतीत से कोई लगाव नहीं होता और वे नित नूतन परिवर्तन करके प्रगति को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। इस आधार पर समान विचार वाले व्यक्ति राजनीतिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न दलों में संगठित हो जाते हैं। इस भांति प्राय: चार प्रकार के व्यक्ति देखने में आते हैं—(1) प्रथम, वे जो प्राचीन संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों में वापस लौटना चाहते हैं, प्रतिक्रियावादी कहलाएंगे; (2) द्वितीय, वे जो वर्तमान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते, अनुदारवादी

(3) तृतीय, वे जो वर्तमान परिस्थितियों में सुधार करना चाहते हैं, उदारवादी कहलाएंगे;
(4) चतुर्थ, वे व्यक्ति जो वर्तमान संस्थाओं का उन्मूलन करना चाहते हैं, उग्रवादी कहलाएंगे। इस प्रकार जैसे-जैसे लोगों का स्वभाव होगा वैसे-वैसे प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी, उदारवादी तथा उग्रवादी दल बन जाएंगे।

(2) परिवेश का प्रभाव—दलों के निर्माण में परिवेश का योग भी कम महत्व का नहीं है। जिस परिवेश में बालक रहता है उसका प्रभाव व्यापक रूप से उसके मानस पर पड़ता है। साम्यवादी वातावरण मे पला बालक आगे चलकर उस दल का अनुयायी बन जाता है। इंग्लैण्ड में तो आज भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनके सदस्य अनुदारवादी दल के कार्यक्रमों में परम्परागत रूप से विश्वास करते हैं।

(3) धार्मिक आधार—बहुत-से लोग धार्मिक आधार पर राजनीतिक दल बना लेते उनका लक्ष्य अपने धर्म के अनुयायियो की रक्षा करना होता है। यूरोपीय देशों मे कैथोलि दल इसी आधार पर बने। भारत में मुस्लिम लीग, अकाली दल, हिन्दू महासभा के निर्माण भी यही आधार था।

(4) आर्थिक कारण—दलों के निर्माण का आर्थिक आधार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आर्थि कार्यक्रम के अभाव में कोई भी दल अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। राजनीतिक द को राष्ट्रीय महत्व तभी प्राप्त हो सकता है जब उनके पास आर्थिक कार्यक्रम हो। शिक्षित जनत पर तो आर्थिक नीतियों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक सामान्य आर्थिक कार्यक्रम द्वारा ही राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गो मे सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करता है।

(5) नेतृत्व—प्रायः राजनीतिक दल अपने उच्चतम नेता के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होता है। वह जिन आदर्शों को आगे बढ़ाना चाहता है, उसके अनुयायी बिना सोचे-समझे उसी साचे में ढलते जाते हैं क्योंकि दल में प्रत्येक व्यक्ति न तो विचारशील होता है और न उसमें तार्किक बुद्धि होती है। वह अपने नेता के चारों और घूमने वाला नक्षत्र मात्र होता है।

(6) विचारधारा—राउसैक के शब्दों में, "एक राजनीतिक आन्दोलन को जीवित रखने के लिए विचारधारा का होना अति आवश्यक है। विचारधारा की अनुपस्थिति में आन्दोलन अन्धकार तथा अनिश्चितता मे ही छलांग लगाता रहेगा....।"[1] सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा में आम सहमति दल के सदस्यों को आपस में जोड़ती है। उदाहरणार्थ, भारत में 1977 में गठित जनता पार्टी विभिन्न विचारधाराओं वाले लोगों का जमघट होने के कारण कई गुटों मे विभक्त हो गई और आज उसका नाममात्र का अस्तित्व रह गया है।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि प्रत्येक जनसमुदाय में विभिन्न विचारों के लोग पाए जाते हैं। इनमें से कुछ विचार परस्पर विरोधी होते हैं। इन विचारों का प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियों में से कुछ नेता बन जाते हैं और अन्य नागरिक उनका अनुमोदन और समर्थन करने लगते हैं। आगे चलकर इन्हीं लोगों से संगठित राजनीतिक दल बन जाते हैं। इन दलों का मनोवैज्ञानिक आधार मनुष्य की चार प्रवृतियां हैं—सहानुभूति, अनुकरण, प्रतिरोध और प्रतिस्पर्धा। इन्हीं कारणों से व्यक्ति-समूह सामान्य नीतियों और सिद्धान्तों के आधार पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पृथक् संगठन बना लेते हैं।

1 "The party is held together by its ideology and organization. An ideology is indispensable in the life of a political movement." —Roucek

राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties)

लोकतन्त्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल जो कार्य करते हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मेरियम के अनुसार इनके पांच प्रमुख कार्य हैं—(1) पदाधिकारियों का चुनाव करना, (2) नीति-निर्धारण,(3) शासन का संचालन तथा उसकी रचनात्मक आलोचना, (4) राजनीतिक प्रचार और शिक्षण, (5) व्यक्ति और शासन के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना करना। राजनीतिक दल मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य करते है—

(1) **सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण**—राजनीतिक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियों और योजनाओं का जोरदार प्रचार करते हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं से जनता को परिचित कराते हैं। इसीलिए राजनीतिक दलों को 'विचारों का दलाल' कहा जाता है। प्रो. लास्की के शब्दों में, "आधुनिक राज्यों के भ्रान्तिपूर्ण वातावरण में समस्याओं का चयन करके यह आवश्यक है कि वरीयता के आधार पर कुछ को अत्यन्त शीघ्र निपटाने के लिए छांटना चाहिए और उनके निदान जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने चाहिए। चयन का यह कार्य दलों के द्वारा ही होता है।"[1]

(2) **शासन का संचालन**—राजनीतिक दल चुनावों में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। अपने दल में से ही मन्त्री नियुक्त करते हैं तथा विभिन्न विधियों से अपने चुनाव घोषणा-पत्र के वायदों को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

(3) **शासन की आलोचना**—यदि निर्वाचन में किसी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो वह प्रतिपक्ष के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। प्रतिपक्ष के रूप में उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शासन को सचेत रखे। वह सरकार की रचनात्मक आलोचना करके वैकल्पिक नीतियां प्रस्तुत करता है। विपक्षी दल शासन की कमजोरियों को जनता के सामने रखकर उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करते हैं।

(4) **चुनावों का संचालन**—राजनीतिक दलों से ही चुनावों की सार्थकता प्रकट होती है। वे चुनाव के समय अपने चुनाव घोषणा-पत्र तैयार करते हैं, उनका प्रचार करते हैं, प्रत्याशियों को खड़ा करने तथा हर तरीके से चुनाव जीतने का प्रयत्न करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जाएंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को ही अपनाकर राजनीतिक यन्त्र को ही नष्ट कर दिया जाएगा।"

(5) **लोकमत का निर्माण**—यदि शासित व्यक्तियों की सहमति में सत्ता को प्राधिकार अर्जित करना है और यदि शासन की नीतियों पर लोकमत प्राप्त करना है तो राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। इनकी अनुपस्थिति में जनसमुदाय एक दिशाहीन भीड़ के अतिरिक्त और कुछ न होगा। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

(6) **शासन तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य**—राजनीतिक दल जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता करते हैं। वे जनता की समस्याओं और आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखते हैं और सरकार की स्थिति से जनता को अवगत करते हैं। बार्कर के अनुसार, "राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिनका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य

1 लास्की, ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स, पृ. 312-313.

को। यह एक ऐसा पाइप है जिससे सामाजिक विचारधारा बहती है जो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियों को घुमाती रहती है।"[1]

(7) **राजनीतिक प्रशिक्षण**—राजनीतिक दलों के प्रचार से नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हें समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का पता लगता है। इस प्रकार से नागरिकों मे राजनीतिक चेतना जागृत होती है।

(8) **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य**—अधिकांश राजनीतिक दल जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने का भी कार्य करते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के युग में कांग्रेस ने हरिजन कल्याण तथा स्त्री-उद्धार सम्बन्धी बहुत-से कार्य किए थे।

(9) **दलीय कार्य**—प्रत्येक राजनीतिक दल कपितय दल सम्बन्धी कार्य करता है—मतदाताओं को दल का सदस्य बनाता है, सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करता है, दल के लिए चन्दा इकट्ठा करता है, आदि।

दल-पद्धति के लाभ या गुण (Advantages or Merits of Political Parties)

दल-पद्धति के जितने प्रशंसक हैं उतने ही आलोचक भी। कतिपय विद्वानों ने राजनीतिक दलों को लोकतन्त्र की रीढ़ माना है, तो कुछ लोगों ने दल-पद्धति का कड़ा विरोध किया है। अतः दल प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन अत्यावश्यक है। दल प्रणाली के लाभ इस प्रकार है—

(1) **राजनीतिक कारण**—राजनीतिक दल समय-समय पर जनता की राजनीतिक निद्रा को तोड़ते है और उसे जाने व अनजाने राजनीति में भाग लेने के लिए विवश करते हैं। निर्वाचनों के समय वे राजनीति के बहुत-से गुप्त और अस्पष्ट पहलुओं पर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं और जन-साधारण भी उन विषयों से परिचित हो जाता है। जनता की उदासीनता लोकतन्त्र के लिए सबसे बड़ा खतरा है और इस दृष्टि से उदासीनता के वातावरण को दूर करने वाले राजनीतिक दल राजनीतिक जागरण के मुख्य साधन कहे जाते हैं।

(2) **लोकमत का निर्माण**—राजनीतिक समस्याओं का पूरा-पूरा विवरण जनता के सामने रखकर राजनीतिक दल लोकमत का निर्माण करते हैं। जनता के विचार अमूर्त होते हैं। समय-समय पर अधिवेशनों तथा भाषणों द्वारा राजनीतिक दल उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वस्तुतः राजनीतिक दलों के कारण नागरिकों में राजनीतिक चेतना फैलती है और उन्हें राजनीतिक शिक्षा मिलती है।

(3) **निर्वाचन को सरल बनाना**—लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे स्थानीय निकायों से लेकर केन्द्रीय निकायों तक निरन्तर कहीं न कहीं निर्वाचन होते रहते हैं और निर्वाचनों को नियन्त्रित एवं प्रभावित करने का दुरूह दायित्व राजनीतिक दलों का ही है। राजनीतिक दलों की वजह से मतदाताओं को वोट देने में बड़ी सुविधा और सरलता होती है। इसके अतिरिक्त वे निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे अनेक कार्य करते हैं जो दलो के अभाव में सरकार को करने पड़ते, जैसे सामान्य नागरिकों को मतदान-पद्धति समझाना, मतदाता-सूचियों की जांच करना, इत्यादि।

(4) **शासन को क्रान्ति से बचाना**—नागरिकों को वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श का प्रचुर अवसर प्रदान करके क्रान्ति एवं निरंकुशता के अंकुरों को आरम्भ में ही नष्ट कर देते हैं।

1 बार्कर, रिफ्लेक्शन आन गवर्नमेण्ट, पृ. 39.

(5) **शासन का संचालन तथा उसकी आलोचना**—राजनीतिक दल प्रतिनिधि लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करके विधानमण्डल में बहुमत प्रदान करके शासन में स्थायित्व स्थापित करते है। सरकारी नीतियों का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध करके वे प्रतिनिधि शासन को परिमार्जित करते हैं।

(6) **शासन की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध**—राजनीतिक दलों के अस्तित्व के कारण विधायिका में सुसंगठित विरोधी दल भी रहता है। विरोधी दल सरकार की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। विरोधी दल सरकार की गलतियों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। कई बार विरोधी दल सरकार के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन छेड़ देते हैं और उसे लोकमत के आगे झुकने के लिए बाध्य करते हैं। वस्तुतः विरोधी पक्ष को आलोचना करने की स्वतन्त्रता देना इस बात की गारण्टी है कि सरकार निरंकुश नहीं होगी।

(7) **शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करना**—राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में, जहां शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त व्यवहार में पाया जाता है, राजनीतिक दल विशेष रूप से कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका को एक सूत्र में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। यदि दोनों के मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है तो दल ही दोनों में तालमेल स्थापित करते हैं। संसदीय प्रणाली में भी दल व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच कड़ी का काम करते हैं, वे उन्हें एक-दूसरे से जोड़ते हैं।

(8) **सामाजिक व राजनीतिक सुधार**—अनेक राजनीतिक दल ऐसे लोकहितकारी एवं रचनात्मक कार्य भी करते हैं जिनका राजनीति से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। कई राजनीतिक दल समाज-सुधार के बड़े-बड़े कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में कांग्रेस दल ने हरिजन-उद्धार, स्त्री-शिक्षा, मद्य-निषेध, आदि कार्यक्रमों को सफल बनाने में सक्रिय योगदान दिया है।

(9) **राजनीतिक समस्याओं पर शोध**—अनेक राजनीतिक दलों के अपने शोध विभाग होते है जिनमें महत्वपूर्ण समस्याओं पर अनुसन्धान होता रहता है। कतिपय राजनीतिक दल विशेष समस्याओं के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ समितियां भी नियुक्त करते हैं। इन समितियों के परामर्श से दल को अपने नीति-निर्धारण में सुविधा होती है।

मैकाइवर के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के बिना न तो सिद्धान्तों की एकीकृत अभिव्यक्ति हो सकती है, न नीति का क्रमबद्ध विकास और न संसदीय निर्वाचनों की संवैधानिक प्रणाली का नियमित उपभोग और इस प्रकार उन समस्त संस्थाओं का अन्त हो जाता है जिनके माध्यम से राजनीतिक दल शक्ति ग्रहण करने अथवा उसे बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं।" लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "राजनीतिक दल राष्ट्र के मस्तिष्क को उसी प्रकार क्रियाशील रखते हैं जिस प्रकार लहरों की हलचल से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ रहता है।" ऐलेन बाल के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के बिना आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की कल्पना करना कठिन है। उदारवादी प्रजातन्त्रीय संस्थाओं में राजनीतिक दल निश्चित रूप से निहित होते हैं, और सर्वाधिकारी शासनों में दलों पर निर्भरता सबसे ज्यादा होती है। जिन

राज्यों में दल नहीं होते, या यहां तक कि एकमात्र दल भी नहीं होता, वे अनिवार्य रूप से अनुदारवादी होते है और कहा जा सकता है कि वे राजनीतिक दृष्टि से अधिक अस्थिर होते हैं।

दल-पद्धति के दोष (Demerits of Party System)

राजनीतिक दलों के लाभों की विवेचना से यह निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता कि हम राजनीतिक दलों द्वारा राजनीति को कलुषित बनाने वाले कार्यों से बेखबर हैं। वस्तुतः जहां राजनीतिक दलों की उपयोगिता है, वहां उनके दोष भी हैं—

(1) जनता में द्वेष एवं कटुता पैदा करना—राजनीतिक दलों के कारण जनता में द्वेष एवं कटुता की भावना उत्पन्न होती है। वे जन-जीवन में बेईमानी, असत्य, भ्रष्टाचार, अवसरवादिता एवं अन्य बुराइयां फैलाते हैं। निर्वाचनों के समय वे नैतिक मूल्यों को पूर्णतः भुलाकर मिथ्या प्रचार करते हैं तथा जनता को गुमराह करते हैं। राजनीतिक दल सार्वजनिक प्रश्नों पर एकाकी विचार प्रस्तुत करते हैं तथा अन्य दलों के नेताओं पर कीचड़ उछालते हैं। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "दल सामान्य देशभक्ति की जगह क्रोध और कड़वाहट को स्थान देता है।"

(2) देश की एकता पर आघात—दल देश की जनता को दो या अधिक भागों में विभाजित करके राष्ट्रीय एकता को ठेस पहुंचाते हैं। राजनीतिक दल चाहे कितने ही राष्ट्रीय आधार पर बनाए गए हों, कई बार उनके कार्यक्रम राष्ट्र विरोधी अथवा गुटबन्दी की संकीर्णताओं में उलझाने वाले होते हैं। ब्राइस के अनुसार, "दल केवल व्यवस्थापिका सभा को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी दो परस्पर विरोधी पक्षों में बांट देता है और विदेशी राज्यों के सामने देश का विभाजित रूप प्रस्तुत करता है।"[2]

(3) सर्वोत्तम व्यक्तियों की उपेक्षा—दलीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत केवल बहुमत-प्राप्त दल के प्रभावशाली लोग ही मन्त्री आदि उच्च पदों पर आसीन किए जाते हैं। बहुत-से अच्छे नेता, जो विपक्ष में आ जाते है, उनकी सेवाएं शासन को रचनात्मक रूप से नही मिल पातीं। अनेक बार श्रेष्ठ नेता दलीय दलदल में फंसना नहीं चाहते और साधारण तथा सस्ता नेतृत्व संभालने का अवसर पा जाते हैं। इस प्रकार दलबन्दी के फलस्वरूप किसी भी देश को वहां के योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रहना पड़ता है।

(4) विरोध के लिए विरोध—दल-पद्धति का एक स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि विरोधी पक्ष उचित-अनुचित पर ध्यान दिए बिना सरकार के कार्य का विरोध करता है। विरोधी पक्ष शासन के उन कार्यों की भी आलोचना करते है जो लोकहित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं। ब्राइस के शब्दों में, "संसद एक राजनीतिक अखाड़ा बन जाती है, जहां वाद-विवाद और आपसी झगड़ों मे जनहित भुला दिया जाता है।"

(5) अधिनायकत्व को प्रोत्साहन—दल पद्धति के परिणामस्वरूप बहुमत दल की सरकार बनती है। बहुमत दल उसे जनता की सरकार बताता है। उससे अल्पमत की उपेक्षा होती है। संसदीय शासन-प्रणाली में तो बहुमत की सरकार के नाम पर मन्त्रिमण्डल अथवा प्रधानमन्त्री

1 एलेन बाल, आधुनिक राजनीति और शासन, पृ. 90.

2 "Party decides not only the legislature but the nation into hostile camps and present it to foreign states so divide."

—Bryce, *Modern Democracies*, Vol. I, p. 131.

की तानाशाही ही स्थापित हो जाती है। जैनिंग्ज के शब्दों में, "जिस शासन की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ है वह कुछ समय के लिए अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"

(6) दल-प्रथा भ्रष्टाचार को जन्म देती है—दलबन्दी से समाज में भ्रष्टाचार फैलता है। *निर्वाचन में येन-केन प्रकारेण अपने उम्मीदवारों को विजयी बनाने के लिए दल हर प्रकार के* भ्रष्ट तरीकों का सहारा लेते हैं। चुनाव के दिनों में दल मतदाताओं में खूब पैसा बांटते हैं। जब इतना पैसा खर्च करके कोई दलीय प्रत्याशी विजयी होता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से अनेक तरीकों से दल को लाभ पहुंचाता है। अमरीकी राजनीति लूट प्रथा (Spoils System) व दलीय भ्रष्टाचार का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(7) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन—दल व्यवस्था में पाया जाने वाला अनुशासन व्यक्ति की आत्मा तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता को सीमित करता है। दल के सदस्यों को कई बार अपनी स्वतन्त्र इच्छा को दबाना पड़ता है तथा उन्हें दलीय सचेतकों (Party whips) के आदेशों का पालन करना पड़ता है। वस्तुतः आजकल दल सम्बन्धी समस्त निर्णय उच्चस्तरीय नेताओं द्वारा लिए जाते हैं और सामान्य सदस्यों की कोई आवाज नहीं होती। लीकॉक के शब्दों में, *"दल-प्रणाली उसी व्यक्तिगत विचार और कार्य सम्बन्धी स्वतन्त्रता का दमन करती है जिसे लोकतन्त्रात्मक सरकार का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाता है।"*[1]

(8) दल-पद्धति गुटबन्दी पैदा करती है—वाशिंगटन के शब्दों में, "यह जाति को दूषित ईर्ष्याओं से, झूठे भयों से, एक दल की दूसरे दल के विरुद्ध शत्रुता उत्तेजित करती है और कभी-कभी यह उपद्रवों और राजद्रोहों के जाल रचती है।" दलबन्दी से गुटबन्दी की खतरनाक भावना मजबूत होती है। देशभक्ति का विचार पीछे पड़ जाता है और दलबन्दी की भावना उग्र हो उठती है।

सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें *(Conditions of Successful Party System)*

दलीय व्यवस्था मे अनेक दोष हैं, परन्तु फिर भी आधुनिक काल में लोकतन्त्र के संचालन के लिए दलीय व्यवस्था अनिवार्य बन गई है। आज किसी भी विद्वान ने यह नहीं बताया है कि दलीय व्यवस्था के बिना शासन का संचालन कैसे हो सकता है? यह तथ्य सर्वविदित है कि यदि राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया गया तो अनेक गम्भीर समस्याएं उठ खड़ी होंगी। अतः दल-पद्धति को समाप्त करने के बजाय उसके दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। दल-व्यवस्था के दोषों को दूर या कम करने के लिए निम्नांकित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) शिक्षा का प्रसार—यह बात सर्वविदित है कि शिक्षित जनता राजनीतिक समस्याओं को समुचित रूप से समझ सकती है तथा दलों की नीतियों और कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन कर सकती है। अतः शिक्षा का प्रसार होना चाहिए।

(2) आर्थिक स्थिति में सुधार—गरीब जनता को राजनीतिक दल खरीद सकते हैं, अतः जनता की गरीबी को भी दूर करना चाहिए जिससे उसके मत को कोई खरीद न सके तथा पूंजीपतियों का दल पर नियन्त्रण न हो सके।

[1] "Party system suppresses that very freedom of individual opinion and action which is meant to be the vital principle of democratic Government." —*Leacock*

(3) सहिष्णुता—विविध राजनीतिक दलों के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना विकसित होनी चाहिए। शासक दल को विरोधी दलों की भावनाओं का सम्मान क[रना] चाहिए और विपक्षी दलों को भी चरित्र-हनन की गन्दी राजनीति से दूर रहना चाहिए।

(4) सिद्धान्तों के आधार पर दलों का संगठन—राजनीतिक दलों का संगठन निश्चि[त] आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। जाति, धर्म, सम्प्रदाय [जै]से संकुचित दृष्टिकोणों के आधार पर गठित देश का अहित ही करते हैं।

(5) द्विदलीय व्यवस्था—राजनीतिक दलों की संख्या यथासम्भव कम होनी चाहिए। [दो] या तीन दल होने से स्थिर सरकारों का निर्माण होगा तथा सामान्य जन के लिए मतदान का[र्य] आसान हो जाएगा।

(6) बुनियादी एकता—किसी भी देश में बुनियादी समस्याओं के बारे में विविध दलों में आम सहमति होनी चाहिए। यदि दलों में आम सहमति नही होगी तो संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की राजनीति की शुरूआत होगी। ऐसी राजनीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल रहती है।

निष्कर्षतः प्रतिनिधिक सरकार में दल अपरिहार्य है। दल ही वैधानिक सरकार को जन्म, शक्ति और गति देकर उसे परिचालित करते हैं अतः उनके दोषों को दूर करना चाहिए।

दल-प्रणाली के रूप (Forms of Party Systems)-

दल-प्रणाली के मुख्यतया तीन रूप प्रचलित हैं—(1) **एकदलीय प्रणाली**, (2) **द्विदलीय प्रणाली** एवं (3) **बहुदलीय प्रणाली**।

एकदलीय प्रणाली (One Party System)

यदि देश में केवल एक ही दल हो और शासन-शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य इस एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों, तो वहां की दल-पद्धति को एकदलीय कहा जाता है। एकदलीय पद्धति का आधार यह विश्वास है कि समस्त राजनीतिक अभिजात वर्ग ने अपने नेता को राज्य की प्रभुसत्ता सौंप दी है। सम्पूर्ण देश में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है। अन्य किसी दल को सगठित होने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। दल के विरुद्ध बोलना या सोचना राष्ट्रद्रोह समझा जाता है। यदि कोई अन्य दल जन्म लेता है तो उसे अवैध घोषित कर दिया जाता है अथवा उसे शक्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार का प्राधिकार पहले निरंकुश राजतन्त्रों में था और आजकल यह अधिनायकतन्त्रों और जनवादी लोकतन्त्रों में पूर्ण अभिव्यक्ति पा रहा है।

एकदलीय शासन के कई रूप हैं—**प्रथम**, पूर्व सोवियत संघ, पूर्व यूरोपीय यूगोस्लाविया, आदि की समाजवादी सरकारें थीं जिनका अन्तिम ध्येय साम्यवादी समाज का निर्माण करना था। **द्वितीय**, स्पेन, फासिस्ट पुर्तगाल, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली को लिया जा सकता है। ये पूर्णतया अधिनायकवादी शासन थे। हिंसात्मक पद्धति के माध्यम से अन्य दलों को इनमें धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जाता है तथा यहां प्रजा, दल एवं राज्य में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ, जर्मनी में हिटलर ने एक-एक करके अन्य राजनीतिक दलों का जर्मनी से नामोनिशान ही मिटा दिया था। **तृतीय श्रेणी** में हम बर्मा और मिस्र जैसी सरकारों को रख सकते हैं जो राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं और जिनका सूत्रपात सैनिकों की ओर से हुआ है। **चतुर्थ श्रेणी** में हम लैटिन अमरीकन सरकार को रख सकते हैं। ये सरकारें किसी नेता को केन्द्र बनाकर सैनिक शक्ति के आधार पर चलाई जाती हैं।

एकदलीय शासनों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सक्रियता के सब पहलुओं पर पार्टी का अत्यधिक नियन्त्रण; प्रभावी विचारधारा पर बल तथा केवल शासक दल के हाथों से राजनीतिक श्रेष्ठजन की भर्ती का अधिकार रहता है।

एकदलीय प्रणाली के गुण

एकदलीय प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाए जाते हैं—

(1) **सुदृढ़ शासन**—एकदलीय शासन विरोधी दलो के अभाव में दृढ़तापूर्वक शासन-संचालन करता है। दल जनशक्ति और सत्ता दोनों का स्रोत एवं प्रतीक हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर भय, आतंक, विवशता एवं शक्ति का समुचित प्रयोग भी किया जा सकता है।

(2) **आर्थिक विकास में सहायक**—एकदलीय शासन में दीर्घकालीन योजनाओं को आसानी से अपनाया जाता है। इससे आर्थिक विकास की गति तीव्र होगी। उदाहरणार्थ, चीन और सोवियत संघ में अनेक दोषों और कमियों के रहते हुए भी जो महान् आर्थिक उन्नति हुई है, उसे आज उसके प्रवल विरोधी भी स्वीकार करते है।

(3) **अनुशासन**—एकदलीय शासन में उच्च कोटि का अनुशासन रहता है। आए दिन हड़ताल, तालाबन्दी, घेराव जैसी उच्छृंखलताएं नहीं देखी जाती। शासन की शक्ति का भय बना रहता है।

(4) **राष्ट्रीय एकता**—एकदलीय व्यवस्था से जनता में विभाजन तथा गुटबन्दी का डर भी खत्म हो जाता है तथा राष्ट्रीय एकता बनी रहती है।

एकदलीय प्रणाली के दोष

इस प्रणाली में निम्न दोष भी पाए जाते हैं—

(1) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का लोप**—एकदलीय शासन-व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। इसमें खुले विचार-विमर्श, वाद-विवाद एवं आलोचना को स्थान नहीं दिया जाता, समुदाय और संघ बनाने की भी स्वतन्त्रता नहीं रहती।

(2) **विपक्ष का अभाव**—किसी भी शासन में विपक्ष की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। विपक्ष न केवल शासन को जागरूक रखता है अपितु वैकल्पिक नीतियां भी प्रस्तुत करता है। एकदलीय व्यवस्था में विपक्ष को कुचल दिया जाता है और जनता को आतंकित कर दिया जाता है।

(3) **अधिनायकतन्त्र**—एकदलीय शासन वस्तुतः अधिनायकतन्त्र हो जाता है। यह व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर नियन्त्रण रखता है। व्यक्ति की स्थिति राज्य रूपी मशीन के पुर्जे के समान हो जाती है।

(4) **प्रगतिशील विचारों का विरोधी**—एकदलीय शासन सभी प्रगतिशील विचारों—लोकतन्त्र, उदारवाद, समानता तथा स्वतन्त्रता का विरोधी हो जाता है।

(5) **दासतापूर्ण जीवन का दृष्टिकोण**—एकदलीय शासन में शिक्षा, कला व साहित्य का स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं होता। शिक्षा, समाज, कला और साहित्य पर दल का अंकुश रहता है। कोकर के अनुसार, "राष्ट्र के सार्वजनिक तथा सांस्कृतिक जीवन को केन्द्रीकृत किए जाने पर उस देश-विशेष के साहित्य कला तथा ज्ञान की समाप्ति हो जाती है।"

(3) सहिष्णुता—विविध राजनीतिक दलों के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना विकसित होनी चाहिए। शासक दल को विरोधी दलों की भावनाओं का सम्मान करना चाहिए और विपक्षी दलों को भी चरित्र-हनन की गन्दी राजनीति से दूर रहना चाहिए।

(4) सिद्धान्तों के आधार पर दलों का संगठन—राजनीतिक दलों का संगठन निश्चित, आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। जाति, धर्म, सम्प्रदाय जैसे संकुचित दृष्टिकोणों के आधार पर गठित देश का अहित ही करते हैं।

(5) द्विदलीय व्यवस्था—राजनीतिक दलों की संख्या यथासम्भव कम होनी चाहिए। दो या तीन दल होने से स्थिर सरकारों का निर्माण होगा तथा सामान्य जन के लिए मतदान करना आसान हो जाएगा।

(6) बुनियादी एकता—किसी भी देश में बुनियादी समस्याओं के बारे में विविध दलों में आम सहमति होनी चाहिए। यदि दलों मे आम सहमति नहीं होगी तो संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की राजनीति की शुरूआत होगी। ऐसी राजनीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल रहती है।

निष्कर्षतः प्रतिनिधिक सरकार में दल अपरिहार्य हैं। दल ही वैधानिक सरकार को जन, शक्ति और गति देकर उसे परिचालित करते हैं अतः उनके दोषों को दूर करना चाहिए।

दल-प्रणाली के रूप (Forms of Party Systems)

दल-प्रणाली के मुख्यतया तीन रूप प्रचलित हैं—(1) **एकदलीय प्रणाली**, (2) **द्विदलीय प्रणाली** एवं (3) **बहुदलीय प्रणाली**।

एकदलीय प्रणाली (One Party System)

यदि देश में केवल एक ही दल हो और शासन-शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य इस एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों, तो वहां की दल-पद्धति को एकदलीय कहा जाता है। एकदलीय पद्धति का आधार यह विश्वास है कि समस्त राजनीतिक अभिजात वर्ग ने अपने नेता को राज्य की प्रभुसत्ता सौंप दी है। सम्पूर्ण देश में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है। अन्य किसी दल को संगठित होने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। दल के विरुद्ध बोलना या सोचना राष्ट्रद्रोह समझा जाता है। यदि कोई अन्य दल जन्म लेता है तो उसे अवैध घोषित कर दिया जाता है अथवा उसे शक्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार का प्राधिकार पहले निरंकुश राजतन्त्रों में था और आजकल यह अधिनायकतन्त्रों और जनवादी लोकतन्त्रों में पूर्ण अभिव्यक्ति पा रहा है।

एकदलीय शासन के कई रूप हैं—**प्रथम**, पूर्व सोवियत संघ, पूर्व यूरोपीय यूगोस्लाविया, आदि की समाजवादी सरकारें थी जिनका अन्तिम ध्येय साम्यवादी समाज का निर्माण करना था। **द्वितीय**, स्पेन, फासिस्ट पुर्तगाल, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली को लिया जा सकता है। ये पूर्णतया अधिनायकवादी शासन थे। हिंसात्मक पद्धति के माध्यम से अन्य दलों को इनमें धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जाता है तथा यहां प्रजा, दल एवं राज्य में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ, जर्मनी में हिटलर ने एक-एक करके अन्य राजनीतिक दलों का जर्मनी से नामोनिशान ही मिटा दिया था। तृतीय श्रेणी में हम बर्मा और मिस्र जैसी सरकारों को रख सकते हैं जो राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं और जिनका सूत्रपात सैनिकों की ओर से हुआ है। चतुर्थ श्रेणी में हम लैटिन अमरीकन सरकार को रख सकते हैं। ये सरकारें किसी नेता को केन्द्र बनाकर सैनिक शक्ति के आधार पर चलाई जाती हैं।

संविद रूप होते हैं। ये विशेष हितों की मांगों मे सन्तुलन का प्रयास करते हैं। दोनो दलों के चुनाव कार्यक्रमों मे विशेष अन्तर नही होता।

अमरीकी चुनाव व्यवस्था तीसरे दल के विकास को प्रेरित नहीं करती। राष्ट्रपति का निर्वाचन जीतने के लिए तीसरे दल का विकास हो ही नहीं पाता। अमरीकी द्विदलीय व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इसमें राष्ट्रीय सम्बद्धता और शक्तिशाली राष्ट्रीय यन्त्र, *अनुशासन और एकता का अभाव है। अमरीकी राजनीतिक दल ब्रिटेन की अपेक्षा कम* विचारधाराजन्य, कम अनुशासित और कम सम्बद्ध है। ये एक प्रकार के चुनाव उद्देश्यों के लिए बनाए गए अस्थायी संविद है।

द्विदलीय प्रणाली के गुण

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित मुख्य गुण है—

(1) **स्थिर सरकार**—द्विदलीय प्रणाली मे कार्यपालिका अधिक स्थायी होती है। जब बहुमत वाले दल का एक बार मन्त्रिमण्डल बन जाता है तो फिर उसे आसानी से नही हटाया जा सकता। मन्त्रिमण्डल को यह विश्वास रहता है कि उसकी नीतियों और कार्यो का समर्थन करने के लिए विधायिका का बहुमत सदैव उसके पीछे छाया की भांति विद्यमान रहता है। द्विदलीय प्रथा के कारण ही ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डलों का औसत जीवन-काल साढ़े तीन वर्ष है जबकि फ्रांस में (तृतीय एवं चतुर्थ गणतन्त्र मे) मन्त्रिमण्डल का औसत कार्यकाल केवल 9 महीने होता था।

(2) **उत्तरदायित्व का निर्धारण**—द्विदलीय व्यवस्था वाले देशों में शासन द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कार्यो के लिए उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से हो जाता है। सत्ताधारी दल को उन सभी दोषो के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जो उसके कार्यकाल में होते हैं। कोई भी दल अपना उत्तरदायित्व दूसरों के सिर नही मढ़ सकता।

(3) **स्थायी नीतियों का निर्माण**—द्विदलीय प्रणाली में केवल शासन में ही स्थायित्व उत्पन्न नहीं होता वरन् शासकीय नीतियों में भी शाश्वतता उत्पन्न होती है। जिस सरकार को एक लम्बे समय तक बने रहने का विश्वास होता है वह दूरगामी योजनाओं को सफलतापूर्वक चला सकती है। वस्तुतः इस प्रकार की शासन-प्रणाली में एक लम्बे समय के लिए निश्चित और दृढ़ नीति अपनायी जा सकती है।

(4) **शासन का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध**—द्विदलीय प्रणाली में विरोधी दल सरकार की आलोचना जिम्मेदारी के साथ करता है। इसमें अनुत्तरदायी आलोचना की सम्भावना कम होती है क्योंकि आलोचना करने वाला विरोधी दल यह जानता है कि सरकार के त्यागपत्र देने पर उसे सरकार बनानी पड़ सकती है और अपनी आलोचना को सही सिद्ध करना पड़ सकता है।

(5) **सरकार का निर्माण सरल**—इस प्रणाली में सरकार (मन्त्रिमण्डल) का निर्माण काफी सरल रहता है। विधायिका में जिसका बहुमत रहता है उसका मन्त्रिमण्डल बन जाता है और सरकार चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उसी पर आ जाती है। यदि सत्ताधारी दल विधायिका का विश्वास खो देता है अथवा चुनावों में हार जाता है तो विरोधी दल की सरकार बन जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली में संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं होता।

द्विदलीय प्रणाली (Two Party System)

द्विदलीय प्रणाली से यह अभिप्राय नहीं है कि किसी देश में केवल दो ही दल हों और तीसरे दल का अस्तित्व न हो, बल्कि इसका यह अर्थ है कि वहां पर केवल दो बड़े और महत्वपूर्ण दल हों और शेष महत्वहीन हों। सेट के अनुसार, "द्विदलीय व्यवस्था से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य में केवल दो ही राजनीतिक दल हों, प्रत्युत हमारा आशय यह है कि यदि अन्य दल हों तो उतने छोटे कि उनका राजनीति पर विशेष प्रभाव न हो और विधानांग में बहुमत प्राप्त करने के लिए उनके साथ मिलकर संयुक्त सरकार बनाने की आवश्यकता न पड़े।"

एलेन वाल ने द्विदलीय प्रणाली को दो भागों में बांटा है[1]—

(1) **अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां**—जैसे संयुक्त राज्य अमरीका, आयरलैण्ड में।

(2) **सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियां**—जैसे ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, पूर्व प. जर्मनी में।

ब्रिटेन और अमरीका की शासन-व्यवस्था में द्विदलीय पद्धति एक विशेषता है। इस पद्धति में कोई भी एक दल स्थायी रूप से शासक दल अथवा विरोधी दल नहीं रह पाता। दोनों दल समय-समय पर शासन-सत्ता हस्तगत करते हैं और जो भी दल विरोधी दल बनता है उसमें उत्तरदायित्व और गम्भीरता की कमी नहीं आने पाती।

ब्रिटेन के अनुदार दल और श्रमिक दल प्रमुख राजनीतिक दल हैं तथा अमरीका में डेमोक्रेट और रिपब्लिकन पार्टी प्रमुख हैं। ब्रिटेन में उदार दल और अमरीका में साम्यवादी दल, अमरीकी श्रमिक संघ जैसी तीसरी पार्टियों के होते हुए भी इन देशों की (द्वि) दलीय पद्धति के आवश्यक लक्षणों में गड़बड़ी पैदा नहीं हो सकी।

ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था की अद्वितीय प्रकृति इसका राजनीतिक अनुशासन और सम्बद्धता है। यह अनेक रूपों में प्रमाणित होती है। सम्पूर्ण देश में मतदान का तरीका एक जैसा है और क्षेत्रीय विभिन्नताएं अति अल्प होती हैं। यहां मतदाता का दल के साथ तादात्मीकरण ही यहां के मतदान-व्यवहार का मुख्य निर्धारक है। यहां मतदाता व्यक्तिगत प्रत्याशियों की अपेक्षा दल और उसके नेता को वोट देता है। यहां उत्तरदायी सरकार है इसलिए विधायी तथा कार्यपालिका शाखाओं के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है। सरकार के सदस्य संसद में से लिए जाते हैं और सम्बद्ध कार्यक्रम सम्भव बन पाता है। दलों में लगभग पूर्ण मतदानीय अनुशासन रहता है। कोई सदस्य पार्टी की नीतियों से स्वतन्त्र रहकर मतदान करने का अधिकारी नहीं है। राजनीतिक नेता दलीय संगठन और संसदीय समूह के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण दल की नीतियों और गतिविधियों पर नियन्त्रण रखते हैं जिसके फलस्वरूप निरन्तरता और एकीकरण बना रहता है।

ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था के विरुद्ध अमरीका में दल व्यवस्था के राजनीतिक आधार का अभाव है। यह व्यवस्था एक मजबूत संवैधानिक व्यवस्था के अधीन कार्य करती है, जिसके अन्तर्गत संवैधानिक और सामाजिक व आर्थिक मामलों पर पर्याप्त आम सहमति पाई जाती है। यहां विचारधारागत उग्रता रहती है और दल व्यवस्था में प्रायः अनुशासन का अभाव एवं राष्ट्रीय सम्बद्धता की अनुपस्थिति परिलक्षित होती है। राजनीतिक दल प्रायः विभिन्न गुणों के

1 एलेन वाल, आधुनिक राजनीति और शासन, पृ. 99.

संविद रूप होते है। ये विशेष हितों की मांगों मे सन्तुलन का प्रयास करते हैं। दोनों दलों के चुनाव कार्यक्रमों मे विशेष अन्तर नहीं होता।

अमरीकी चुनाव व्यवस्था तीसरे दल के विकास को प्रेरित नहीं करती। राष्ट्रपति का निर्वाचन जीतने के लिए तीसरे दल का विकास हो ही नहीं पाता। अमरीकी द्विदलीय व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इसमें राष्ट्रीय सम्बद्धता और शक्तिशाली राष्ट्रीय यन्त्र, अनुशासन और एकता का अभाव है। अमरीकी राजनीतिक दल ब्रिटेन की अपेक्षा कम विचारधाराजन्य, कम अनुशासित और कम सम्बद्ध हैं। ये एक प्रकार के चुनाव उद्देश्यों के लिए बनाए गए अस्थायी संविद है।

द्विदलीय प्रणाली के गुण

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित मुख्य गुण है—

(1) **स्थिर सरकार**—द्विदलीय प्रणाली में कार्यपालिका अधिक स्थायी होती है। जब बहुमत वाले दल का एक बार मन्त्रिमण्डल बन जाता है तो फिर उसे आसानी से नहीं हटाया जा सकता। मन्त्रिमण्डल को यह विश्वास रहता है कि उसकी नीतियो और कार्यो का समर्थन करने के लिए विधायिका का बहुमत सदैव उसके पीछे छाया की भांति विद्यमान रहता है। द्विदलीय प्रथा के कारण ही ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डलो का औसत जीवन-काल साढ़े तीन वर्ष है जबकि फ्रांस में (तृतीय एवं चतुर्थ गणतन्त्र में) मन्त्रिमण्डल का औसत कार्यकाल केवल 9 महीने होता था।

(2) **उत्तरदायित्व का निर्धारण**—द्विदलीय व्यवस्था वाले देशो में शासन द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कार्यो के लिए उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से हो जाता है। सत्ताधारी दल को उन सभी दोषों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जो उसके कार्यकाल में होते हैं। कोई भी दल अपना उत्तरदायित्व दूसरों के सिर नही मढ़ सकता।

(3) **स्थायी नीतियों का निर्माण**—द्विदलीय प्रणाली में केवल शासन मे ही स्थायित्व उत्पन्न नहीं होता वरन् शासकीय नीतियों में भी शाश्वतता उत्पन्न होती है। जिस सरकार को एक लम्बे समय तक बने रहने का विश्वास होता है वह दूरगामी योजनाओं को सफलतापूर्वक चला सकती है। *वस्तुतः इस प्रकार की शासन-प्रणाली में एक लम्बे समय के लिए निश्चित* और दृढ़ नीति अपनायी जा सकती है।

(4) **शासन का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध**—द्विदलीय प्रणाली में विरोधी दल सरकार की आलोचना जिम्मेदारी के साथ करता है। इसमे अनुत्तरदायी आलोचना की सम्भावना कम होती है क्योंकि आलोचना करने वाला विरोधी दल यह जानता है कि सरकार के त्यागपत्र देने पर उसे सरकार बनानी पड़ सकती है और अपनी आलोचना को सही सिद्ध करना पड़ सकता है।

(5) **सरकार का निर्माण सरल**—इस प्रणाली में सरकार (मन्त्रिमण्डल) का निर्माण काफी सरल रहता है। विधायिका में जिसका बहुमत रहता है उसका मन्त्रिमण्डल बन जाता है और सरकार चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उसी पर आ जाती है। यदि सत्ताधारी दल विधायिका का विश्वास खो देता है *अथवा चुनावों में हार जाता है तो विरोधी दल की सरकार बन जाती है।* इस प्रकार इस प्रणाली मे सवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नही होता।

(6) सरकार का सीधा चुनाव—लास्की के अनुसार द्विदलीय व्यवस्था में जनता सरक का प्रत्यक्ष निर्वाचन करती है। मतदाता यदि सत्ताधारी दल के विरुद्ध मत देता है तो यह स है कि वह विपक्षी दल की सरकार चाहता है। यदि मतदाता वर्तमान में सत्तारूढ़ दल के प देता है तो इसका अभिप्राय होता है कि वह सत्ताधारी दल की ही पुनः सरकार चाहता है मतदाता के मस्तिष्क में सत्तारूढ़ दल को स्वीकार या अस्वीकार करने की भावना रह रहती है।

प्रो. लास्की के शब्दों में, "केवल यही (द्विदलीय प्रणाली) एक विधि है जिसके द्व लोग निर्वाचन के समय अपनी सरकार का प्रत्यक्ष चुनाव करते हैं......यह उसकी असफल के परिणामों के बारे में ज्ञान प्रदान करती है। यह वैकल्पिक सरकार को शीघ्र ही वास्तवि रूप प्रदान करती है।" फाइनर के अनुसार, "हर स्थान पर दो दलों में संघर्ष अच्छा होता है जहा दो दलो मे संघर्ष रहता है, वहां त्रुटियां आसानी से पकड़ी जा सकती हैं और पू विनाश की सम्भावनाएं भी कम हो जाती हैं।" संक्षेप में, द्विदलीय प्रणाली में राजनीतिज्ञों में असन्तोष की भावना उत्पन्न नही होने पाती। वे जानते हैं कि आज का विरोधी दल कल क शासक दल होगा, अतः वे केवल रचनात्मक विरोध करके शासन को सुचारु रूप से नियन्त्रि करते है।

द्विदलीय प्रणाली के दोष

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष है—

(1) बहुमत दल की तानाशाही—द्विदलीय प्रणाली वाले शासन में बहुमत दल सरकार बनाता है और उसे यह विश्वास रहता है कि निश्चित अवधि से पूर्व उसे अपदस्थ नहीं किय जा सकता है। इसलिए वह मनमानी करता है तथा विरोधी दल की तनिक भी परवाह नहीं करता।

(2) मतदाताओं के लिए चयन की कम स्वतन्त्रता—द्विदलीय प्रणाली में मतदाताओं के लिए चयन का क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो जाता है। मतदाताओं को केवल दो दलो में से ही चयन करना पड़ता है चाहे वे दोनों ही दलों को पसन्द न करते हों। इससे कभी-कभी मतदाता राजनीति से उदासीन हो जाते है। यदि दो से अधिक दल हों, तो उनकी स्वतन्त्रता अधिक हो जाती है।

(3) विविध हितो को विधायिका मे प्रतिनिधित्व नही मिल पाता—द्विदलीय व्यवस्था को अपनाने से विभिन्न हितो और अन्य वर्गो को विधायिका में प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। जहा अनेक दल होते है वहां विविध वर्गों एवं हितों को आसानी से प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

(4) विधायिका की शक्तियों का ह्रास होना—द्विदलीय प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका की शक्ति अनवरत रूप से बढ़ती जाती है और विधायिका की शक्तियों का ह्रास होता है। अपने बहुमत के नशे में चूर सरकार मनमाने कानून बनवाती है और यदि विधायिका उसका समर्थन न करे तो प्रधानमन्त्री की सलाह से उसे भंग किया जा सकता है। द्विदलीय प्रथा मे पाए जाने वाले दृढ़ दलीय अनुशासन के कारण 'मन्त्रिमण्डल की तानाशाही' की धारणा का प्रचलन हुआ है। ब्रिटिश शासन-प्रणाली के बारे मे रैम्जे म्योर ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"

(5) राष्ट्र दो विरोधी गुटों में बंट जाता है—द्विदलीय व्यवस्था वाले देश विचारधारा के ाधार पर दो गुटों में विभाजित हो जाते हैं। राष्ट्र का ऐसा विभाजन एक भयंकर राजनीतिक वृत्ति मानी जानी चाहिए।

(6) नकारात्मक मतदान—इस व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिकों को केवल दो उम्मीदवारों ं से एक को चुनने का अवसर मिलता है। यह भी सम्भव है कि मतदाता इन दोनों मे से िसी को पसन्द न करे। ऐसी दशा में वह उस व्यक्ति के विरुद्ध मतदान करता है जिसको िसी कारणवश नहीं चाहता। इस प्रकार इसमें मतदान नकारात्मक हो जाता है।

(7) विविध दृष्टिकोणों का समावेश न होना—जो लोग राज्य मे केवल दो दल चाहते हैं यह भूल जाते हैं कि दो राजनीतिक दल नागरिकों के विभिन्न दृष्टिकोणों को समाहित नही र सकते।

(8) कठोर दलीय अनुशासन—दल का अनुशासन इतना कडा होता है कि यदि सदस्य ल के दृष्टिकोण से पूरी तरह सहमत न भी हों तो भी उन्हें दल के आदेशों का पालन करना ोता है। इसके कारण सदस्यों के व्यक्तित्व को धक्का लगता है।

निष्कर्ष

द्विदलीय प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला जा कता है कि संसदीय शासन-प्रणाली की सफलता के लिए द्विदलीय प्रथा सुविधाजनक रहती । ब्रिटेन में आज तक राजनीतिक अस्थिरता एवं शून्यता पैदा नही हुई क्योंकि वहां वहुमत ाला दल सरकार वनाता है तथा अल्पमत वाला दल विपक्ष में वैठकर सरकार की नीतियों ा विकल्प प्रस्तुत करता है। फ्रांस और भारत में इसके विपरीत वहुदलीय व्यवस्था विकसित ई, जहां कई वार सरकार वनाना कठिन हो गया एवं राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हुए। **प्रो. ास्की** के शब्दों में, "संसदीय शासन एक सुनियमित द्विदलीय पद्धति द्वारा ही सवसे अधिक फल हो सकता है।" फाइनर के अनुसार, "जिस देश में द्विदलीय पद्धति होगी वहां के लोग र्तव्यपरायण और सुखी होगे।" *मैकाइवर का कथन है कि "द्विदलीय पद्धति में जहां अधिकारों* ा केन्द्रीकरण होता है वहां उत्तरदायित्व का भी केन्द्रीकरण होता है और उसे लागू करने ा ढंग सरल होता है।"

बहुदलीय प्रणाली (Multi-party System)

जहां दो से अधिक दल राजनीति में सक्रिय होते है वहां वहुदलीय प्रणाली होती है। वहुदलीय प्रथा वाले देशों मे प्रायः किसी दल को वहुमत नहीं मिल पाता, अतः कोई एक दल सरकार नहीं वना सकता। यूरोप के अधिकांश राज्यो में तथा अफ्रीका और एशिया के नवोदित स्वतन्त्र हुए देशों मे प्रायः वहुदलीय पद्धति है। वहुदलीय पद्धति का एक अद्भुत उदाहरण फ्रांस मे मिलता है। वीमर सविधान मे भी वहुत-से दल थे, परन्तु प्रत्येक दल के विरोध में शेष समस्त दल संगठित होकर एक संयुक्त दल के रूप में कार्य करते थे। भारत में भी वहुदलीय पद्धति क्रियाशील रही है। भारत में इतने अधिक दल हैं कि उनकी संख्या निश्चित करना ही कठिन है। प्रथम आम चुनाव के वाद लोकसभा में तेईस दलों के प्रतिनिधि पहुंचे। भारत में कई दलों के रहते हुए भी केन्द्र में मार्च, 1977 तक एक दल का ही वहुमत रहा। मई 1996 के लोकसभा चुनावों के वाद केन्द्र में सत्तारूढ़ देवगौड़ा सरकार चौदह दलों के समर्थन से मिलकर वनी और फरवरी 1998 में सम्पन्न 12वी लोकसभा चुनावों के वाद केन्द्र में पदारूढ़

वाजपेयी सरकार 22 घटक दलों के समर्थन से मिलकर बनी है। चुनाव आयोग के अनुसार जनवरी, 1998 में देश में 7 राष्ट्रीय दलों समेत 654 राजनीतिक दल हैं। इनमे से 35 राज्य स्तर के हैं और 612 पंजीकृत गैर मान्यता प्राप्त दल हैं।

बहुदलीय प्रणाली के गुण

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं—

(1) **शासन निरंकुश नहीं बन सकता**—बहुदलीय व्यवस्था में संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण होने के कारण किसी एक राजनीतिक दल को एकाधिकार स्थापित करने का अवसर नहीं मिलता। शासन-कार्य हमेशा आदान-प्रदान और समझौते की भावना से चलता है। संयुक्त अथवा मिली-जुली सरकारें कभी भी निरंकुश नहीं हो सकती।

(2) **मतदाताओं को चयन के अधिक विकल्प**—जहां बहुत दल होते हैं, वहां मतदाताओं को चयन की अधिक स्वतन्त्रता होती है। द्विदलीय व्यवस्था में बहुत से उम्मीदवार होते हैं; उनमे से मतदाता अपनी इच्छानुकूल किसी का चयन कर सकता है।

(3) **संसदीय शक्ति का ह्रास नहीं**—विधायिका की शक्तियों का वास्तविक निखार बहुदलीय व्यवस्था में ही आता है क्योंकि मिली-जुली सरकार आसानी से विधायिका को भंग करने की धमकी नहीं दे सकती। मिली-जुली सरकार का अस्तित्व विधायिका की सद्भावना पर निर्भर है।

(4) **राष्ट्र दो विरोधी गुटों में नहीं बंटता**—इस दल-पद्धति वाले देश दो विरोधी गुटों में वंटने से वच सकते हैं। दलीय अनुशासन की भावना कठोर न होने के कारण बहुदलीय पद्धति वाले देशों में दलवन्दी की भावना को वढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित नही किया जाता।

(5) **सभी हितों एवं विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व**—बहुदलीय पद्धति वाले देशों की विधायिका और कार्यपालिका में किसी एक या दो दलों की प्रधानता नही रहती, वल्कि सभी दल समकक्ष होते हैं। विधायिका तथा कार्यपालिका में कई दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इस भाति विभिन्न वर्गों तथा स्वार्थो को शासन में पूर्ण प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

बहुदलीय प्रणाली के दोष

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं—

(1) **शासन मे अस्थिरता**—बहुदलीय व्यवस्था से कई दलों की मिली-जुली सरकारों का निर्माण होता है। कई दलों की मिली-जुली सरकारें 'खिचड़ी' अथवा 'भानुमती के कुनबे' के समान होती हैं। मिली-जुली सरकारें कई दलों से मिलकर वनती हैं, अतः उनके विचारों में साम्य और समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। जब किसी वैचारिक या नीति सम्बन्धी प्रश्न पर इन दलों में झगड़ा होता है तो संयुक्त मन्त्रिमण्डल शीशे की भाति टूट जाते हैं। भारत के राज्यों में चतुर्थ आम चुनाव के वाद उत्तर प्रदेश, विहार आदि राज्यो में ऐसी ही संयुक्त सरकारे वनी थी जो एकदम अस्थिर रहीं।

केन्द्र और राज्यों में मार्च 1977 के आम चुनावों के वाद निर्मित 'जनता सरकारें' भी बहुदलीय मेल का परिणाम होने के कारण अस्थिर सिद्ध हुई। 1989, 1996 तथा 1998 के लोकसभा चुनावों के वाद भारत मे उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता का प्रमुख कारण बहुदलीय व्यवस्था ही है। आजकल केन्द्र में भाजपा गठवन्धन की सरकार पदासीन है जिसके घटकों की सख्या 22 है। गठवन्धन सरकार के घटक दल आठ दिन एक-दूसरे के खिलाफ बयान

रहते हैं जिससे प्रशासनिक स्थिरता को लेकर चिन्ता उत्पन्न होती है। फ्रांस में 1944 से 1958 (चतुर्थ गणराज्य) तक 26 संविद मन्त्रिमण्डल बनाए गए। प्रत्येक का औसत कार्यकाल $15\frac{1}{2}$ माह का था। प्रो. एन. आर. देशपाण्डे के अनुसार, "ऐसी सरकार को लगातार विपरीत दिशाओं में खींचा जाता है और दल-बदलुओं के कारण सदैव सरकार के गिरने का खतरा बना रहता है।"

(2) **उत्तरदायित्व का अभाव**—मिली-जुली बहुदलीय सरकारों में उत्तरदायित्व को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। प्रशासन की सफलता का श्रेय तो प्रत्येक दल हासिल करना चाहता है, किन्तु असफलता दूसरों के ऊपर डालने में लगा रहता है।

(3) **कार्यकुशलता का अभाव**—बहुदलीय संयुक्त (Coalition) सरकारें अपनी शक्ति और श्रम राजनीतिक कार्यों में ही नष्ट करती रहती हैं। मन्त्रीगण कुर्सी बचाने की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं और इस प्रकार प्रशासन की उपेक्षा हो जाती है। इससे प्रशासनिक सूत्रों में शिथिलता आ जाती है और नौकरशाही का प्रभाव बढ़ जाता है।

(4) **दीर्घकालीन नीतियों का अभाव**—बहुदलीय पद्धति में साझा सरकारें अस्थिर होती हैं, अतः सरकारों के शीघ्र परिवर्तन के कारण नीति की अनिश्चितता उत्पन्न होती है और दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता, जबकि आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण अनिवार्य होता है।

(5) **कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति**—बहुदलीय शासन वाले देशों में कार्यपालिका दुर्बल होती है। प्रधानमन्त्री को कई दलों को साथ लेकर चलना पड़ता है। उसे विभिन्न दलों को प्रसन्न रखते हुए उनमें तालमेल स्थापित करना पड़ता है। यदि कोई भी दल किसी भी समय सरकार का समर्थन करना बन्द कर दे तो सरकार का पतन हो जाता है।

1989 तथा 1996 के चुनावों के बाद भारत में अल्पमतीय सरकारो का सिलसिला चल पड़ा जिसके श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह, चन्द्रशेखर, पी. वी. नरसिंह राव और अटल बिहारी वाजपेयी अल्पमत सरकार के नेता थे। मई 1996 से अब तक लोकसभा के दो बार चुनाव हुए और चार प्रधानमन्त्री बदले गए। श्री एच. डी. देवगौड़ा, इन्द्रकुमार गुजराल और अटल बिहारी वाजपेयी दुर्बल प्रधानमन्त्री कहे जा सकते हैं क्योंकि वे बाहरी समर्थन से अपनी सरकार चलाने को बाध्य हुए। पहली बार मई 1996 में श्री वाजपेयी मात्र 13 दिन प्रधानमन्त्री रह सके। आजकल प्रधानमन्त्री के सिर पर 'स्टीरिंग समिति' या 'समन्वय समिति' जैसी 'सुपर समिति' की तलवार लटकती रहती है जिससे उसके पद की संस्थागत स्वायत्तता समाप्त हो गई है।

निष्कर्ष

द्विदलीय पद्धति में मतदाता प्रत्यक्ष रूप से इस बात का निर्णय करते हैं कि देश में किस दल का शासन होना चाहिए अर्थात् किस नीति का पालन होना चाहिए। इसके विपरीत, बहुदलीय पद्धति वाले देशों के मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों में कोई निश्चित नीति नहीं होती और न कोई सामान्य कार्यक्रम। बहुदलीय पद्धति में मतदाता प्रायः व्यक्ति-विशेष अथवा समूह को मत देते हैं, दल को नहीं। इसमें अल्प मत वाले स्वार्थी व्यक्ति अधिक संख्या में निर्वाचित हो जाते हैं जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ इतने अधिक और सशक्त होते हैं कि वे अपने स्वार्थों के आगे राष्ट्रीय हित का भी बलिदान कर देते हैं।

प्रश्न

1. राजनीतिक दलो से आप क्या समझते हैं? प्रजातन्त्र में इसकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।
(राजस्थान, 1996, अजमेर, 1998)
2. "एक प्रजातान्त्रिक सरकार की व्यवस्था में राजनीतिक दलो की विशिष्ट भूमिका होती है।" कथन स्पष्ट कीजिए।
(राजस्थान, 1993)
3. एक लोकतान्त्रिक देश में राजनीतिक दलो तथा दवाव समूहों की भूमिका की विवेचना कीजिए।
(अजमेर, 1997)
4. राजनीतिक दलो से आप क्या समझते हैं? प्रजातन्त्र में इसकी क्या भूमिका है?
(राजस्थान, 1993)

11

दबाव समूह : स्वरूप एवं भूमिका

[PRESSURE GROUPS : NATURE AND ROLE]

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव तथा हित समूहों का विशिष्ट महत्व है। एक समय ऐसा भी था जब दबाव तथा हित समूहों को अनैतिक माना जाता था तथा तुच्छ निगाह से देखा जाता था। कार्ल जे. फ्रेडरिक ने लिखा है, "क्या कूड़ा ढोने वाले और क्या राजनीतिशास्त्र के गम्भीर अध्येयता, सभी इन दबाव समूहों को घटिया व हेय दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी पापात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़ें कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी।"[1] किन्तु वर्तमान में दबाव तथा हित समूहों को लोकतन्त्र का पक्षपोषक एवं सहयोगी माना जाने लगा। विभिन्न देशों की शासन-व्यवस्था में इन समूहों का महत्व एवं योगदान इतना बढ़ गया है कि इन्हे एक आवश्यक बुराई ही नहीं माना जाता अपितु राजनीतिक क्रियाशीलता के लिए स्वास्थ्यजनक तत्व भी स्वीकार किया जाता है।

दबाव समूह : अर्थ एवं परिभाषाएं (Pressure Groups : Meaning and Definitions)

'दबाव समूह' विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है—'प्रभावक गुट', 'हित समूह', 'गैर-सरकारी संगठन', 'लॉबीज', 'अनौपचारिक संगठन', 'हितबद्ध गुट' इत्यादि शब्दों का प्रयोग दबाव गुटों के लिए किया जाता रहा है। व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नही करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मसलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनावों में अपना प्रत्याशी खड़ा करते है।[2]

ऐलेन बाल के अनुसार, "प्रभावक गुट राजनीतिक प्रक्रिया के अविच्छिन्न अंग है और वे सरकार की नीति को मजवूत वनाने और दिशा वदलने का प्रयास करते है, लेकिन प्रभावक गुट की हैसियत से वे खुद सरकार नहीं वनाना चाहते। सशक्त नियोक्ता संगठन एवं राष्ट्रीय स्तर पर क्रियाशील श्रमिक संघों से लेकर स्थानीय सुविधाओं के सुधार का प्रयास करने वाले

1 कार्ल जे. फ्रेडरिक, कॉन्स्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट एण्ड डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई. बी. एच., 1966, पृ. 660।

2 के. वी. ओ., पॉलिटिक्स, पार्टीज एण्ड प्रेशर ग्रुप्स, क्रौवेल, न्यूयार्क, 1964 पृ. 1।

छोटे और अपेक्षाकृत कमजोर स्थानीय नागरिक गुटों तक सभी को प्रभावक गुटों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।"[1]

ओडिगार्ड शब्दों मे, "दवाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को, विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को, इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितो की रक्षा एवं संवर्द्धन कर सकें।"[2]

मायरन वीनर के मतानुसार, "दवाव समूह से हमारा तात्पर्य शासकीय व्यवस्था के बाहर किसी भी ऐसे ऐच्छिक, किन्तु संगठित समूह से है जो शासकीय अधिकारियो की नामजदगी अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीति के निर्धारण, उसके प्रशासन और समझौता व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करता है।"[3]

कार्टर तथा हर्ज के अनुसार, "एक दवाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिसके एक से अधिक स्वार्थ या उद्देश्य होते है। ये सार्वजनिक नीति-निर्माण को तथा नीति-निर्माताओं को इसलिए प्रभावित करने में लगे रहते हैं ताकि उनके अपने हितों की अभिवृद्धि हो सके।"

अर्ल लद्दम के शब्दो में, "राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हित समूह जब सार्वजनिक नीतियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों को अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावित करते हैं तो वे दवाव समूह कहलाते है तथा उनकी गतिविधियों का राजनीतिक महत्व होता है।"[4]

प्रो. एम. जी. गुप्त के अनुसार, "दवाव समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलो को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह, जो प्रशासनिक और विधायी दोनो ही प्रकार के निर्णयकर्ताओं को, सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किए विना ही प्रभावित करता है, वह दवाव समूह कहलाएगा।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर दवाव समूहो के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है—

(1) **विशिष्ट हितो से सम्बन्ध**—दवाव गुटों का सम्बन्ध विशिष्ट मामलों से होता है। उनकी गतिविधियां विशिष्ट लक्ष्यो की प्राप्ति तक ही सीमित होती है।

(2) **गैर-राजनीतिक संगठन**—दवाव समूह गैर-राजनीतिक संगठन होते है। उनका सम्बन्ध सार्वजनिक हितों की अपेक्षा निजी हितों से ही होता है।

(3) **अज्ञात साम्राज्य**—प्रो. एस. ई. फाइनर ने दवाव गुटो को अज्ञात साम्राज्य (anonymous empire) कहा है। वस्तुतः ये खुले रूप से राजनीति में भाग नही लेते। वे

1 ऐलेन वाल, आधुनिक राजनीति और शासन [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible] 1963, पृ. 290।
4 "Pressure groups are interest groups, interest groups, that are organised for political action are thought of as pressure groups and it is these that have direct political significance." —Earl Latham
5 गुप्त, मदन गोपाल, मॉडर्न गवर्नमेण्ट्स—थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस।

अदृश्य ढंग से राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इसी कारण हैरी एकस्टीन ने दबाव समूहों को "राजनीतिक और गैर-राजनीतिक में मध्यस्तरीय क्रिया" बतलाया है।[1]

(4) सरकार पर आधिपत्य की अनिच्छा—दबाव समूहों का सरकार पर आधिपत्य स्थापित करने का कोई लक्ष्य नहीं होता और वे शासन के ढांचे से पृथक् रहकर ही कार्य करते हैं। वस्तुतः दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह, जो प्रशासनिक और संसदीय दोनों ही प्रकार के पदाधिकारियों को सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किए बिना ही प्रभावित करना चाहता है, दबाव गुट की श्रेणी में आएगा।

दबाव समूहों का महत्व (Importance of Pressure Groups)

दबाव समूहों का महत्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। अधिकांश देशों के संविधान इस बात को स्वीकार करते है कि वहां पर इस प्रकार के समूहों के विकास के लिए उपयुक्त सुविधाएं प्रदान् की जाएं। ये समूह प्रशासन को जन-इच्छा के अनुकूल बनाने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबाव समूहों की उपयोगिता तथा महत्व के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं—

(1) लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में दबाव समूह—दबाव गुटों को लोकतान्त्रिक भावना की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। लोकमत को शिक्षित करके, आंकड़े इकट्ठे करके, विधि-निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएं पहुंचाकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करना आज लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

(2) शासन के लिए सूचनाएं एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह—शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके पास पर्याप्त सूचनाएं हों। शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आंकड़े इकट्ठे करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

(3) शासन को प्रभावित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह—वर्तमान दबाव समूह का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिसके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित-विशेष की रक्षा के लिए शासकीय मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सके।

(4) सरकार की निरंकुशता को सीमित करना—प्रत्येक प्रकार की शासन-व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियां सरकार के हाथो में केन्द्रित होती जा रही है। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते है।

(5) समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित करना—राज्य में दबाव समूहों की उपस्थिति का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन-सा बना रहता है और इस प्रकार

1 "Pressure groups constitute an intermediate level of activity between the political and non-political." —Harry Exkstein, *Pressure Group Politics*, Stanford University Press, 1960, pp. 15-39.

कोई भी एकमात्र प्रभावशाली सत्ता उदित नहीं हो पाती। व्यापारी, श्रमिक, किसान, कर्मचारी, जातीय और धार्मिक समुदाय, आदि सभी अपने स्वयं के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उनको एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। इससे समाज और शासन में अनूठा सन्तुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलनकारी प्रवृत्ति (Countervailing Tendency) समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसमें व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं।

(6) व्यक्तिगत हितों और सरकार के मध्य संचार के साधन—दबाव समूह व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते है। ये समूह नागरिक और सरकार के मध्य संचार-साधन का कार्य करते हैं। रॉडी के अनुसार, "निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं, अत. इन्हें गैर-सरकारी संचार-सूत्र कहा जा सकता है।"[1]

(7) विधान-मण्डल के पीछे विधान-मण्डल का कार्य—दबाव समूह विधि-निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशेषज्ञता तथा ज्ञानगुरुता के कारण ये गुट विधि-निर्मात्री समितियो के सदस्यो को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनका परामर्श और सहायता दोनो ही इतने उपयोगी होते हैं कि इन्हें विधान-मण्डल के पीछे विधान-मण्डल कहा जाने लगा है।[2]

वस्तुतः दबाव समूह लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का दूसरा नाम है। निरकुशतन्त्र में भी इनका अभाव नही होता। साम्यवादी शासनतन्त्र में भी दबाव गुट सक्रिय रहते है।

दबाव समूह एवं राजनीतिक दल (Pressure Groups and Political Parties)

दबाव गुटो और राजनीतिक दलों के बीच स्पष्ट भेद करने की कठिनाई गुटों की परिभाषा तथा वर्गीकरण की समस्याओं से जुड़ी हुई है। ब्रिटेन और अमरीका मे दबाव गुटो और राजनीतिक दलों के बीच गहरा सम्बन्ध नही पाया जाता, इसलिए वहां इन दोनों के बीच भेद करने की समस्या दूसरे उदार प्रजातन्त्रों जैसी उग्र नहीं होती, यद्यपि कुछ ट्रेड यूनियनों और ब्रिटिश लेबर पार्टी के बीच निकट के सम्बन्ध है। विकासशील देशों में दल-पद्धतियों की कमजोरिया भी दबाव-गुटो और राजनीतिक दलों के बीच के भेद को धुंधला कर देती हैं।

प्रो. हरमन फाइनर का कथन है कि—"जहां सिद्धान्त और संगठन मे राजनीतिक दल कमजोर होगे वहां दबाव समूह पनपेंगे, जहां दबाव समूह शक्तिशाली होगे, वहा राजनीतिक दल कमजोर होंगे और जहां राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे, वहा दबाव समूह दबा दिए जाएंगे।"[3] परन्तु राजनीतिक दलों की सुदृढ़ता और कमजोरी का सम्बन्ध दबाव समूहों की शक्ति और दुर्बलता से नहीं जोड़ा जा सकता। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन मे संगठन और अनुशासन की दृष्टि से राजनीतिक दल काफी मजबूत है, किन्तु दबाव समूह भी किसी प्रकार दुर्बल नहीं हैं। भारत और फ्रांस में संगठन और सिद्धान्त की दृष्टि से राजनीतिक दल कमजोर है, किन्तु दबाव गुटों को भी 'किंग मेकर्स' के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई है। भारत मे तो राजनीतिक

1 रॉडी, ऐण्डरसन एण्ड क्रिस्टल, **इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइन्स**, 1967, पृ. 464।

2 बर्मन, डी. एम., द लेजिस्लेटिव प्रोसेस इन यू. एस. काग्रेस; **द जर्नल ऑफ कान्स्टिट्यूशनल एण्ड पार्लियामेण्ट्री स्टडीज**, खण्ड 2, पृ. 41।

3 फाइनर, हरमन, **गवर्नमेण्ट्स ऑफ ग्रेटर यूरोपियन पावर्स**, 1956, पृ. 34।

दल विभिन्न दवाव गुटों के ही संयुक्त गठजोड़ (coalitions) हैं जो दल के भीतर दलीय नीतियों को प्रभावित करते रहते हैं।

दवाव समूह और राजनीतिक दल गैर-संवैधानिक (extra-constitutional) अभिकरण [illegible]

[illegible]

एवं पूरक हैं।

राजनीतिक दलों और दवाव समूहों में काफी अन्तर पाया जाता है। बेर्नी के शब्दों में, "दोनों में यही मुख्य अन्तर है कि एक चुनाव में भाग लेकर सरकार बनाने की महत्वाकांक्षा रखता है जबकि दूसरा (दवाव समूह) चुनाव को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है, किन्तु सरकार बनाने की कोई आकांक्षा नही रखता।"[1] प्रो. न्यूमैन ने दलों तथा प्रभाव गुटों के बीच किए जा सकने वाले कुछ भेदों का संकेत इस प्रकार दिया है, "मूल रूप से प्रभावक गुट प्रभाव चाहने वाले स्वरूप हितों की प्रतिमूर्ति होते हैं। जब किसी दवाव गुट का सुस्पष्ट उद्देश्य होता है तब प्रभावी एवं शक्तिशाली होता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलों के अन्तर्गत विभिन्न विषम रूप गुट सम्मिलित होते हैं जिनका लक्ष्य राजनीतिक पदों की प्राप्ति एवं नीति सम्बन्धी निर्णयों को निर्देशित करना है। वास्तव में राजनीतिक समाज के अन्तर्गत विखरी हुई शक्तियों के बीच सम्पर्क-सूत्र स्थापित करना इस तरह के दलों का मुख्य कार्य होता है। राजनीतिक दलों का कार्य एकीकरण करना है और यह दवाव गुटों के कार्यक्षेत्र के बाहर की चीज है।"

दवाव गुटों और राजनीतिक दलों में निम्नलिखित अन्तर किया जा सकता है—

(1) राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेते हैं, दवाव समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते—राजनीतिक दल मुख्यतः शासन के संचालन और नियन्त्रण के उद्देश्य से प्रेरित होता है और इसलिए चुनाव लड़कर विजय की आकांक्षा रखता है। इसके विपरीत, दवाव समूह केवल अपने सामान्य हितों से सम्बन्धित सार्वजनिक नीति को अपने अनुरूप करवाने में ही रुचि रखता है। यह राजनीतिक दल के समान निर्वाचनों के लिए अपने प्रतिनिधि खड़े नहीं करता, अपितु नीति-निर्माताओं को प्रभावित करके अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना चाहता है।

[illegible]

(3) राजनीतिक दल का विस्तृत उद्देश्य होता है जबकि दवाव समूह के उद्देश्य संकुचित होते हैं—राजनीतिक दल मे सभी हितों के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, अतः उनका ध्येय विस्तृत हो जाता है। दवाव समूह में एक विशिष्ट हित से सम्बन्धित व्यक्ति ही सम्मिलित होते है, अतः उनका ध्येय सीमित और संकुचित होता है।

(4) राजनीतिक दल विधान-मण्डल में कार्य करते है, जबकि दवाव समूह विधान-मण्डल के बाहर करते हैं—राजनीतिक दलों का कार्यक्षेत्र विधान-मण्डल होता है। यदि बहुमत वाला दल है तो सरकार बनाता है और अल्पमत में है तो सरकार की नीतियों का विरोध करने के साथ-साथ विकल्प प्रस्तुत करता है। दूसरी तरफ, दवाव समूह का कार्यक्षेत्र विधान-मण्डल के

1 बेर्नी, डी. वी., दि एनालिसिस ऑफ पॉलिटिकल सिस्टम्स, 1959, पृ. 138।

बाहर होता है। प्रत्येक विधायिका भवन के साथ लगे हुए कमरे या बरामदे को 'लॉबी' कहा जाता है, जिसमें विधायिका के सदस्य अवकाश के समय बैठते हैं। इस समय दबाव समूहों के प्रतिनिधि उनसे मिलने आते हैं, उनसे बातचीत करते हैं और अपने मतों अथवा विचारों से उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

(5) **साधन सम्बन्धी अन्तर**—राजनीतिक दलों से यह आशा की जाती है कि वे संवैधानिक साधनों को ही अपनाएंगे जबकि दबाव समूह द्वारा सवैधानिक और गैर-संवैधानिक सभी प्रकार के साधन अपनाए जा सकते है।

(6) **सदस्यता सम्बन्धी अन्तर**—कोई भी व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है, जबकि एक व्यक्ति एक समय पर उतने ही दबाव समूहों का सदस्य बन सकता है जितने उसके हित होते हैं।

दबाव समूह एवं हित समूह (Pressure Groups and Interest Groups)

दबाव समूह एवं हित समूह में अन्तर करना बड़ा कठिन है। वस्तुतः वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों का अन्तर केवल सैद्धान्तिक महत्व का है। अर्ल लद्दम के शब्दों में, "सभी हित समूह दबाव गुट नही होते, किन्तु समय आने पर सभी हित समूह दबाव गुट का रूप धारण कर सकते हैं।"[1] छात्रों के समूह, डॉक्टरों के समूह, व्यापारी संघ आदि सभी 'हित समूह' हैं क्योंकि वे किन्ही हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु ये 'हित समूह' जब राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करना प्रारम्भ कर देते हैं तथा राजनीतिक दृष्टि से अपने अभीष्ट हितों की प्राप्ति के लिए सक्रिय हो जाते हैं तो 'प्रभावक गुट' अथवा दबाव समूह की श्रेणी में आ जाते है।[2] जब 'हित समूहों' के 'हित' सकट मे होते हैं अथवा जब इन्हें कतिपय स्वार्थो की प्राप्ति करनी होती है तो वे सक्रिय बन जाते हैं अन्यथा वे हित समूहों के रूप में निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

दबाव समूहों के तरीके (Pressure Group Techniques)

अपने हितो की पूर्ति के लिए दबाव समूह उपयुक्त साधन या तरीके अपनाते हैं। प्राचीन समय में उनके साधनों को बुरी नजर से देखा जाता था, किन्तु वर्तमान समय मे इन्हे बुरा नही माना जाता। दबाव गुटों द्वारा अपनाए जाने वाले साधन इस प्रकार हैं—

(1) **प्रचार व प्रसार के साधन**—अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए; जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए तथा विधायकों के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए विभिन्न दबाव समूह प्रेस, समाचार-पत्र, रेडियो तथा टेलीविजन का प्रयोग करते हैं।

(2) **आंकड़े प्रकाशित करना**—नीति-निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आंकड़े प्रकाशित करते है ताकि अपनी माग पूरी करवा सकें।

(3) **गोष्ठियां आयोजित करना**—वर्तमान मे दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए गोष्ठियां, सेमिनार, वार्ताएं तथा भाषण-मालाएं आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियों में विधायिका के सदस्यों तथा प्रशासिका के प्रमुख अधिकारियों को आमन्त्रित करते हैं और उन्हें अपने दृष्टिकोणो से प्रभावित करने का प्रयास करते है।

1 "Not all interest groups are pressure groups, then, although all interest groups may become pressure groups when the occasion arises." —*Earl Latham*

2 "Interest groups that are organised for action of this type are of as pressure groups, and it is these that have direct political significance." —*Earl Latham*

(4) संसद की लॉबियों में सक्रिय रहना—दवाव गुट अपने एजेण्टों के माध्यम से संसद के सभाकक्षों में जाकर सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यावसायिक संगठन संसद की लॉवियों में संसद-सदस्यों को प्रभावित करने के लिए चतुर वकीलों या एजेण्टों को नियुक्त करते हैं, जो उनके स्वार्थों की पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करते है। लॉवी क्षेत्र के एजेण्ट अपने न्यायसंगत अधिकारों की रक्षा के लिए खुले उपायों का भी सहारा लेते हैं। ये विधायकों के साथ सम्पर्क स्थापित करते है, उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं और उनकी मनोवृतियों को वदलने का प्रयास करते हैं।

(5) रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य उपाय—अपने अभीष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिए दवाव समूह रिश्वत व घूंस देने से भी नहीं कतराते। वेईमानी के तरीके भी अपनाए जाते हैं। कहीं-कहीं पर तो आवश्यकतानुसार सुरा और सुन्दरी का भी प्रयोग करते हैं। प्रत्येक राज्य की राजधानी में दवाव समूह धन खर्च करके अपने साध्यों की प्राप्ति में लगे रहते हैं।

(6) लॉबीइंग—लॉवीइंग से अभिप्राय है 'सरकार को प्रभावित करना।' यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉवीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दवाव समूह और सरकार के वीच मध्यस्थ होते हैं। ये लॉवीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं—सूचनाएं प्रसारित करते हैं, नियोजनकर्ता के हितों की रक्षा करते हैं तथा विधियों के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते हैं।[1] लॉवीस्ट के माध्यम से दवाव समूह विधि-निर्माताओं को प्रभावित करते हैं और वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

(7) संसद सदस्यों के मनोनयन में रुचि—दवाव समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनावों में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि में सहायक हों। ऐसा कहा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में संसद-सदस्य दवाव समूहों की जेब में होते हैं। चुनावों में प्रत्याशियों को पैसा चाहिए और पैसा दवाव समूह उपलब्ध कराते हैं। वे पैसों की खोज में दवाव समूहों के पास जाते हैं और वदले में उन्हें दवाव समूहों की मांग का समर्थन करना पड़ता है।

(8) प्रदर्शन—कभी-कभी दवाव गुट उग्र आन्दोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। प्रायः प्रदर्शनकारी दवाव समूहों द्वारा ही ऐसे साधनों का अधिक प्रयोग किया जाता है। आजकल तो दूसरे अन्य दवाव गुट भी हड़ताल, जुलूस, रैली आदि साधनों का आम तौर से प्रयोग करने में लगे हैं।

ओडिगार्ड[2] के अनुसार, दबाव-समूह सामान्यतया तीन प्रकार से क्रियाशील रहते हैं—प्रथम, दवाव समूह चुनावों के समय सक्रिय रहते हैं; द्वितीय, वे विधानांग पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और लॉवीइंग कार्य करते है और तृतीय, प्रसार माध्यमों से लोकमत को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करते है। वस्तुतः दवाव समूहों के तरीके और उपाय सरकार के क्रियाकलापों के स्वरूप पर निर्भर करते है। यदि सरकार कम से कम आर्थिक कार्यों का सम्पादन करती है तो दवाव समूह सुपुप्त रहेंगे और यदि सरकार अधिक से अधिक आर्थिक कार्य करती है तो दवाव समूह सक्रिय रहेंगे।

1 लेस्टर, गिलब्रेथ, लावीइंग एण्ड ए कम्युनिकेशन्स प्रॉसेस : पब्लिक ओपिनियन क्वार्टरली; 1960; पृ. 35।

2 ओडिगार्ड, अमरीकन गवर्नमेण्ट, 1961, पृ. 155।

दबाव समूहों का वर्गीकरण (Pressure Groups : Classification)

जी. ए. अमंड तथा जी. बी. पॉवेल ने अपनी पुस्तक 'कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स' मे दबाव समूहों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है—(1) संस्थात्मक दवाव समूह (Institutional Pressure Groups), (2) समुदायात्मक दवाव समूह (Associational Pressure Groups), (3) गैर-समुदायात्मक दवाव समूह (Non-Associational Pressure Groups), और (4) प्रदर्शनात्मक दवाव समूह (Anomic Pressure Groups)।

(1) संस्थात्मक दवाव समूह—सस्थात्मक दवाव समूह राजनीतिक दलों, विधान-मण्डलों, सेना, नौकरशाही इत्यादि में सक्रिय रहते है। इनके औपचारिक संगठन होते है। ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न संस्थाओं की छत्र-छाया मे पोषित होते हैं। ये अपने हितो की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ अन्य सामाजिक समुदायो के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

(2) समुदायात्मक दबाव समूह—समुदायात्मक दबाव समूह हितो की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत संघ होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है। ये अपने आधुनिक परिवेश में प्रत्येक देश की राजनीति मे सक्रिय दिखलाई देते हैं। इनमें प्रमुख है—व्यावसायिक संगठन, श्रमिक संगठन, विद्यार्थी संगठन, आदि।

(3) गैर-समुदायात्मक दवाव समूह—गैर-समुदायात्मक दवाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते है, इनके संगठित संघ नही होते और इनको परम्परावादी दवाव गुट भी कहते है। गैर-समुदायात्मक दवाव समूहों में साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय, आदि लिए जा सकते है।

(4) प्रदर्शनात्मक दवाव समूह—प्रदर्शनकारी गुट वे हैं जो अपनी मागों को लेकर अवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रामक रवैया अपना लेते हैं। प्रदर्शनात्मक विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही के कई प्रकार है, जैसे जन-सभाएं, गली-कूचा बैठक, पदयात्रा, रैली, विरोध-दिवस मनाना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, घेराव आदि। इन उपायो से प्रभावक गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते हैं अपितु सरकार के निवेश (inputs) तथा निर्गत (outputs) ढांचे को प्रभावित करते हुए नियम निर्माण (rule making), नियम प्रयुक्ति (rule application) एवं नियम अधिनिर्णयन (rule adjudication) के स्वरूप को भी छू लेते हैं। ये गुट किसी विशिष्ट नीति को बनवाने अथवा बदलने के लिए सरकार पर दवाव डालते है।[1]

भारतीय शासन में दवाव समूहों की भूमिका (Role of Pressure Groups in Indian Government)

एशिया की राजनीति के तीन अध्येयताओं (काहिन, पै, पार्क एवं टिंकर) का यह निष्कर्ष भारत पर भी लागू होता है कि "पश्चिमी देशों की राजनीतिक प्रक्रिया मे हित-समूह की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है जबकि गैर-पश्चिमी देशों में ऐसा नहीं हुआ है।"[2] भारत में अमरीका की तुलना मे दवाव-समूह विकसित नही हो पाए हैं यद्यपि कतिपय व्यावसायिक

1 आमण्ड एण्ड पॉवेल, कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स, 1966, पृ. 75-78।
2 कहिन, पै, पार्क, कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स ऑफ नॉन-वेस्टर्न कण्ट्रीज, 'अमरीकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू', सितम्बर 1955, पृ. 10-26।

संगठन दवाव समूह के रूप में सक्रिय अवश्य हैं, किन्तु अन्य प्रकार के दवाव समूह मध्यवर्गीय नेतृत्व के कारण सक्रिय रूप से राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णयों को आधुनिक ढंग से प्रभावित नही कर पा रहे हैं। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के चलन, राजनीतिक अधिकारों की वृद्धि, जनता को प्राप्य विशेषाधिकारों एव आर्थिक-सामाजिक क्षेत्रो मे नियोजित कार्यक्रमों के विस्तार के कारण भारत की राजनीतिक संरचना मे संगठित दबाव व हित समूहों का विस्तार होता जा रहा है।

स्वाधीनता से पूर्व भी अनेक हित-समूह भारतीय राजनीति में विद्यमान थे। ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन इत्यादि हित-समूह समाज-सुधारक के रूप में कार्यरत थे। सन् 1885 मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। आमण्ड तथा कोलमैन का मत है कि दक्षिण एशिया के प्रारम्भिक आधुनिक समुदाय यथार्थ में हित-समूह एवं प्रभावक गुट ही थे न कि राजनीतिक दल। कांग्रेस, मुस्लिम लीग इत्यादि का ध्येय तो मात्र मध्यम वर्ग के हितों की अभिवृद्धि करना था इसलिए इन्हें प्रारम्भिक हित-समूह कहा जा सकता है।

स्वतन्त्रता के वाद भारतीय शासन व्यवस्था में सक्रिय प्रमुख संस्थानात्मक दवाव समूह के उदाहरण हैं—'कांग्रेस कार्य समिति', 'कांग्रेस संसदीय बोर्ड', 'मुख्यमन्त्री क्लव' आदि। इन सत्तारूढ़ दल के संगठनों ने राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशियों के चयन को समय-समय पर प्रभावित किया था। सामुदायिक दवाव समूहों में प्रमुख हैं—फिक्की, इंटक, एटक आदि। [illegible] था [illegible] है, उल्फा, जम्मू-कश्मीर लिवरेशन फ्रण्ट, सिख स्टुडेण्ट फेडरेशन, आदि प्रमुख हैं। ऐसा कहा जाता है कि भारत में दवाव समूह प्रशासकों को प्रभावित करने में लगे रहते हैं न कि नीति-निर्माण प्रक्रिया को।

हमारी राजनीतिक प्रक्रिया में व्यापारियों के दवाव-समूहों के प्रभाव का अनुमान डालमिया उद्योग समूहों पर विवीन वोस जांच रपट से लगाया जा सकता है जो कि डालमिया जैन-उद्योग समूह की अनियमितताओं का विस्तृत प्रतिवेदन है, किन्तु उद्योग-समूह के प्रतिनिधियों ने रपट का विवरण संसद सदस्यों तक नहीं पहुंचने दिया, समाचार-पत्रो में रपट का प्रकाशन न हो सका और न संसद में ही उस पर विस्तृत विचार हुआ। रपट दवा दी गई और संसदीय पुस्तकालय से भी गायव कर दी गयी। डालमिया-जैन पर दिल्ली की अदालत मे 25 वर्ष तक मुकदमा चलता रहा। अभियुक्तों ने 25 वर्ष तक न्याय की प्रगति मे यथासम्भव सभी रुकावटें डाली तथा फैसला घोपित होते ही सरकार ने इस खवर के प्रकाशन पर पावन्दी लगा दी। क्या यह सम्भव है कि सरकारी कोप अथवा सत्ताधारी कांग्रेस के चुनाव फण्ड मे मोटी रकम डाल देने के कारण सरकार ने अभियुक्तों को संरक्षण देना उचित समझा।[1] यह उदाहरण दर्शाता है कि भारत मे व्यावसायिक दवाव गुटों का सरकारी और संसदीय मशीनरी पर कितना प्रभाव होता है।

दवाव समूहों की आलोचना (Pressure Groups : Criticism)

दवाव समूहों के प्रमुख दोप अग्र प्रकार हैं—

[1] राजस्थान पत्रिका, 14 अप्रैल, 1977 (इतवारी पत्रिका), पृ.1-2।

(1) **सार्वजनिक हितों की उपेक्षा**—दवाव गुट अपने घटिया स्वार्थों की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याण को तुच्छ निगाह से देखते है। कभी-कभी उनके वर्गीय हितों से सामान्य हितों को भी हानि पहुंचने का खतरा बना रहता है।

(2) **राजनीतिक प्रक्रिया में भ्रष्टाचार फैलाना**—अधिकांश दवाव गुट हमारे सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अनेक घृणित उपायों का आश्रय लेते हैं। वे विधायकों को घूस देने व अन्य अनुचित और अनैतिक आचरण के कार्य भी करते हैं जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) **संकुचित दृष्टिकोण**—दवाव गुट अपने संकीर्ण हितो को बढ़ावा देते हैं, संकीर्ण होते है इसलिए राष्ट्रीय हितों की तुलना में संकुचित गुटीय हितों को महत्व दिया जाता है।

(4) **लॉबीइंग**—अनेक दवाव गुट 'लॉबीस्ट' द्वारा कार्य करते हैं। लॉबीस्ट की प्रक्रिया से भ्रष्टाचार और अनैतिकता में वृद्धि होती है। वी. ओ. के के अनुसार, "दवाव शब्द का प्रयोग मस्तिष्क में एक ऐसे शैतान 'लॉबीस्ट' का चित्र अंकित कर देता है जो उचित पथ पर चलने वाले विधायक को सार्वजनिक हित की धारणा से हटाने के लिए अनुचित दवाव डालने का प्रयास करता है।"[1]

(5) **हिंसा की राजनीति के संगठित स्रोत**—दवाव गुट सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग करते है। मायरन वीनर लिखते हैं कि, "गैर-पश्चिमी देशों मे हिंसात्मक कार्यवाहियां अचानक नही हो जातीं अपितु सगठित और योजनाबद्ध होती हैं।"[2] हिंसा और जन-आन्दोलन से अराजकता उत्पन्न होती है और ऐसी अव्यवस्था शासन-व्यवस्था के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न कर देती है।

दबाव समूहों का मूल्यांकन (Pressure Groups : An Estimate)

इन आलोचनाओं में सत्य का अंश अवश्य है, किन्तु किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए दबाव व हित समूहों से छुटकारा पाना इतना आसान नही है। साम्यवादी और अधिनायकवादी शासन-व्यवस्थाओ में भी दवाव समूह सक्रिय रहते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में तो उन्हें सवैधानिक संरक्षण प्राप्त होता है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों का समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया जाता है—

(1) दवाव समूह अपने पक्ष को शासन के सामने ठीक प्रकार से प्रस्तुत करते है। इससे शासन को वस्तुस्थिति से आगाह किया जाता है।

(2) दबाव समूह लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के प्रतिरूप हैं।

(3) दबाव हितों के द्वारा समाज तथा राज्य मे सन्तुलन स्थिर रखा जाता है।

(4) जब निर्वाचनो के उपरान्त राजनीतिक दलों की गतिविधियां कम हो जाती हैं तो दवाव समूह अपनी सक्रियता से 'शून्य' की पूर्ति करते हैं।

1 "The use of the term 'Pressure' conjures up a picture of wicked lobbyist attempting to coerce a righteous legislator to deviate from his disposition to follow public interest." —V O Key

2 मायरन वीनर, पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी, 1964, पृ. 200-201।

निष्कर्षतः, दवाव तथा हित समूहों से हम अपेक्षा करते है कि वे 'सार्वजनिक हित' अवधारणा को स्वीकार करते हुए सार्वजनिक जीवन की अभिवृद्धि तथा उन्नति के लिए ने आपको प्रस्तुत करेंगे। अभी तक दवाव समूह तथा सार्वजनिक हित (Public interest) ाध्य सन्तुलन स्थापित करना एक समस्या वनी हुई है।

प्रश्न

1. दवाव समूह क्या है? राजनीतिक दल दवाव समूह की तरह किस प्रकार कार्य करते है? **(राजस्थान, 1994)**
2. दवाव समूह पर टिप्पणी लिखिए। **(राजस्थान, 1993, 95, 98; अजमेर, 1994)**
3. राजनीतिक दलो एवं दवाव समूहों को परिभाषित कीजिए तथा एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो के कार्यों का वर्णन कीजिए। **(अजमेर, 1995)**
4. *दवाव समूहों से आप क्या समझते है? प्रजातन्त्र में इनकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।* **(अजमेर, 1998)**

12

भारत में वित्त आयोग : संगठन एवं का

[FINANCE COMMISSION IN INDIA: ORGANIZATION AND FUNCTIONS]

भारत मे केन्द्र व राज्यों के मध्य वित्तीय वंटवारे के लिए जो सांविधानिक प्रावधान है उनके अन्तर्गत कुछ कर केन्द्र द्वारा आरोपित, संग्रहीत व प्रयुक्त किए जाते हैं जबकि कुछ करों के आरोपण, संग्रहण व उपयोग का अधिकार राज्यों को प्रदान किया गया है। इनके अतिरिक्त, कुछ करों के कुल राजस्व का विभाजन केन्द्र व राज्यों के मध्य होता है। राज्यों को इस प्रकार के कर राजस्व के अतिरिक्त केन्द्र से अनुदान भी प्राप्त होते हैं। केन्द्र व राज्यों के मध्य विभाजनीय करों के राजस्व के विभाजन व केन्द्रीय अनुदानों की राशि के निर्धारण व इस राशि के अन्तर्राज्यीय वितरण के लिए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 280 में वित्त आयोग का गठन का प्रावधान है।

संघवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार की दृष्टि से वित्त आयोग को भारत का मौलिक योगदान माना जा सकता है।[1] क्योंकि विश्व के अन्य संघो में इस संगठन के सदृश व अन्य संगठन दृष्टिगोचर नहीं होता। आस्ट्रेलिया के राष्ट्रमण्डलीय अनुदान आयोग का संविधान सभा में यद्यपि कई वार जिक्र हुआ था, किन्तु उसकी तुलना भारत के वित्त आयोग से करना अनुचित होगा क्योंकि उसके निर्माण का कोई साविधानिक आधार नहीं था जबकि इसके विपरीत भारतीय वित्त आयोग सविधान का सृजन है।

वित्त आयोग की सदस्यता (Membership of the Finance Commission)

संविधान की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान के लागू होने की तिथि से दो वर्ष के भीतर और उसके बाद हर पांचवें वर्ष की समाप्ति पर या आवश्यक होने पर उससे भी पहले वित्त आयोग नियुक्त करना चाहिए।[2] वित्त आयोग के एक सभापति तथा चार अन्य सदस्य होंगे, जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करेगा। सन् 1951 के वित्त आयोग अधिनियम मे धारा (3) के अधीन अध्यक्ष और सदस्यों की अर्हताएं निम्न प्रकार दी गयी हैं—आयोग का अध्यक्ष ऐसे व्यक्तियों में से चुना जाएगा जिन्हें सार्वजनिक कार्यों का अनुभव हो और अन्य चार

1 B. N. Rao, *Indian Constitution in the Making* (1960), pp. 384-85.
2 *Constitution of India*, Article 280

सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से चुने जाएंगे—(i) जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हों; या रह चुके हों या इस प्रकार की नियुक्ति के पात्र हों; अथवा (ii) जिन्हें सरकार के वित्त और लेखों का विशेष ज्ञान हो; अथवा (iii) जिन्हें वित्तीय मामलों और प्रशासन का विस्तृत अनुभव हो; अथवा (iv) जिन्हें अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान हो।

वित्त आयोग को सौंपे जाने वाले कार्य (Functions of the Finance Commission)

संविधान के अनुच्छेद 280 की धारा 3 में वित्त आयोग के लिए मोटे तौर पर निम्नलिखित विचारार्थ विषय निर्धारित किए गए हैं[1]—

(क) संघ तथा राज्यों के बीच में करों के शुद्ध आगम को, जो इस अध्याय के अधीन उनमें विभाजित होता है या हो, वितरण के बारे में तथा राज्यों के बीच ऐसे आगम के तत्सम्बन्धी अंशों के बंटवारे के बारे में,

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वों के सहायक अनुदान देने में पालनीय सिद्धान्तों के बारे में,

(ग) सुस्थिर वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिश करें।

वित्त आयोग और उसके सदस्यों की कार्यविधि (Finance Commission and its Working)

वित्त आयोग की नियुक्ति केन्द्रीय वित्त मन्त्रालय द्वारा राष्ट्रपति के आदेश की घोषणा द्वारा की जाती है। यह घोषणा साधारणतः (यद्यपि हमेशा नहीं) संसद में संघ का बजट प्रस्तुत किए जाने के बाद की जाती है। वित्त आयोग उस तिथि से अस्तित्व में आ जाता है जिस तिथि को उसका अध्यक्ष और सदस्य अपने पद का भार संभालते हैं। यह तिथि राष्ट्रपति के आदेश में दी हुई होती है। वित्त आयोग की कार्यविधि भी राष्ट्रपति के आदेश में दे दी जाती है। प्रतिवेदन के प्रस्तुत होने पर आयोग का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वित्त आयोग की कार्यविधि का औसत लगभग 14 महीने रहा है, किन्तु प्रत्येक आयोग की अवधि अलग-अलग थी। कम से कम अवधि तीसरे वित्त आयोग की रही जिसने 12 महीने काम किया। पांचवें आयोग ने अधिक से अधिक समय लिया और उसकी कार्यावधि $16\frac{1}{2}$ महीने रही।[2]

वित्त आयोग की कार्यप्रणाली (Procedure of the Working of the Finance Commission)

भारत सरकार द्वारा वित्त आयोग के निर्माण की घोषणा के तुरन्त बाद उसके सदस्य पद संभाल लेते हैं और आयोग के कार्य का कार्यक्रम निर्धारित कर लेते हैं। सर्वप्रथम वित्त आयोग राज्य सरकारों को पत्र लिखकर उनसे आगामी पांच वर्षों में उनके सामान्य राजस्व व्यय और राजस्व से प्राप्त आय के आकलन देने को कहता है। इन आकलनों के प्राप्त होने पर आयोग इन आकलनों की विश्वसनीयता की जांच करता है और आवश्यक स्पष्टीकरण के लिए राज्यों के सम्बन्धित अधिकारियों को दिल्ली बुलाता है। इन स्पष्टीकरणों के बाद आयोग

1 मूल धारा (ग) को संविधान के अनुच्छेद 280 में से सातवें संशोधन द्वारा 1956 में हटा दिया गया था, इसलिए मूल धारा (घ) अब धारा (ग) बन गयी है।

2 जी. थिमैया, "सम नेगलेक्टेड आसपेक्ट्स ऑफ फाइनेन्स कमीशन" जर्नल ऑफ एण्ड पार्लियामेन्ट्री स्टडीज (नई दिल्ली), अक्टूबर-दिसम्बर 1974, पृ. 458।

आकलनों में से असाधारण एवं असामान्य मदों को निकालकर उन्हें विभिन्न राज्यों में परस्पर तुलनीय रूप देता है। यह आयोग के कार्य का पहला चरण है। दूसरे चरण में, आयोग सभी राज्यों का मुख्यतः उनकी राजधानी जाकर दौरा करता है। इन दौरों का उद्देश्य वित्तीय सहायता के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य का पक्ष सुनना होता है। सामान्यतः आयोग प्रत्येक राज्य के मुख्यमन्त्री और वित्तमन्त्री तथा उसके सहायकों से वात करता है। प्रत्येक राज्य निरपवाद रूप से अधिक वित्तीय सहायता के लिए अपना पक्ष समर्थन करते हुए ज्ञापन देता है। सामान्यतः यह सुनवाई वन्द कमरे में होती है, यद्यपि प्रेस विज्ञप्तियों द्वारा समाचार-पत्रों में उसका प्रचार होता है। इसके अलावा आयोग सामान्यतः व्यक्तियों और संस्थाओं से भी ज्ञापन प्राप्त कर सकता है और उनकी सुनवाई भी कर सकता है। वह ऐसा करता भी है।

भारत जैसे 25 राज्यों वाले देश में जहां लाखों विशेषज्ञ हैं काफी समय लेने वाले और कठिन द्वितीय चरण की स्थिति को पूरा करने के वाद, रिपोर्ट तैयार करने और उसे अन्तिम रूप देने के लिए आयोग अपनी बैठकें दिल्ली में आयोजित करता है। आयोग के प्रतिवेदनों से यह जानना वहुत कठिन है कि आयोग अपना उपागम दृष्टिकोण तथा कार्य पद्धति राज्यों के प्रतिनिधियों से मिलने के पहले तैयार करता है या वाद मे। दस वित्त आयोगों के काम से ऐसा लगता है कि ये अधिकतर पहले तैयार किए जाते हैं और अन्तिम रूपरेखा राज्यो के प्रतिनिधियों, व्यक्तियों तथा संस्थाओं की वात सुनने के लिए तैयार की जाती है। इन प्रक्रियाओं के वाद आयोग अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देता है। सामान्यतः यह रिपोर्ट संसद में केन्द्रीय वजट रखे जाने के कुछ महीने पहले दे दी जाती है। राष्ट्रपति कार्यान्वयन की दृष्टि से इस पर विचार करने के लिए केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से अनुशंसा करते है। मन्त्रिमण्डल केन्द्रीय वित्त मन्त्रालय के परामर्श के आधार पर, आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने या अस्वीकृत करने के बारे में निर्णय लेता है। स्वीकृत होने पर रिपोर्ट को संसद में रखने के बाद, कार्यान्वयन के लिए उसकी सिफारिशों को केन्द्रीय वजट में शामिल कर लिया जाता है।

वित्त आयोगों की सिफारिशें—अब तक दस वित्त आयोग नियुक्त किए जा चुके हैं। नवीनतम् वित्त आयोग, जो अपनी संस्तुतियां प्रस्तुत कर चुका है, दसवां वित्त आयोग है।

दसवें वित्त आयोग का गठन

15 जून, 1992 को दसवें वित्त आयोग के गठन की घोषणा की गई। भूतपूर्व रक्षा मन्त्री के. सी. पन्त की अध्यक्षता वाले इस आयोग के अन्य चार सदस्यों के नाम हैं—डॉ. देवी प्रसाद पाल (ससद सदस्य), पी. बी. आर. विट्ठल, डॉ. सी. रंगराजन (सदस्य योजना आयोग) और एस. सी. गुप्ता। आयोग से कहा गया कि वह अपनी रिपोर्ट 30 नवम्बर, 1993 तक पेश करे। दसवें वित्त आयोग की पहली बैठक 18 जून को नई दिल्ली में हुई जिसमें फैसला किया गया कि राज्यों को भेजने के लिए एक प्रश्नावली तैयार की जाए।

आयोग ने निम्नांकित विचारणीय विषय निर्धारित किए—(i) केन्द्र और राज्यों के बीच करों का विभाजन और उनसे प्राप्त राजस्व के वितरण के वारे में सिफारिशे करना; (ii) सविधान के अनुच्छेद 275 के तहत राज्यों को दी जाने वाली धनराशि और देश के समेकित कोष से राज्यों को सहायता अनुदान निर्धारित करने के सिद्धान्त को अन्तिम रूप देना।

आयोग से यह अनुरोध भी किया गया कि वह निम्नांकित मामलो मे वितरण के सिद्धान्तों में परिवर्तन के सुझाव दे—(i) किसी वित्तीय वर्ष के दौरान राज्यों द्वारा जारी विक्री कर के

स्थान पर लगाए गए अतिरिक्त शुल्क से प्राप्त धनराशि, और (ii) रेल मन्त्री किराया अधिनियम, 1957 के तहत् निरस्त किए गए करों के बदले राज्यों को दिए जाने वाले अनुदान।

दसवें वित्त आयोग ने 26 नवम्बर, 1994 को 1995-2000 तक की अवधि के लिए अपनी रिपोर्ट दे दी। सरकार ने इस आयोग की सिफारिशें निम्नलिखित मामलों में स्वीकार कर ली हैं—

आयकर, केन्द्रीय उत्पादन कर, बिक्री कर के बदले अतिरिक्त उत्पादन कर, रेलयात्रा किरायों पर कर के बदले अनुदान, राजस्व खाते में गैर योजना खर्च की कमी पूरी करने के लिए सहायता अनुदान, राहत खर्च में वित्तीय सहायता, स्तर उन्नत करने और विशेष समस्याओं के लिए अनुदान और ऋणों में राहत देने के लिए रुपए का हस्तान्तरण।

वित्त आयोग की भूमिका : संघीय संस्था
(ROLE OF THE FINANCE COMMISSION : FEDERAL INSTITUTION)

वस्तुतः वित्त आयोग भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के वित्तीय संसाधनों को नियमित, समन्वित एवं एकीकृत करने का महत्वपूर्ण संगठन है। यह एक संघीय संस्था है जिसे दीवानी न्यायालय का स्तर प्राप्त है एवं यह स्वयं अपनी प्रक्रिया को निर्धारित करता है। सांविधानिक सन्दर्भ में यह एक सलाहकार संस्था है जिसकी सिफारिशों को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नहीं हैं, किन्तु व्यवहार में इसकी सिफारिशें मान ली जाती हैं। इसका काम मुख्य रूप से संघ सरकार से राज्यों को राजस्व के असन्तुलनों को कम करने की दृष्टि से वित्तीय हस्तान्तरण की सिफारिशें करना है।

वित्त आयोग के कार्य का मुख्य महत्व इस बात में है कि वह संघात्मक शासन पद्धति की वित्त व्यवस्था को स्थिर बनाने में निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है। भारत में वित्त वितरण के प्रश्न को संघ तथा राज्य के मध्य अन्य राजनीतिक विवादों से दूर रखने का श्रेय इसी को प्राप्त है। भारतीय संघ व्यवस्था में वित्त आयोग राज्यों तथा संघ के मध्य एक ऐसे प्रत्यावरोध का कार्य करता है जो एक ओर निरन्तर अधिक वित्त की मांग करने वाले राज्यों में राजनीतिक दबाव से संघ की रक्षा करता है। दूसरी ओर आवश्यकताग्रस्त राज्यों को यथासम्भव सहायता प्रदान करने के लिए संघ को विवश करता है।[1] संघीय सरकार के लिए वित्त आयोग की सिफारिशों के विरुद्ध जाना असम्भव-सा है।

वित्त आयोग बनाम योजना आयोग (Finance Commission *Vs.* Planning Commission)

हमारी संघ व्यवस्था में वित्त आयोग का कार्य राज्यों की जरूरतों को पूरा करने के लिए तथा विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त असमानताओं को कम करने हेतु वित्तीय सहायता एवं वित्तीय अनुदानों की सिफारिशें करना है। वित्त आयोग एक सांविधानिक संस्था है तथा अनुच्छेद 275 के अनुसार राज्यों को दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता एवं अनुदान का स्वरूप एवं मात्रा तय करती है। सन् 1950 में योजना आयोग के गठन के पश्चात् एक विवादास्पद
हो गयी। अशोक चन्दा लिखते हैं, "एक सर्वोपरि आर्थिक संस्था के रूप में

1 M. V. Pylee, *Constitutional Government in India*

ने संविधान के लक्ष्य को समाप्त कर दिया और कार्यों में ऐसा विघ्न उपस्थित हो गया है जिसमें योजना आयोग के विचार वित्त आयोग पर प्रभावी होते हैं।"[1]

वित्त आयोग और योजना आयोग के कार्यों का स्वरूप लगभग समान है। राज्यों को केन्द्र से मिलने वाली सहायता के लिए दोनों ही आयोग केन्द्र सरकार को अपनी संस्तुति प्रदान करते है। वित्त आयोग की तुलना में योजना आयोग की सिफारिशों पर राज्यों को मिलने वाली वित्तीय सहायता बहुत ही अधिक होती है; वित्त आयोग की तुलना में योजना आयोग द्वारा दी जाने वाली सहायता का न केवल आधार विस्तृत है, बल्कि उसका क्षेत्र एवं प्रभाव भी विस्तृत है। इस सन्दर्भ में भारतीय संघ के राज्य अधिकांशतया योजना आयोग के अन्तर्गत आ गए हैं। ऐसा कहा जाता है कि विकासोन्मुख संसाधनों के वितरण में योजना आयोग का कार्यक्षेत्र एवं भूमिका बढ़ गयी है, जिससे वित्त आयोग का कार्य अर्थशून्य हो गया है। ए. टी. एपेन ने लिखा है, "यथार्थ में योजना आयोग ने वित्त आयोग को आर्थिक क्षेत्रों में पदच्युत कर दिया है। वित्त आयोग की भूमिका कम हो गयी है। भारत मे केन्द्रीय नियोजन ने वित्त आयोग की भूमिका के सम्बन्ध में संविधान-निर्माताओं की आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया है। ऐसी स्थिति में निष्पक्ष सांविधानिक संस्था वित्त आयोग की उपयोगिता पर एक प्रश्न चिन्ह लग गया है।"[2]

भारतीय संघ में यह एक निराली ही प्रवृत्ति दिखलायी देती है कि एक राजनीतिक संस्था ने वित्त जैसी सांविधानिक संस्था के महत्व को घटा दिया है। द्वितीय वित्त आयोग की रिपोर्ट में कहा गया था कि जहां दो आयोगों—वित्त आयोग एवं योजना आयोग—के कार्य एक-दूसरे पर अतिक्रमण (Overlap) करें, वहां आवश्यक तौर पर विवादास्पद स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जहां प्रथम आयोग (वित्त आयोग) एक विधिसम्मत संस्था है, जिसके कार्य सीमित हैं, वहां दूसरा आयोग (योजना आयोग) मूलतः संघ राज्यों की वित्तीय स्थिति से सम्बद्ध है। जब तक ये दोनों आयोग कार्य करते हैं, दोनों के कार्यों में प्रभावशाली समन्वय लाने की जरूरत है।[3] तीसरे वित्त आयोग ने अपने प्रतिवेदन में और भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया था कि "वित्त आयोग के कार्य, जिनका उल्लेख संविधान में किया गया है, राष्ट्रीय नियोजन हेतु योजना आयोग के उदय के कारण पूरे नही हो सकते।"[4] चौथे वित्त आयोग के अध्यक्ष डॉ. पी. वी. राजमन्नार ने आयोग के प्रतिवेदन के साथ अपनी टिप्पणी भी संलग्न की है जिसमें कहा गया है कि योजना आयोग के गठन ने व्यवहार में वित्त आयोग के कार्यों एवं क्षेत्र को सीमित कर दिया है। उन्होंने लिखा है, "चूंकि नीति और प्रोग्राम सम्बन्धी समूची योजना योजना आयोग के क्षेत्र के अन्तर्गत है और अनुदान अथवा ऋण के रूप में योजना कार्यों के लिए जो भी सहायता दी जानी है, वह मुख्यतः योजना आयोग की सिफारिशों पर आधारित होती है, स्पष्ट है वित्त आयोग जैसी कोई भी संस्था इसी क्षेत्र में अपना कार्य नहीं करती है।"[5] प्रो.

1 Ashok Chanda, *Federalism in India* (1965), p. 196.
2 ए. टी. एपेन, ए क्रिटिक ऑफ इण्डियन फिस्कल फेडरेशन, पब्लिक फाइनेंस, खण्ड XIV, संख्या 4, 1969, पृ. 537।
3 के. संथानम द्वारा उद्धृत, 'फेडरल फाइनेंशियल रिलेशन्स इन इण्डिया' (ए. डी. शराफ व्याख्यान माला के अन्तर्गत यह प्रथम व्याख्यान था), पृ. 24।
4 उपर्युक्त, पृ. 24।
5 चौथे वित्त आयोग का प्रतिवेदन, 1965, पृ. 90।

म. वी. माथुर ने तो यहां तक सुझाव दिया है कि वित्त आयोग का योजना आयोग में विलय किया जाना चाहिए।

वस्तुतः केन्द्रीय नियोजन के साथ-साथ वित्त की केन्द्रीय देखरेख आवश्यक है अन्यथा विकास की गति मन्द पड़ सकती है। वर्तमान स्थिति में वित्त आयोग भी कई दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। इसका कार्य योजना आयोग के कार्यों का पूरक होना चाहिए। वित्त आयोग को एक स्थायी संस्था बना दिया जाना चाहिए। गैर-राजनीतिक और निष्पक्ष संघात्मक संस्था होने के कारण राज्यों के विकास के सूचकांक एकत्रित करने में इसकी बहुत अधिक उपयोगिता है। अशोक चन्दा के विचार मे समुचित सांविधानिक संशोधन के माध्यम से दोनों ही आयोगों के कार्यों एवं कार्यक्षेत्र को स्पष्ट कर दिया जाए ताकि उनके मध्य किसी प्रकार का विरोध एवं विवाद उत्पन्न न हो।

वित्त आयोग : उपेक्षित पहलू (Finance Commission : Neglected Aspects)

वित्त आयोग की कार्यप्रणाली में कुछ असंगतियां देखी जा सकती हैं। पहली तो यह कि वित्त आयोग राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं के बारे में राज्यों द्वारा दिए गए आंकड़ों और सूचनाओं पर निर्भर रहता है। हो सकता है इन आंकड़ों में असत्यता हो और अधिक वित्तीय सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया हो। यह भी हो सकता है कि वित्तीय स्थिति को कुछ बनावटी रूप में पेश किया गया हो। द्वितीय, यद्यपि सभी आयोगों ने अधिकांश राज्यों के दौरे किए और उनकी राजधानियों में गए, किन्तु उन्होंने कभी भी आयोग की सिफारिशों के आधार पर मिलने वाले अनुदान से चलने वाले कार्यक्रमों की प्रगति का मौके पर अध्ययन करने की चेष्टा नहीं की जबकि आस्ट्रेलिया मे राष्ट्रमण्डल अनुदान आयोग मौके पर जाकर कार्यक्रम का स्वयं अध्ययन करता है। तृतीय, जब भी राज्य सरकारों के पक्ष की सुनवाई के लिए वित्त आयोग राज्यों का दौरा करता है, तब अधिकतर मामलों में सारे सदस्य बैठक में उपस्थित नहीं होते। व्यक्तियो तथा संस्थाओं के विचार सुनने का सारा भार अध्यक्ष और सदस्य सचिव पर आ पड़ता है। यह बात न केवल अनुचित है अपितु समय के अभाव तथा सदस्यों के अंशकालिक होने के कारण और भी अधिक गम्भीर हो जाती है। अन्त में, वित्त आयोगों ने प्रत्येक राज्य की 'राजस्व की कमी' और 'वित्तीय जरूरतों' के बारे में ब्यौरे प्रकाशित नहीं किए। संघ से राज्यो को वित्तीय हस्तान्तरणों के बंटवारे के लिए प्रयुक्त अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की भी उन्होंने स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। इसके विपरीत, आस्ट्रेलिया का राष्ट्रमण्डलीय अनुदान आयोग अपनी परिगणना, तरीकों और धारणाओं को जनता के सामने ब्यौरेवार प्रकाशित करता रहा है जिससे वहां की संघ व्यवस्था मे उसका अत्यन्त सम्मानजनक स्थान बन गया है।

सरकारिया आयोग (1988) के सुझाव (Recommendations of the Sarkaria Commission on Centre-State Relations, 1988)

सरकारिया आयोग ने सुझाव दिया है कि योजना आयोग में वित्त आयोग प्रकोष्ठ स्थापित किया जाना चाहिए, जो राज्यों की वित्तीय व्यवस्था को नियन्त्रित करे। अपने सुझाव में आयोग ने कहा कि प्रकोष्ठ को वित्त आयोग के मानदण्डों में परिवर्तन का वार्षिक अनुमान भी लगाना चाहिए। इसके बाद योजना आयोग वित्त आयोग के पूर्वानुमानों में परिवर्तन व

उसके कारण तथा अन्य की वार्षिक समीक्षा को राष्ट्रीय आर्थिक व विकास ... के ... पेश करने मे समर्थ होगा।

आयोग ने प्रकोष्ठ को मजबूत बनाने के भी सुझाव दिए। आयोग ने सुझाव दिया कि यदि प्रकोष्ठ योजना आयोग के वित्तीय संसाधन प्रभारी के अधीन कार्य करता है तो योजना आयोग व वित्त आयोग के बीच अधिक समन्वय हो पाएगा।

सरकारिया आयोग का मानना है कि वित्त आयोग को अपने कार्य के लिए देश के विभिन्न भागों में विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए। वित्त आयोग के सचिवालय में कर्मचारी नियुक्त करने के लिए यदि राज्यो से आवश्यक विशेषज्ञ लिए जाते हैं तो वह अधिक लाभदायक होगा।[1]

निष्कर्ष—संक्षेप में, भारत में वित्तीय शक्तियों का केन्द्र एवं राज्यों में स्पष्ट विभाजन किए जाने से दोनों के मध्य टकराव की स्थिति न उत्पन्न होने देने का प्रयास किया गया है। केन्द्र एवं राज्यों के मध्य कर राजस्व को समानता व न्याय के आधार पर वितरित करने की कोशिश में आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों को विशेष प्राथमिकता दी गई है। राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया में दोनों की प्रतिस्पर्द्धी भूमिका के स्थान पर सहयोगी की भूमिका विकसित हुई है। यही वजह है कि संविधान में राज्यों के पास अपर्याप्त वित्तीय संसाधन होने पर उनके लिए पृथक् से केन्द्रीय अनुदानों की व्यवस्था की गई है।

प्रश्न

1. वित्त आयोग के कार्यों का वर्णन कीजिए तथा विभिन्न वित्त आयोगों की प्रमुख सिफारिशें बताइए। (राजस्थान, 1997; अजमेर, 1997)
2. वित्त आयोग के सगठन को बताइए। यह किस तरह केन्द्र व राज्य के मध्य वित्तीय सम्बन्धों को सचालित करने में सहायक है? (राजस्थान, 1996)
3. भारत मे वित्त आयोग के संगठन एव कार्यो का वर्णन कीजिए। (अजमेर, 1994)

---

1 Commission on Centre-State Relations, *Report* I (1988), pp. 314-318.

13

भारत में योजना आयोग

[PLANNING COMMISSION IN INDIA]

नियोजन से अभिप्राय है 'उचित रीति से सोच-विचारकर पग उठाना।' फेयल के अनुसार, नियोजन का अर्थ है 'पूर्व दृष्टि', इससे अभिप्राय आगे की ओर देखना है ताकि यह स्पष्ट पता चल जाए कि क्या-क्या काम किया जाना है? प्रत्येक वह क्रिया नियोजित क्रिया कहलाती है जो दूरदर्शिता, विचार-विमर्श तथा उद्देश्यों एवं उनकी प्राप्ति हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों की स्पष्टता पर आधारित हो। दूसरे शब्दों में, किसी कार्य के लिए पूर्व तैयारी ही नियोजन है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार, "नियोजन साधनों के संगठन की एक विधि है जिसके माध्यम से साधनो का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है।"

स्वाधीनता के बाद भारत में आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की अवधारणा को स्वीकार किया गया। 'योजना आयोग' और राष्ट्रीय विकास परिषद जैसे निकाय अस्तित्व में आए। योजना आयोग सामान्य रूप से आरम्भ हुआ था, किन्तु कुछ ही समय में उसने एक विशाल संगठन का रूप धारण कर लिया। जिसे प्रारम्भ में एक परामर्शदात्री संस्था समझा गया था, वह आकार में एक अन्य 'सरकार' के रूप में परिवर्तित हो गयी। योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद ने संविधान की अन्य व्यवस्थाओं जैसे वित्त आयोग, संघवाद तथा प्रजातन्त्र को काफी हद तक प्रभावित किया है।

भारत में नियोजन की आवश्यकता (Need for Planning in India)

आर्थिक नियोजन आधुनिक काल की एक नूतन प्रवृत्ति है। उन्नीसवीं शताब्दी में पूंजीवाद, व्यक्तिवाद व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बोलबाला रहा और अधिकांश राष्ट्र 'उन्मुक्त व्यापार नीति' व आर्थिक स्वतन्त्रता के समर्थक रहे, किन्तु पिछली अर्द्ध शताब्दी में रूसी क्रान्ति, विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, दो भीषण महायुद्धों, तकनीकी प्रगति, नवजात सामाजिक-आर्थिक समस्याओं, आदि के कारण राष्ट्रों एवं अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियोजन के महत्व को समझा और नियोजित आर्थिक व्यवस्था अपनाने पर जोर दिया। वस्तुतः वर्तमान युग 'नियोजन' का युग है और विश्व में लगभग सभी देश अपने विकास व उन्नति के लिए आर्थिक नियोजन में जुटे हुए हैं।

भारत में कई कारणों से नियोजन की आवश्यकता महसूस की गयी—(1) देश की निर्धनता, (2) विभाजन से उत्पन्न आर्थिक असन्तुलन तथा अन्य समस्याएं, (3) बेरोजगारी की समस्या, (4) औद्योगीकरण की आवश्यकता, (5) सामाजिक तथा आर्थिक विषमताएं व (6) देश का पिछड़ापन, धीमी गति से विकास, विस्फोटक जनसंख्या, आदि। ये सब समस्याएं एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। अतः इनके निवारण व देश के समुचित आर्थिक विकास के लिए नियोजन ही एकमात्र वांछनीय विकल्प है।

भारत में नियोजन (Planning in India)

विख्यात इन्जीनियर एम. विश्वैश्वरैया ने सन् 1934 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्लाण्ड इकॉनामी फॉर इण्डिया' में एक ऐसी योजना का रूप रखा था, जिसका उद्देश्य दस वर्ष में देश की राष्ट्रीय आय को दुगुना करना था। इसके बाद कांग्रेस ने श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन किया। इस समिति ने प्रो. के. टी. शाह को अवैतनिक मन्त्री चुना। समिति ने अपना कार्य आरम्भ करने के लिए 26 उपसमितियां बनायीं, जिनमें से 25 उपसमितियों ने अपनी रिपोर्टें पेश कीं। लेकिन तत्कालीन विदेशी सरकार व कांग्रेस में संघर्ष व द्वितीय महायुद्ध के कारण यह समिति अपना कार्य पूरा करने में असमर्थ रही। सन् 1944 मे भारत सरकार ने भी एक 'नियोजन एवं विकास विभाग' का गठन किया। सन् 1946 में एक 'परामर्शदाता नियोजन बोर्ड' भी गठित किया गया। सन् 1946 में 'नियोगी समिति' ने सिफारिश की थी कि आर्थिक नियोजन के कार्य की प्रकृति ही ऐसी है कि एक ऐसे एकीकृत, शक्तिशाली तथा मन्त्रिपरिषद के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी संगठन की केन्द्र में स्थापना आवश्यक है जो भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के सम्पूर्ण क्षेत्र पर दतचित्त होकर स्थायी रूप से कार्य कर सके।"

भारत में योजना आयोग (Planning Commission in India)

भारत में योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च, 1950 को हुई जिसके बारे में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने संकल्प पारित किया था। प्रो. ए. एच. हेन्सन के विचार से मन्त्रिमण्डल ने योजना आयोग को एक ऐसा अंग माना था जिसका कार्य केवल सलाह देना था। मन्त्रिमण्डल के संकल्प [संख्या पी. (सी.) 50, भारत का राज्यपत्र, 15 मार्च, 1950] में कहा गया था कि वास्तविक संसाधनों को ध्यान में रखते हुए तथा सभी संगत आर्थिक पहलुओं का निष्पक्ष विश्लेषण करते हुए व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है और इस कार्य के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता है जो दैनिक प्रशासनिक कार्यकलापों से मुक्त हो, किन्तु जिसका सरकार से उच्चतम स्तर पर सम्पर्क हो। योजना आयोग इस उद्देश्य से स्थापित किया गया, जिसका मूल निदेशक पद सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन, सामूहिक हित में सम्पत्ति का बंटवारा और अर्थव्यवस्था का हितकारी विकेन्द्रीकरण के बारे में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों पर आधारित थे। अतः योजना आयोग के निम्न सात दायित्व थे—

(1) देश के भौतिक संसाधनों और जनशक्ति (तकनीकी व्यक्तियों सहित) का अनुमान लगाना तथा राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार उन संसाधनों की वृद्धि सम्भावनाओं का पता लगाना।

(2) देश के संसाधनों के सन्तुलित उपयोग के लिए अत्यन्त प्रभावकारी योजना बनाना।

(3) योजना की क्रियान्विति के चरणों का निर्धारण तथा उनके लिए संसाधनों का नियमन ना।

(4) आर्थिक विकास में आने वाली वाधाओं की ओर संकेत करना तथा योजना की ल क्रियान्विति के लिए परिस्थिति निर्धारित करना।

(5) योजना के प्रत्येक चरण की सफल क्रियान्विति के लिए आवश्यक तन्त्र का स्वरूप श्चेत करना।

(6) समय-समय पर योजना की चरणवार प्रगति का अवलोकन तथा इस बारे में वश्यक उपायों की सिफारिश करना।

(7) आयोग के कार्यकलापों को सुविधाजनक बनाने अथवा वर्तमान परिस्थिति और गस कार्यक्रम को ध्यान में रखते हुए अन्तिम सिफारिश करना अथवा केन्द्र या राज्य की स्याओं का समाधान करने के लिए परामर्श देना।

योजना आयोग केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों से परामर्श करके पंचवर्षीय जनाएं तथा वार्षिक योजनाएं बनाता है तथा इनके क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करता है। योग अपनी भूमिका शीर्ष स्तर पर कार्य करने वाले एक सलाहकार निकाय के रूप में भी भाता है।

योजना आयोग का संगठन
(ORGANIZATION OF THE PLANNING COMMISSION)

योजना आयोग का गठन भारत सरकार के संकल्प के तहत् मार्च 1950 में किया गा था। योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद के निर्देशों के मार्गदर्शन में कार्य करता है सके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होते हैं।

योजना आयोग का संविधान में कोई उल्लेख नही है, अतः इसका संगठन परामर्शदात्री विशेषज्ञ संस्था के रूप में सरकार के एक प्रलेख द्वारा हुआ। फलस्वरूप इसके स्वरूप एवं ाठन में विविध सरकारों द्वारा समय-समय पर परिवर्तन किया जाता रहा।

प्रथम योजना आयोग का अध्यक्ष तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू को बनाया या और पांच पूर्णकालिक सदस्य—टी. टी. कृष्णामाचारी, जी. एल. मेहता, एस. के. पाटिल, लजारी लाल नन्दा एवं सी. डी. देशमुख मनोनीत किए गए। गुलजारीलाल नन्दा तथा सी. . देशमुख मन्त्री होते हुए भी इसके सदस्य बने रहे। समय-समय पर इसमें अन्य मन्त्री एवं द्वानों को मनोनीत किया जाता रहा तथा प्रधानमन्त्री इसके पदेन अध्यक्ष बने रहे। 1967 योजना आयोग के संगठन को लेकर विवाद हुआ। प्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री के योजना ायोग के पदेन अध्यक्ष एवं सदस्य होने पर आपत्ति उठाई गई तथा इसे गैर-राजनीतिक स्था बनाने पर बल दिया गया। लेकिन प्रधानमन्त्री इसके पदेन अध्यक्ष बने रहे। 1971 में धानमन्त्री योजना आयोग के पदेन अध्यक्ष एवं नियोजन मन्त्री पदेन उपाध्यक्ष बनाए गए या अधिकांश योजना का कार्य नियोजन मन्त्रालय को सौंपा गया। जनता सरकार ने इसमें धानमन्त्री के पदेन अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष (मन्त्री होना आवश्यक नही) तथा तीन कैबिनेट न्त्री—वित्त, गृह एवं रक्षा को अंशकालिक पदेन सदस्य तथा तीन पूर्णकालिक सदस्यों को रखा। इसके सदस्यों एवं उपाध्यक्ष का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता। सदस्यों के लिए कोई निश्चित योग्यता नहीं है। प्रधानमन्त्री की इच्छा से सदस्य नियुक्त होते हैं। व्यवहार में

सरकार के बदलते ही योजना आयोग का पुनर्गठन हो जाता है। इसके ... सरकार की इच्छानुसार परिवर्तित होती रहती है।

योजना आयोग की रचना करते समय इस उद्देश्य को सामने रखा गया कि ... तथा मन्त्रिपरिषद में निकटतम सम्बन्ध रहे। इसीलिए आयोग में विशेषज्ञों के साथ-साथ राजनैतिक प्रभाव वाले व्यक्ति (मन्त्रीगण) शामिल किए जाते रहे हैं। पूर्णकालीन सदस्यों को आ... मामलों या प्रशासन के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट ख्याति के आधार पर नियुक्त किया जाता है। आयोग के सदस्यों के लिए औपचारिक योग्यताएं निर्धारित नहीं की गई हैं। उनकी नि... करते समय विभिन्न क्षेत्रों में उनके सार्वजनिक कार्यों तथा अनुभव पर विशेष बल दिया ... है। मन्त्रिमण्डल के सांख्यिकीय सलाहकार भी आयोग की बैठकों में सम्मिलित होते हैं।

योजना आयोग के सदस्यों को वही वेतन भत्ता एवं दर्जा दिया जाता है जो कि कैबि... मन्त्रियों को उपलब्ध है। आयोग के सभी सदस्य एक निकाय के रूप में कार्य करते हैं, कि... सुविधा के लिए प्रत्येक सदस्य को एक या एक से अधिक विषयों का प्रभारी बना दि... जाता है।

योजना आयोग के अध्यक्ष—प्रधानमन्त्री योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में इसके कार्य को देखते हैं तथा नीतिगत सभी मुद्दों पर आयोग को निर्देश देते हैं।

उपाध्यक्ष तथा पूर्णकालिक सदस्य—योजना आयोग के उपाध्यक्ष तथा पूर्णकालिक सदस्य विस्तृत योजना निरूपण के मामले में एक संयुक्त संस्था के रूप में कार्य करते हैं। वे योजना आयोग के विषय से सम्बन्धित प्रभागो को योजना दृष्टिकोण की तैयारी, पंचवर्षीय योजना तथा वार्षिक योजना के लिए अपनाए गए विभिन्न कार्य निष्पादनों में दक्ष परामर्श तथा मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। उनका दक्ष मार्गदर्शन योजना कार्यक्रमो, परियोजनाओं तथा स्कीमों की निगरानी तथा मूल्यांकन के लिए विषय सम्बन्धित प्रभागों को भी उपलब्ध रहता है।

क्या मन्त्रियों को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जाना चाहिए? भारत में योजना आयोग की संरचना, भूमिका व स्थिति अत्यधिक विवाद का विषय रही है। इस प्रश्न पर काफी विवाद हो चुका है कि क्या मन्त्रियों को आयोग का सदस्य बनाना उचित है? कुछ विद्वानों के अनुसार योजना आयोग एक पूर्णतया स्वतन्त्र संगठन होना चाहिए। इसका कार्य देश की प्रमुख आर्थिक समस्याओं पर सरकार को परामर्श देना है। इसलिए इसके सदस्य ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ होने चाहिए तथा उन्हें स्वायत्त रूप से कार्य करने का अधिकार मिलना चाहिए। **डी. आर. गाडगिल** ने लिखा है कि "योजना आयोग द्वारा अपने प्रमुख कार्यों की उपेक्षा का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि यह एक विशाल शक्ति संगठन बन गया है तथा इसके सदस्यों में भी मन्त्रियों की भाति शक्ति व संरक्षण का प्रयोग तथा प्रदर्शन करने की एक स्वाभाविक इच्छा है। आयोग के अपने निर्धारित मार्ग से हटकर गलत मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति को इस तथ्य से और भी सहायता मिली है कि स्वयं वित्त मन्त्री और प्रधानमन्त्री इसके सदस्य हैं।" भारत के प्रशासनिक सुधार आयोग की दृष्टि मे "आयोग को एक पूर्णतः तकनीकी परिषद बनाया जाए और मन्त्री सदस्यों को उससे पृथक् रखा जाए।" उसका यह भी सुझाव था कि प्रधानमन्त्री को भी उससे दूर रखा जाए जो कि प्रारम्भ से ही इसका अध्यक्ष रहा है। वस्तुतः दिसम्बर 1946 में नियुक्त परामर्शदाता नियोजन बोर्ड के अनुसार मौलिक रूप से योजना आयोग को एक समय गैर-राजनीतिक परामर्शदात्री परिषद होना था।

प्रो. अरविन्द शर्मा के अनुसार, योजना आयोग की मन्त्रीय सदस्यता से जटिलता उत्पन्न ती है। वह यह कि आयोग के निर्णय राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित होते हैं और कनीकी आर्थिक दृष्टि से उनकी उपेक्षा होती है। इसका समाधान यही है कि विशेषज्ञों की क विशुद्ध विशेषज्ञ परिषद को अंगीकृत किया जाए अथवा तकनीकी विशेषज्ञों एवं जनीतिज्ञों के संयुक्त आयोग की स्थापना की जाए जो राजनीतिज्ञों के प्रभाव को सीमित रेगा और विशेषज्ञों को उचित स्थान दे सकेगा।

वस्तुतः योजना आयोग के साथ प्रधानमन्त्री तथा कतिपय अन्य मन्त्रियों का सम्बन्ध होना तान्त उपयुक्त है। मन्त्रियों के अभाव में आयोग के विशेषज्ञ सदस्यों के पास माजिक-राजनीतिक यथार्थवाद की दृष्टि का अभाव बना रहेगा। प्रधानमन्त्री व प्रभावशाली न्द्रीय मन्त्रियों के आयोग में रहने से आयोग के निर्णयों को एक विशिष्ट प्रतिष्ठा व बल ल जाता है। प्रधानमन्त्री और मन्त्रीगण न केवल केन्द्रीय सरकार व आयोग के मध्य सम्पर्क त्र का कार्य करते हैं अपितु आयोग और संसद के मध्य भी सम्पर्क स्थापित करते हैं।

योजना आयोग का प्रशासनिक संगठन
(ADMINISTRATIVE SET-UP OF THE PLANNING COMMISSION)

'योजना आयोग' योजना मन्त्रालय के अन्तर्गत आता है। आयोग उनके तकनीकी/विषय वेभागों के जरिए कार्य करता है। प्रत्येक तकनीकी/विषय विभाग वरिष्ठ अधिकारी जिसे मुख्य सलाहकार/सलाहकार/अति. सलाहकार/संयुक्त सचिव कहा जाता है, के मार्ग निर्देशन में कार्य करता है।[1]

योजना आयोग के विभिन्न विभागों को निम्न दो भागों में विभाजित किया जाता है—

(क) सामान्य विभाग (General Divisions) जिनका सम्बन्ध समूची अर्थव्यवस्था से है; तथा

(ख) विषय विभाग (Subject Divisions) जिनका सम्बन्ध विकास के विशिष्ट क्षेत्रों से है।

(क) सामान्य विभाग (General Divisions)—योजना आयोग में कार्यरत सामान्य विभाग निम्नलिखित हैं—

1. कम्प्यूटर सेवा प्रभाग
2. वित्तीय संसाधन प्रभाग
3. विकास नीति प्रभाग
4. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था प्रभाग
5. सामाजिक आर्थिक अनुसन्धान एकक
6. भावी योजना प्रभाग
7. श्रम, रोजगार तथा जनशक्ति प्रभाग
8. सांख्यिकी तथा सर्वेक्षण प्रभाग
9. राज्य योजना प्रभाग
10. परियोजना मूल्यांकन प्रभाग

[1] *Annual Report*, 1993-94 (Government of India, Planning Commission).

11. प्रबोधन सूचना प्रभाग
12. योजना समन्वय प्रभाग

(ख) विषय विभाग (Subject Divisions)—योजना आयोग में कार्यरत
निम्नलिखित हैं—

1. कृषि विभाग (Agriculture Division)
2. पिछड़ा वर्ग विभाग (Backward Classes Division)
3. संचार एवं सूचना विभाग (Communication and Information Division)
4. शिक्षा विभाग (Education Division)
5. ऊर्जा नीति विभाग (Energy Policy Division)
6. स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग (Health and Family We Division)
7. गृह निर्माण, शहरी विकास तथा जल आपूर्ति विभाग (Housing, Development and Water Supply Division)
8. भारत-जापान समिति (Indo-Japan Committee)
9. उद्योग एवं खनिज विभाग (Industry and Minerals Division)
10. सिंचाई एवं कमाण्ड एरिया विकास विभाग (Irrigation & Command Development Division)
11. ऊर्जा नीति विभाग (Energy Policy Division)
12. ग्रामीण विकास विभाग (Rural Development Division)
13. ग्रामीण ऊर्जा विभाग (Rural Energy Division)
14. विज्ञान एवं तकनीकी विभाग (Science and Technology Division)
15. समाज कल्याण एवं पोषाहार विभाग (Social Welfare and Nutriti. Division)
16. परिवहन विभाग (Transport Division)
17. ग्रामीण एवं लघु उद्योग विभाग (Village and Small Industries Division)
18. पश्चिमी घाट सचिवालय (Western Ghat Secretariat)
19. पर्यावरण एवं वनप्रभाग (Environment and Forest Division)

अन्य संस्थाएं (Other Bodies)

योजना आयोग तथा उसके विभिन्न विभागों तथा उप-विभागों के अतिरिक्त अनेक अन्य संस्थाएं भी हैं जो योजनाओं के निर्माण और उनके कार्यान्वयन से सम्बद्ध हैं, जिनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है—

(1) राष्ट्रीय आयोजन परिषद (National Planning Council)—योजना आयोग प्रत्येक योजना के निर्माण के समय एक राष्ट्रीय आयोजन परिषद का संगठन करता है जो आयोग को योजना सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करके परामर्श देती है। इस परिषद में वैज्ञानिक, इन्जीनियर, अर्थशास्त्री तथा अन्य विशेषज्ञ होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्र से सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करके योजना आयोग रिपोर्ट को पेश करते हैं, जिन पर विवेचना भी होती है।

(2) अनुसन्धान प्रोग्राम कमेटी (Research Programmes Committee)—योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के निर्माण के समय आयोग के उपाध्यक्ष के अधीन अनुसन्धान प्रोग्राम कमेटी की स्थापना की जो योजना-निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। समय-समय पर इस कमेटी में देश के विशिष्ट एवं प्रसिद्ध वैज्ञानिक, शोधकर्ता, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, आदि नियुक्त किए जाते हैं जिनका सम्बन्ध विश्वविद्यालय एवं शोध तथा अनुसन्धान संस्थाओं से होता है। यह कमेटी विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अनुसन्धान संस्थाओं को विकास के प्रशासनिक, सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं से सम्बन्धित शोध के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त भारतीय सांख्यिकी संस्थान (Indian Statistical Institute), राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक अनुसन्धान परिषद (National Council of Applied Economic Research), भारतीय आर्थिक वृद्धि संस्थान (Indian Institute of Economic Growth), आदि अनुसन्धान संस्थाओं द्वारा भी देश की महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के शोध कार्यों के लिए सहायता प्रदान करती है।

(3) मन्त्रणा दल (Advisory Bodies)—योजना आयोग को सलाह देने के लिए विभिन्न परियोजनाओं से सम्बन्धित मन्त्रणा दल या विशेषज्ञों की नामिका (panel) बनायी जाती है जो वर्ष में दो-तीन बार बैठकें करके विभिन्न नीतियो एवं प्रोग्रामों में अपनी सलाह देते हैं। ऐसे मन्त्रणा दल सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण और विद्युत परियोजनाओ के लिए जन सहयोग के लिए कमेटी कृषि, भूमि-सुधार, स्वास्थ्य, शिक्षा, निवास और प्रादेशिक विकास, आदि के लिए भी हैं। इनके अतिरिक्त संसद सदस्यों से परामर्श करने के लिए 'योजना आयोग के लिए संसद के सदस्यों की सलाहकार कमेटी' (Consultative Committee of Parliament for the Planning Commission) तथा 'प्रधानमन्त्री आयोजन के लिए अनौपचारिक सलाहकार समिति' (Prime Minister's Informal Consultative Committee for Planning) भी है। योजना आयोग योजना-निर्माण से पहले और बाद में निजी क्षेत्र की वाणिज्य एवं उद्योगों से सम्बद्ध अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधियों से भी परामर्श करता है जैसे Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry, The Associated Chambers of Commerce of India, All India Manufactuers Organization, इत्यादि।

(4) सम्बद्ध दल (Associated Bodies)—योजना के निर्माण में कुछ सम्बद्ध दल भी सहायता करते हैं जैसे विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालय, भारतीय रिजर्व बैंक का अर्थशास्त्र विभाग, केन्द्रीय साख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organization)। इन संस्थाओं के द्वारा योजना आयोग विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अध्ययन करवाता है तथा केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन विस्तृत आंकड़े एकत्र करके योजना के निर्माण तथा मूल्यांकन के लिए आयोग की सहायता करता है।

(5) कार्यकारी दल (Working Groups)—योजना निर्माण के समय आयोग अनेक कार्यकारी दल नियुक्त करता है जिन पर विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध विशेषज्ञ होते हैं। ये दल योजना-निर्माण के लिए विभिन्न विषयों पर अपनी रिपोर्ट देते हैं जिनके आधार पर योजना बनायी जाती है। उदाहरणार्थ, तृतीय योजना के निर्माण के समय 22 कार्यकारी दल बनाए गए जबकि छठी योजना के लिए 21 कार्यकारी दल थे। ये संसाधनों, कृषि, इस्पात, मशीनरी, ईंधन, शिक्षा, आदि से सम्बद्ध थे।

11. प्रबोधन सूचना प्रभाग
12. योजना समन्वय प्रभाग

(ख) विषय विभाग (Subject Divisions)—योजना आयोग में कार्यरत 'विषय विभाग' नेम्नलिखित हैं—

1. कृषि विभाग (Agriculture Division)
2. पिछड़ा वर्ग विभाग (Backward Classes Division)
3. संचार एवं सूचना विभाग (Communication and Information Division)
4. शिक्षा विभाग (Education Division)
5. ऊर्जा नीति विभाग (Energy Policy Division)
6. स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग (Health and Family Welfare Division)
7. गृह निर्माण, शहरी विकास तथा जल आपूर्ति विभाग (Housing, Urban Development and Water Supply Division)
8. भारत-जापान समिति (Indo-Japan Committee)
9. उद्योग एवं खनिज विभाग (Industry and Minerals Division)
10. सिंचाई एवं कमाण्ड एरिया विकास विभाग (Irrigation & Command Area Development Division)
11. ऊर्जा नीति विभाग (Energy Policy Division)
12. ग्रामीण विकास विभाग (Rural Development Division)
13. ग्रामीण ऊर्जा विभाग (Rural Energy Division)
14. विज्ञान एवं तकनीकी विभाग (Science and Technology Division)
15. समाज कल्याण एवं पोषाहार विभाग (Social Welfare and Nutrition Division)
16. परिवहन विभाग (Transport Division)
17. ग्रामीण एवं लघु उद्योग विभाग (Village and Small Industries Division)
18. पश्चिमी घाट सचिवालय (Western Ghat Secretariat)
19. पर्यावरण एवं वनप्रभाग (Environment and Forest Division)

अन्य संस्थाएं (Other Bodies)

योजना आयोग तथा उसके विभिन्न विभागों तथा उप-विभागों के अतिरिक्त अनेक अन्य संस्थाएं भी हैं जो योजनाओं के निर्माण और उनके कार्यान्वियन से सम्बद्ध हैं, जिनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है—

(1) **राष्ट्रीय आयोजन परिषद** (National Planning Council)—योजना आयोग प्रत्येक योजना के निर्माण के समय एक राष्ट्रीय आयोजन परिषद का संगठन करता है जो आयोग को योजना सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करके परामर्श देती है। इस परिषद में वैज्ञानिक, इन्जीनियर, अर्थशास्त्री तथा अन्य विशेषज्ञ होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्र से सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करके योजना आयोग रिपोर्ट को पेश करते हैं, जिन पर विवेचना भी होती है।

(2) **अनुसन्धान प्रोग्राम कमेटी** (Research Programmes Committee)—योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के निर्माण के समय आयोग के उपाध्यक्ष के अधीन अनुसन्धान प्रोग्राम कमेटी की स्थापना की जो योजना-निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। समय-समय पर इस कमेटी में देश के विशिष्ट एवं प्रसिद्ध वैज्ञानिक, शोधकर्ता, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, आदि नियुक्त किए जाते हैं जिनका सम्बन्ध विश्वविद्यालय एवं शोध तथा अनुसन्धान संस्थाओं से होता है। यह कमेटी विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अनुसन्धान संस्थाओं को विकास के प्रशासनिक, सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं से सम्बन्धित शोध के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त भारतीय सांख्यिकी संस्थान (Indian Statistical Institute), राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक अनुसन्धान परिषद (National Council of Applied Economic Research), भारतीय आर्थिक वृद्धि संस्थान (Indian Institute of Economic Growth), आदि अनुसन्धान संस्थाओं द्वारा भी देश की महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के शोध कार्यो के लिए सहायता प्रदान करती है।

(3) **मन्त्रणा दल** (Advisory Bodies)—योजना आयोग को सलाह देने के लिए विभिन्न परियोजनाओं से सम्बन्धित मन्त्रणा दल या विशेषज्ञों की नामिका (panel) बनायी जाती है जो वर्ष में दो-तीन बार बैठकें करके विभिन्न नीतियो एवं प्रोग्रामों में अपनी सलाह देते हैं। ऐसे मन्त्रणा दल सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण और विद्युत परियोजनाओ के लिए जन सहयोग के लिए कमेटी कृषि, भूमि-सुधार, स्वास्थ्य, शिक्षा, निवास और प्रादेशिक विकास, आदि के लिए भी हैं। इनके अतिरिक्त संसद सदस्यों से परामर्श करने के लिए 'योजना आयोग के लिए संसद के सदस्यों की सलाहकार कमेटी' (Consultative Committee of Parliament for the Planning Commission) तथा 'प्रधानमन्त्री आयोजन के लिए अनौपचारिक सलाहकार समिति' (Prime Minister's Informal Consultative Committee for Planning) भी है। योजना आयोग योजना-निर्माण से पहले और बाद में निजी क्षेत्र की वाणिज्य एवं उद्योगों से सम्बद्ध अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधियों से भी परामर्श करता है जैसे Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry, The Associated Chambers of Commerce of India, All India Manufactuers Organization, इत्यादि।

(4) **सम्बद्ध दल** (Associated Bodies)—योजना के निर्माण में कुछ सम्बद्ध दल भी सहायता करते है जैसे विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालय, भारतीय रिजर्व बैंक का अर्थशास्त्र विभाग, केन्द्रीय साख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organization)। इन संस्थाओं के द्वारा योजना आयोग विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अध्ययन करवाता है तथा केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन विस्तृत आंकड़े एकत्र करके योजना के निर्माण तथा मूल्यांकन के लिए आयोग की सहायता करता है।

(5) **कार्यकारी दल** (Working Groups)—योजना निर्माण के समय आयोग अनेक कार्यकारी दल नियुक्त करता है जिन पर विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध विशेषज्ञ होते हैं। ये दल योजना-निर्माण के लिए विभिन्न विषयों पर अपनी रिपोर्ट देते हैं जिनके आधार पर योजना बनायी जाती है। उदाहरणार्थ, तृतीय योजना के निर्माण के समय 22 कार्यकारी दल बनाए गए जबकि छठी योजना के लिए 21 कार्यकारी दल थे। ये संसाधनों, कृषि, इस्पात, मशीनरी, ईंधन, शिक्षा, आदि से सम्बद्ध थे।

(6) मूल्यांकन समितियां (Evaluation Committees)—योजना के संचालन का मूल्यांकन करने हेतु आयोग ने मूल्यांकन समितियां स्थापित की हुई हैं जैसे 'योजना परियोजनाओं पर समिति' (Committee on Plan Projects) तथा 'प्रोग्राम मूल्यांकन संगठन' (Programme Evaluation Organization)। पहली कमेटी परियोजनाओं के प्रबन्ध, प्रशासन और निर्माण-लागतों की किफायतों से सम्बद्ध समस्याओं का मूल्यांकन करती है। जबकि प्रोग्राम मूल्यांकन संगठन मुख्य तौर से सामुदायिक विकास प्रोग्राम के मूल्यांकन के लिए बनाया गया था, परन्तु अब यह ग्राम विकास से सम्बद्ध प्रोग्राम का मूल्यांकन करता है।

(7) राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council)—भारत में संघात्मक शासन प्रणाली है तथा केन्द्र एवं राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा किया गया है। केन्द्र और राज्यों मे शक्तियों के बंटवारे को ध्यान में रखते हुए योजना तैयार करने में राज्यों की हिस्सेदारी भी उतनी ही आवश्यक है जितनी केन्द्र की। इसीलिए 'राष्ट्रीय विकास परिषद' की स्थापना करनी पड़ी जो सांविधानिक निकाय नही है तथापि सभी मुख्यमन्त्री जिसके पदेन सदस्य हैं। प्रो. सी. पी. भाम्भरी के अनुसार, "योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गयी है।"

इसकी स्थापना के मुख्य उद्देश्य थे—

(1) योजना की सहायता के लिए राष्ट्र के स्रोतों तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना।

(2) सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समरूप आर्थिक नीतियो के अपनाने को प्रोत्साहित करना।

(3) देश के सभी भागों के तीव्र तथा सन्तुलित विकास के लिए प्रयास करना।

राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं—

(1) राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-समय पर विचार करना।

(2) राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों सम्बन्धी विषयों पर विचार करना।

(3) राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुझाव देना।

पंचवर्षीय योजना के निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जब तक योजना पर राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति नही मिल जाती तब तक योजना प्रारूप योजना का अन्तिम रूप धारण नहीं करता। राष्ट्रीय विकास परिषद मे राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की सदस्यता तथा योजना आयोग द्वारा निर्धारित कार्यक्रमो पर उनकी स्वीकृति के कारण योजना को राज्यों की ओर से एक प्रकार की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। माइकेल ब्रेचर के अनुसार, "राष्ट्रीय विकास परिषद ने योजनाओं के निर्धारण में दृष्टिकोण की एकरूपता एवं कार्य-संचालन में समानता उत्पन्न की है। परिषद के सदस्य सत्ताधारी नीति के निर्माता हैं, उनके मत की योजना आयोग तथा मन्त्रिमण्डल किसी भी स्थिति में उपेक्षा नहीं कर सकते है।"[1]

नियोजन के सन्दर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव—प्रशासनिक सुधार आयोग ने नियोजन के सम्बन्ध में सुधार के लिए अग्रलिखित सुझाव दिए है—

1 Michael Brecher, *Nehru : A Political Biography*, 1959, p. 521.

(1) प्रधानमन्त्री को योजना आयोग का अध्यक्ष नही वनाया जाना चाहिए, किन्तु उसके कार्यों से प्रधानमन्त्री का निकट सम्पर्क आवश्यक है। योजना आयोग की वैठकों में विचार-विमर्श के लिए आने वाले विषयों से प्रधानमन्त्री को निरन्तर सूचित किया जाना चाहिए।

(2) योजना आयोग के कार्यों से वित्त मन्त्री को घनिष्ठ रूप से सम्वन्धित होना चाहिए। प्रधानमन्त्री की भांति उसे भी योजना आयोग की वैठकों मे विचाराधीन विषयों से सूचित रखा जाए तथा यदि वह चाहे तो उनकी वैठकों में उपस्थित भी हो सकता है। वित्तमन्त्री योजना आयोग का सदस्य नहीं होगा। योजना आयोग में अन्य किसी मन्त्री को भी सदस्य नहीं वनाया जाएगा।

(3) योज्ना आयोग के सदस्यों की संख्या 7 से अधिक नही होनी चाहिए। इनका चयन अनुभव और विशेषज्ञता के आधार पर किया जाना चाहिए। सामान्यतः सभी सदस्य पूर्णकालीन अधिकारी होंगे, किन्तु व्यवहार में ऐसी स्थिति आ सकती है जव कोई विशेषज्ञ व्यक्ति योजना आयोग में कार्य करना चाहे, किन्तु वह उसे अपना पूरा समय न दे सके। ऐसे विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ उठाने के लिए दो सदस्यों को अंशकालीन आधार पर भी नियुक्त किया जा सकता है। एक पूर्णकालीन सदस्य को इसका अध्यक्ष वनाया जाएगा। योजना आयोग के सदस्यों को राज्यमन्त्री और अध्यक्ष को कैविनेट मन्त्री का दर्जा प्रदान किया जाना चाहिए।

(4) आयोग के सदस्यो की नियुक्ति 5 वर्ष के निश्चित कार्यकाल के लिए की जानी चाहिए। निरन्तरता वनाए रखने के लिए एक या दो सदस्यों का कार्यकाल एक या अधिक वर्षों के लिए वढ़ाया जा सकता है।

(5) आयोग के विभिन्न कार्यो का आवंटन सदस्यों की विशेषज्ञता एवं ज्ञान को देखकर ही किया जाना चाहिए। महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय सदस्यो द्वारा व्यक्तिगत रूप से न लिया जाकर पूरे आयोग द्वारा ही लिया जाना चाहिए।

(6) योजना आयोग के सचिवालय के वारे में आयोग का मत था कि इसमें एक उच्च योग्यता प्राप्त व्यक्ति आयोग का सचिव होना चाहिए। इसके अधीनस्थ ऐसे कर्मचारी होने चाहिए जो तकनीकी एवं प्रशासनिक ज्ञान रखते हों।

(7) आयोग ने यह भी सिफारिश की कि सभी राज्यो में योजना वनाने और उनका मूल्यांकन करने के लिए पृथक् योजना मण्डल होने चाहिए जिसमे 5 सदस्य हों।

(8) प्रशासनिक सुधार आयोग ने योजना आयोग के सेविवर्ग के प्रशासन से सम्वन्धित महत्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत कीं। आयोग का मत था कि योजना आयोग के वरिष्ठ पदों पर नियुक्ति के लिए चयन राष्ट्रीय स्तर पर किया जाए। इसमें सरकारी और गैर-सरकारी उपक्रमों तथा सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी अधिकारी लिए जा सकते है। यह चयन एक विशेष समिति द्वारा किया जाए जिसमें योजना आयोग का अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का अध्यक्ष तथा योजना आयोग का उपाध्यक्ष सदस्य हों। शीर्ष स्तर की सभी नियुक्तियां निश्चित समय के लिए समझौतों के आधार पर की ज़ानी चाहिए। गैर-सरकारी अधिकारियों को दिए जाने वाले वेतन तथा भत्ते आदि की राशि इतनी ऊंची होनी चाहिए कि यथेष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्ति इस ओर आकृष्ट हो सकें। इनका स्तर सरकारी अधिकारियों के अनुरूप होना अनिवार्य नहीं होना चाहिए।

(9) योजना कार्य में आने वाले सांख्यिकियों एवं अर्थशास्त्रियों को विशेषीकृत संस्थानो प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

सरकारिया आयोग के सुझाव—सरकारिया आयोग ने योजना आयोग की भूमिका की आलोचना करते हुए कहा है कि यह तो केन्द्रीय सरकार के अंग के रूप में राज्यों पर नियन्त्रण स्थापित करने का उपकरण मात्र बनकर रह गया है। योजनाओं के निर्माण में राज्यों की पर्याप्त भागीदारी नहीं रह गयी है। यद्यपि सरकारिया आयोग इस बात के पक्ष में नही है कि योजना आयोग को स्वायत्त संस्था बना दिया जाए। उसकी राय में योजना आयोग से विचार-विमर्श के सम्बन्ध मे स्वस्थ परम्पराएं कायम हो और योजना आयोग के सुझावों को समुचित महत्व दिया जाना चाहिए। उसका सुझाव है कि योजना आयोग का उपाध्यक्ष ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ हो, जो वस्तुनिष्ठता और प्रसिद्धि से केन्द्र के साथ ही राज्य सरकारों का भी विश्वास प्राप्त कर सकें।

सांविधानिक रूप से स्वतन्त्र संगठन

योजना आयोग को अब सांविधानिक रूप से स्वतन्त्र संगठन बना देना चाहिए जिसके सभी सदस्य पूर्णकालिक हों एवं उनकी निश्चित सेवा अवधि हो तथा इसके सदस्यों की सेवा निवृत्ति एक साथ न होकर कुछ अन्तराल के साथ हो। इसे विशिष्ट कार्य के लिए गठित स्वतन्त्र संगठन प्रतीत होना चाहिए। इसे निरन्तर सत्तारूढ सरकारों, विशेषकर केन्द्रीय एवं राज्यों की सरकारों से सहयोग करते हुए भी स्वतन्त्र रूप से कार्य करना प्रतीत होना चाहिए। मौजूदा स्थिति मे ऐसे संगठन को न केवल राज्य सरकारों का बल्कि विभिन्न औद्योगिक, कृषि एवं हितो तथा विशेषज्ञों के व्यावसायिक संगठनो का ज्यादा सम्मान मिलेगा।

यह सच है कि अपने पीछे प्रधानमन्त्री की ताकत को रखकर योजना आयोग ने बहुत बार व्यापक प्रभाव डाला है और यह बहुत लाभ की बात है, परन्तु सरकार के निकट सम्बन्धों [illegible]

आयोजना के कार्य के लिए बेहतर होगा। इस सगठन को वित्तीय अधिकार देना भी आवश्यक होगा जिससे यह प्रमुख परियोजनाओं की स्वीकृति दे सके तथा योजना अनुदान प्रदान कर सके।

भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की साहसिक शुरूआत हो चुकी है और नरसिंह राव प्रधानमन्त्रित्व काल में कभी शक्तिशाली रहा योजना आयोग धीरे-धीरे कमजोर होकर मुरझाने लगा था। अतः आज यह प्रश्न किया जाने लगा है कि क्या योजनाएं और योजना आयोग आज भी प्रासंगिक है?

प्रश्न

1. योजना आयोग के सगठन को समझाइए। योजना आयोग की 'सुपर केबिनेट' प्रकृति भी समझाइए। (राजस्थान, 1993, 96)
2. 'योजना आयोग प्रशासकीय संगठन की अपेक्षा एक परामर्शदात्री निकाय है।' इस कथन के सन्दर्भ में योजना आयोग के संगठन एव कार्यों पर प्रकाश डालिए। (अजमेर, 1997)
3. नियोजन को परिभाषित कीजिए। भारत के योजना आयोग के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए। (अजमेर, 1995)
4. योजना आयोग के संगठन व कार्यों को समझाइए। (राजस्थान, 1995)

14

राष्ट्रीय विकास परिषद : संगठन एवं भूमिका

[NATIONAL DEVELOPMENT COUNCIL : ORGANIZATION AND ROLE]

योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समायोजन (Co-ordination) की स्थापना के लिए 'राष्ट्रीय विकास परिषद' (National Development Council) नामक एक महत्वपूर्ण संगठन की रचना की गयी है। राष्ट्रीय विकास परिषद (N. D C.) में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की सदस्यता तथा योजना आयोग द्वारा निर्धारित कार्यक्रमो पर उनकी स्वीकृति के कारण योजना को राज्यों की ओर से एक प्रकार की पूर्व स्वीकृति (Prior sanction) प्राप्त हो जाती है। इस परिषद ने एक 'सर्वोपरि कैबिनेट' (Super Cabinet) की ख्याति प्राप्त कर ली है। इसके उच्च स्वरूप के कारण इसके परामर्श को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें सर्वाधिक महत्व प्रदान करती है। परिषद ने योजनाओं को एक सच्चा राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया है तथा योजनाओं के निर्माण में 'दृष्टिकोण की एकरूपता एवं कार्य संचालन की समानता' सम्पन्न की है।

राष्ट्रीय विकास परिषद : सहकारी संघ का सम्बल
(NATIONAL DEVELOPMENT COUNCIL : A BASE FOR CO-OPERATIVE FEDERALISM)

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया है जिसे 'सहकारी संघवाद' भी कहा जाता है। 'सहकारी संघ व्यवस्था' मे केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्र मे कमजोर नही होतीं। इस व्यवस्था का प्रमुख लक्षण दोनों प्रकार की सरकारों की एक-दूसरे पर निर्भरता है।[1] वैसे सहकारी संघवाद की धारणा के क्रियान्वयन हेतु योजना आयोग, क्षेत्रीय परिषदें, अन्तर्राज्यीय परिषद, आदि अनेक महत्वपूर्ण संस्थानात्मक व्यवस्थाएं मौजूद है, किन्तु वदलते राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में 'राष्ट्रीय विकास परिषद' को सहकारी संघवाद का सम्बल कहना समीचीन होगा।' केन्द्र

1 ग्रेनविल आस्टिन, इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, ऑक्सफोर्ड, 1968, पृ. 186.

एवं राज्यो में योजना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मामलों में समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से यह सर्वोच्च नीति-निर्माता निकाय के रूप में प्रकट हुई है।

राष्ट्रीय विकास परिषद स्पष्टतः योजना आयोग से उच्च निकाय है। वस्तुतः यह एक नीति-निर्माता निकाय है और इसकी सिफारिशें केवल सुझाव मात्र नहीं हैं वल्कि वे तो नीति सम्बन्धी निर्णयों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं मानी जा सकतीं।[1] के. संथानम का कथन है कि राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघ के उच्च मन्त्रिमण्डल के समकक्ष-सी है अर्थात् उसने एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया है जो भारत सरकार और साथ ही सभी राज्यो की सरकारो के लिए कार्य कर रही है।[2]

राष्ट्रीय विकास परिषद : आवश्यकता
(N. D. C. : NEED FOR SUCH AN INSTITUTION)

आर्थिक नियोजन ने हमारी संघीय राज-व्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित किया है। प्रो. ए. एच. हेनसन का कहना है कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने नियोजन को केन्द्र एवं राज्यों के मध्य समायोजन की व्यवस्था भले ही माना हो, किन्तु उनकी यह आकांक्षा साकार नहीं हो पायी। प्रत्येक राज्य नियोजन के लिए अधिक से अधिक साधन प्राप्त करने हेतु प्रतिस्पर्धा करने लगा। योजनाओं के निर्माण में राज्यो का सहयोग अत्यन्त सीमित रहा। वित्तीय सहायता के लिए राज्य केन्द्र पर अधिक निर्भर होते गए। सामाजिक और आर्थिक सेवाओं के विस्तार के प्रश्न पर योजना आयोग एवं राज्यों के मध्य संघर्ष उत्पन्न हुआ। अतः एक ऐसे राष्ट्रीय मंच की आवश्यकता महसूस की गयी जहां योजना आयोग के सदस्य तथा केन्द्रीय सरकारों के प्रतिनिधि एकत्र होकर पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में उच्चस्तरीय निर्णय ले सकें। प्रो. ए. अवस्थी लिखते है कि "राष्ट्रीय स्तर पर योजना बनाने का प्रयत्न करते समय सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह उत्पन्न होती है कि भारतीय संघ में समाविष्ट स्वायत्त राज्यों की नीतियों तथा कार्यक्रमों मे समन्वय कैसे स्थापित किया जाए? समन्वय करने वाले ऐसे किसी अभिकरण के लिए संविधान में कोई प्रवन्ध नहीं किया गया है। नियोजन की प्रक्रिया सम्बन्धी इस कमी को पूरा करने के लिए ही सन् 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना की गयी थी। डॉ. सी. पी. भाम्भरी ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गयी।[3]

राष्ट्रीय विकास परिषद : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(N. D. C. : ITS HISTORICAL EVOLUTION)

यह सच है कि राष्ट्रीय विकास परिषद का पहली बार गठन मन्त्रिमण्डल सचिवालय द्वारा जारी किए गए अगस्त 1952 के प्रस्ताव के अन्तर्गत हुआ है, किन्तु यथार्थ में यह 1946 ई. में स्थापित परामर्शदात्री नियोजन मण्डल का ही विकसित रूप था जिसके अध्यक्ष के. सी. नियोगी थे। इस नियोजन मण्डल ने ही सर्वप्रथम एक ऐसे परामर्शदात्री उपकरण की स्थापना

1 पटेल एच. एम., रिव्यू आफ दी आर्गेनाइजेशन आफ दि गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, दी इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, अक्टूबर-दिसम्बर, 1960, पृ. 460।

2 संथानम, के., यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया, बॉम्बे, 1960, पृ. 47।

3 भाम्भरी, सी. पी., पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया, दिल्ली, 1976, पृ. 88-91।

का सुझाव दिया था जिसमें योजना आयोग के कार्य में सहायता देने के लिए प्रान्तों तथा देशी रियासतों के तथा अन्य हितों के प्रतिनिधियों को शामिल किया जाना चाहिए। स्वयं योजना आयोग को भी कुछ समय ऐसे ही समन्वयकारी निकाय की आवश्यकता महसूस हुई। पहली पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में इस तथ्य को उजागर किया गया है कि भारत जैसे विशाल देश में, जहां राज्यों को अपने कर्तव्यों के क्षेत्र में संविधान के अन्तर्गत पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है, राष्ट्रीय विकास परिषद जैसी किसी सभा का होना आवश्यक है, जिससे कि समय-समय पर प्रधानमन्त्री तथा राज्यों के मुख्यमन्त्री योजना के कार्य तथा इसके विभिन्न पहलुओं की समीक्षा कर सकें।[1]

राष्ट्रीय विकास परिषद : उद्देश्य
(N. D. C. : AIMS & OBJECTIVES)

परिषद की स्थापना करने वाले सरकारी आदेश के अनुसार राष्ट्रीय विकास परिषद के उद्देश्य हैं—योजना के समर्थन में राष्ट्रों के साधनों तथा प्रयत्नों का उपयोग करना और उन्हें शक्तिशाली बनाना, सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों की उन्नति करना तथा योजना आयोग की सिफारिश पर देश के सभी भागों का सन्तुलित तथा त्वरित विकास निश्चित करना। संक्षेप में, इसकी स्थापना के अग्रांकित तीन मुख्य उद्देश्य दर्शाए गए हैं[2]—

1. योजना आयोग की सहायता के लिए राष्ट्र के स्रोतों तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना।
2. सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समरूप आर्थिक नीतियों को अपनाने को प्रोत्साहित करना।
3. देश के सभी भागों में तीव्र तथा सन्तुलित विकास के लिए प्रयास करना।

वस्तुतः राष्ट्रीय विकास परिषद के माध्यम से राज्यों का सहयोग उच्चतम राजनीतिक स्तर पर प्राप्त किया जाता है। इससे दृष्टिकोण की समानता तथा आम सहमति की धारणा के विकास में सहायता मिलती है।[3]

राष्ट्रीय विकास परिषद : रचना
(N. D. C. : ITS COMPOSITION)

राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमन्त्री, योजना आयोग के सभी सदस्य, सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री, संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा भारत सरकार के प्रमुख विभागों के कुछ मन्त्री सम्मिलित होते हैं। यदि कोई मुख्यमन्त्री परिषद की बैठक में उपस्थित होने में असमर्थ होता है तो वह अपना अभिकर्ता भेज सकता है। इसके अतिरिक्त इनमें वे मन्त्री भी आमन्त्रित किए जाते हैं जिनके मन्त्रालयों से सम्बन्धित विषय इसकी कार्यसूची में सम्मिलित रहते हैं। प्रधानमन्त्री इस परिषद का अध्यक्ष होता है। सन् 1956 के राज्य पुनर्गठन से पूर्व परिषद की सदस्य संख्या लगभग 50 थी क्योंकि कुल मिलाकर अ, ब, स राज्य की संख्या ही 28 थी। इस प्रकार अधिक सदस्य संख्या के कारण एक सुदृढ़ निकाय के रूप में वाद-विवाद के लिए

1 फर्स्ट फाइव इयर प्लान': ए ड्राफ्ट आउटलाइन, नई दिल्ली, प्लानिंग कमीशन, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, जुलाई 1931, पृ. 253।
2 माहेश्वरी, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, दिल्ली, 1968, पृ. 97।
3 सेन, एस. आर., प्लानिंग मशीनरी इन इण्डिया, इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, जुलाई-सितम्बर 1961, पृ. 233।

परिषद की उपयोगिता कम हो गयी। इसके फलस्वरूप नवम्बर 1954 में परिषद की एक स्थायी समिति का निर्माण किया गया। इस समिति मे लगभग 30 सदस्य थे, जिनमें प्रधानमन्त्री, योजना आयोग के सदस्य तथा राज्यो से केवल 9 चयनित मुख्यमन्त्री थे।[1]

प्रशासनिक सुधार आयोग ने सन् 1967 में अपने एक अध्ययन दल को राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य की समीक्षा करने और भविष्य मे इसे अधिक प्रभावशाली बनाने के उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देने को कहा था।[2] इस अध्ययन दल द्वारा प्रेषित सुझावों को प्रशासनिक सुधार आयोग ने और बाद में भारत सरकार ने कुछ मामूली संशोधनों के साथ 7 अक्टूबर, 1967 को स्वीकार कर लिया। इन संशोधनों के अनुसार पुनर्गठित राष्ट्रीय विकास परिषद के सदस्य प्रधानमन्त्री, संघीय मन्त्रिमण्डल के सभी कैबिनेट स्तर के मन्त्री, सब राज्यों और संघीय प्रदेशों के मुख्यमन्त्री और योजना आयोग के सदस्य बनाए गए। इस प्रकार इसकी सदस्यता को पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया गया क्योंकि पहले इसमे केवल प्रधानमन्त्री, राज्यों के मुख्यमन्त्री और योजना आयोग के सदस्य ही सम्मिलित होते थे। नवीन व्यवस्था के अनुसार परिषद की बैठको में भाग लेने के लिए संघ और राज्यो के अन्य मन्त्रियों को भी बुलाया जा सकता है। योजना आयोग का सचिव राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव होता है। परिषद की बैठकें साधारणतः वर्ष में दो बार होती है, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं है। अनेक अवसरों पर वर्ष में इसकी दो से अधिक बैठकें हुई है। इसकी कार्यविधि योजना आयोग के सचिवालय द्वारा तैयार की जाती है। उसमें राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषय सम्मिलित रहते है जिन पर राज्यो के विचार ज्ञात करना आवश्यक होता है। इसकी बैठकों मे प्रत्येक विषय पर स्वतन्त्र रूप से खुलकर चर्चा होती और निर्णय प्रायः सर्वसम्मति से होता है।

राष्ट्रीय विकास परिषद : कार्य
(FUNCTIONS OF THE N. D. C)

राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य इस प्रकार है—

1. राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-समय पर विचार करना।

2. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों सम्बन्धी विषयो पर विचार करना।

3. राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुझाव देना।

परिषद के कार्यों में सन् 1967 मे भी कुछ संशोधन किए गए हैं।[3] अब इसके सशोधित कार्य निम्नलिखित है—

1. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिए तथा इसके साधनों के निर्धारण के लिए पथ-प्रदर्शक सूत्र निश्चित करना।

2. योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी राष्ट्रीय योजना पर विचार करना।

3. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।

---

1 परांजपे, एच. के., दी रिआर्गेनाइज्ड प्लानिंग कमीशन, दिल्ली, 1970, पृ. 9।

2 श्रीराम माहेश्वरी, दी एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन, आगरा, 1972, पृ. 96।

3 उपर्युक्त, पृ. 97।

4. समय-समय पर योजना के कार्य की समीक्षा करना तथा राष्ट्रीय योजना में प्रतिपादित उद्देश्यों तथा कार्यलक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक उपायों की सिफारिश करना।

इन नवीन परिवर्तनों से अव राष्ट्रीय विकास परिषद का महत्व पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है, क्योंकि अव राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिए पथ-प्रदर्शक तत्व परिषद द्वारा प्रतिपादित और निश्चित किए जाते हैं। नवीन व्यवस्था के अनुसार अव योजना आयोग अपनी योजना इसके अनुसार ही वनाता है। इस प्रकार अव राष्ट्रीय विकास परिषद शासन में नीति निर्धारण *करने वाली सर्वोपरि और महत्वपूर्ण संस्था बन गयी।*[1]

राष्ट्रीय विकास परिषद : भूमिका निर्धारण की समस्या
(N. D. C. : THE PROBLEM OF ROLE IDENTIFICATION)

यह एक तथ्य है कि योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद तथा वित्त आयोग जैसे निकायों ने हमारी संघ प्रणाली को अत्यधिक प्रभावित किया है। संविधान निर्माताओं ने शायद नियोजन को केन्द्र एवं राज्यों के मध्य समायोजन की व्यवस्था माना हो, किन्तु उनकी यह आकांक्षा साकार नहीं हो पायी। अशोक चन्दा ने तो यहां तक कह दिया कि योजना आयोग ने संघवाद *को निरस्त कर दिया है। के. संथानम के अनुसार नीति और वित्त सम्बन्धी मामलों* में समूची नियोजन व्यवस्था ने राज्य की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है। इसी प्रकार योजना आयोग ने वित्त आयोग की स्थिति को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। वित्त आयोग एक संवैधानिक संस्था है तथा अनुच्छेद 275 के अनुसार राज्यों को दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता एवं अनुदान का स्वरूप एवं मात्रा तय करता है, किन्तु योजना आयोग के वढ़ते हुए कार्यक्षेत्र के कारण वित्त-आयोग का कार्य अर्थशून्य हो गया है। जैसा कि ए. टी. एपेन ने लिखा है कि "यथार्थ में योजना आयोग ने वित्त आयोग को आर्थिक क्षेत्रों में पदच्युत कर दिया है। वित्त आयोग का कार्यक्षेत्र राज्यो के गैर-योजना वजट से ही वढ़ पाया है। योजना आयोग की प्रभावकारी भूमिका कम हो गयी है। भारत में केन्द्रीय नियोजन ने वित्त आयोग की भूमिका के सम्बन्ध में संविधान निर्माताओं की आशाओं पर पानी फेर दिया है।[2]

ऐसी स्थिति में विचारणीय प्रश्न यह है कि भारत में एक अधिक पूर्ण संघ की अवधारणा को सम्वल प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद जैसे निकाय की भूमिका कैसे निर्धारित की जाए? इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि केन्द्र और राज्य एक ही अविभाज्य राजनीतिक व्यवस्था के अंग हैं, किसी भी स्तर की सरकार को प्रशासनिक रूप से कमजोर या असमर्थ नहीं होना चाहिए। आठवीं लोकसभा के चुनावों तथा उसके वाद राज्य विधान सभाओं के चुनावों के बाद वदले राजनीतिक शक्ति सन्तुलन में केन्द्र राज्य सम्बन्धों के समायोजन की आवश्यकता अधिक महत्वपूर्ण है और इसी दृष्टि से राष्ट्रीय विकास परिषद की भूमिका का निर्धारण उपयोगी होगा। परिषद की भूमिका के सम्बन्ध में अग्र चार प्रकार के विचार प्रकट किए जाते हैं—

1 माहेश्वरी, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, दिल्ली, 1968, पृ. 101।

2 एपेन. ए. टी., ए क्रिटिक ऑफ इण्डियन फिस्कल फेडरेशन, पब्लिक फाइनेन्स, खण्ड 14, संख्या 4, 1969, पृ. 337।

प्रथम, राष्ट्रीय विकास परिषद इस बात का प्रतीक है कि भारत में सिद्धान्त रूप में तो कम से कम सहयोगी संघवाद है ही। पचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में इस परिषद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। योजनाओं के निर्माण में इस परिषद का परामर्श अवश्य लिया जाता है। जब तक इससे स्वीकृति नही मिल जाती तब तक योजना आयोग प्रारूप योजना का रूप निर्धारित नहीं करता। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की सिफारिश प्रस्तुत कर सकती है। यही नहीं, परिपद से इस सम्बन्ध में भी परामर्श लिया जाता है कि योजना का क्रियान्वयन किस प्रकार किया जाए। राष्ट्रीय विकास परिषद में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की सदस्यता तथा योजना आयोग द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों पर उनकी स्वीकृति के कारण योजना की राज्यों की ओर से एक प्रकार की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। माइकेल ब्रेचर के अनुसार, राष्ट्रीय विकास परिषद ने योजनाओं के निर्धारण में दृष्टिकोण की एकरूपता एवं कार्य संचालन में समानता उत्पन्न की है। परिषद के सदस्य सत्ताधारी नीति के निर्माता है, उनके मत की योजना आयोग तथा मन्त्रिमण्डल किसी भी स्थिति में उपेक्षा नही कर सकते हैं।[1]

द्वितीय, राष्ट्रीय विकास परिषद उच्च श्रेणी का नीति-निर्माता निकाय है। वस्तुतः परिषद संविधानेत्तर संस्था है जो व्यवहार में मन्त्रिमण्डल और संसद से भी अधिक प्रभुत्वशाली दिखलाई पडती है। यह सच है कि इसकी रचना न तो संविधान द्वारा की गयी है और न किसी संसदीय अधिनियम द्वारा, फिर भी व्यवहार में यह नीति निर्माता निकाय के रूप में अवतरित हुई है। व्यवहार में इसके सुझाव 'नीति निर्देशन' बन गए है जिनका पालन न केवल राज्यो के मन्त्रिमण्डल करते है अपितु हमारी संसद को भी करना होता है। ऐसा कहा जाता है कि परिषद ने तो योजना आयोग को भी मात दे दी है और उसका दर्जा मात्र शोध संस्थान में परिवर्तित कर दिया गया है।[2] वस्तुतः परिषद के शक्तिशाली नीति-निर्माता निकाय बनने का कारण है इसकी सदस्यता की प्रकृति। यह परिषद राज्यों तथा केन्द्र के मुख्य निष्पादकों की चोटी की सभा कही जा सकती है और इस कारण यह आश्चर्यजनक नहीं कि इसके निर्णय महत्वपूर्ण होते है।

तृतीय, राष्ट्रीय विकास परिषद योजनाओं की नीतियों तथा कार्यक्रमों के समन्वय में ही सहायक नहीं होती बल्कि राष्ट्रीय महत्व के अन्य महत्वपूर्ण विषयों के समन्वय में भी योग देती है। वस्तुतः यह वाद-विवाद तथा विचारों के पूर्ण तथा स्वतन्त्र आदान-प्रदान के लिए श्रेष्ठ वाद-विवाद स्थल का कार्य करती है। इसके तुल्य अन्य कोई वाद-विवाद स्थल नहीं है। के. संथानम ने इस सम्बन्ध में एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। राज्य सरकारों ने सूती कपड़े, शक्कर और तम्बाकू पर बिक्री कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को सौंपने का निश्चय किया तथा परिपद की बैठक मे यह भी तय किया गया कि इसके बदले मे कुछ अतिरिक्त उत्पादन शुल्क राज्यों को मिल जाएगा अर्थात् आपसी विचार-विमर्श से इतना महत्वपूर्ण निर्णय परिपद के मच से लिया जा सकता है।

चतुर्थ, राष्ट्रीय विकास परिषद अधिकाधिक प्रभाव, प्रतिष्ठा और सत्ता प्राप्त करती जा रही है। उदाहरणार्थ, सन् 1956 ई. मे द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खाद्य मन्त्रालय के परामर्श

1 माइकेल ब्रेचर, **नेहरू : द पॉलिटिकल बायोग्राफी**, लन्दन, 1959, पृ. 521।

2 पामर, नारमन, डी., **दी इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम**, 1970, पृ. 190-191।

के बिना ही खाद्य उत्पादन के लक्ष्य यकायक इस परिषद द्वारा बढ़ा दिए गए थे। इसी प्रकार 1958 ई. में परिषद ने राज्य व्यापार के सम्बन्ध में बिना इस तथ्य पर विचार किए ही निर्णय ले लिया था कि व्यापार राज्यों के क्षेत्रान्तर्गत आता है एवं राज्यों में नियन्त्रण लागू करने की क्षमता या तत्परता है भी या नहीं। क्या राष्ट्रीय विकास परिषद का उपयोग कहीं मुख्यमन्त्रियों पर दबाव डालने के लिए तो नहीं किया जा रहा है ताकि मुख्यमन्त्री योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार के निर्णयों को स्वीकार कर लें, किन्तु बदलते राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में राज्यों में केन्द्र की सरकार से भिन्न दलों की सरकार होने के कारण हां में हां मिलाने की प्रवृत्ति का ह्रास हो रहा है। सन् 1969 में दिल्ली में हुई परिषद की बैठक से एक नवीन प्रवृत्ति देखने को मिलती है। राष्ट्रीय विकास परिषद के इतिहास में पहली बार कुछ राज्यों ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की। पश्चिमी बंगाल तथा केरल के मुख्यमन्त्री ने कहा कि उन्हें तब बुलाया गया है जबकि योजना का प्रारूप बिल्कुल तैयार था तथा उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं थी। तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री ने कहा कि राष्ट्रीय विकास परिषद को एक स्थायी संस्था बना दिया जाए जिसका अपना एक स्थायी सचिवालय हो। राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने केन्द्र से राज्यों की आय के स्रोतों को भी बढ़ाने की बात कही। तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री ने कहा कि हमारे यहां उत्तरदायित्व बांटने में तो संघात्मक प्रवृत्ति को अपनाया गया है, लेकिन वित्तीय स्रोतों को बांटने में एकात्मक प्रवृत्ति को। केन्द्र में जनता पार्टी के पदारूढ़ होने के बाद राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठकों में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने प्रबल मांग की कि केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों पर अब पुनर्विचार होना चाहिए।[1] पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने कहा कि जब तक राज्यों की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ नहीं होती तब तक योजना के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति करना सम्भव नही होगा।[2] सोलह राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने मांग की कि सिर्फ करों और योजना सहायता राशि के बंटवारे में ही अधिक हिस्सा नहीं मिलना चाहिए वरन् बाजार ऋणों और संस्थागत वित्त आदि के लिए स्वीकृत सिद्धान्तों पर भी राज्यों को अधिक राशि मिलनी चाहिए। फलस्वरूप योजना आयोग के उपाध्यक्ष प्रो. लकड़ावाला को कहना पड़ा कि कृषि, सिंचाई, कुटीर तथा ग्रामोद्योग के विकास का दायित्व राज्य सरकारो का ही है, इसलिए उनको अधिक आर्थिक संसाधन खुद जुटाने के सिवाय केन्द्र से भी अधिक सहायता मिलनी चाहिए। केन्द्र से राज्यों को अधिक वित्तीय साधन दिए जाने से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद को एक कार्यकारी दल का गठन करना पड़ा।[3]

19 मार्च, 1988 को नयी दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक में सातवीं पंचवर्षीय योजना के मध्यावधिक मूल्यांकन को अनुमोदित कर दिया गया। यद्यपि राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने योजना की प्रगति पर आमतौर से सन्तोष व्यक्त किया तथापि गैर-कांग्रेस (इ) मुख्यमन्त्रियों ने परिषद की बैठक में केन्द्र सरकार के वित्तीय कुप्रबन्ध के लिए खिंचाई करते हुए अनुत्पादक एवं फालतू खर्च रोकने के लिए कारगर कदम उठाने की मांग की। इन राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने वित्तीय अनुशासन के नाम पर ओवरड्राफ्ट सुविधा

1 **दी टाइम्स ऑफ़ इण्डिया**, अगस्त 23, 1978।
2 **योजना**, मई 1978, पृ. 11-12।
3 **आर्थिक जगत**, 28 अगस्त, 1978, पृ. 1329।

वापस लेने को अनुचित बताते हुए केन्द्र से कहा कि वह भी इस वित्तीय अनुशासन का पालन करे। कर्नाटक के मुख्यमन्त्री रामकृष्ण हेगड़े ने सरकारिया आयोग की सिफारिशों के उल्लंघन के लिए प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की आलोचना की। महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री शंकरराव चव्हाण ने वित्तीय मामलों विशेषकर अतिरिक्त संसाधन जुटाते समय राज्यों के हितों की रक्षा न करने के लिए केन्द्र की कड़ी आलोचना की।

राष्ट्रीय विकास परिषद ने जून 1990 में अपनी 41वीं बैठक में आठवीं पंचवर्षीय योजना के लिए योजना आयोग के 'दृष्टिकोण पत्र' का व्यापक समर्थन किया। राजस्थान के मुख्यमन्त्री भैरोसिंह शेखावत ने कहा कि नियोजित विकास की प्रक्रिया अपनाने के बाद भी गरीबी बढ़ी है। अक्टूबर, 1990 मे आयोजित परिषद की बैठक ने आठवीं योजना के दौरान राज्यों को केन्द्रीय सहायता की मात्रा के निर्धारण के लिए गाडगिल फार्मूले के स्थान पर एक नए फार्मूले को मंजूरी दी। दिसम्बर 1991 में आयोजित परिषद की बैठक में राजस्थान के मुख्यमन्त्री शेखावत ने वर्ष 1990 में संशोधित गाडगिल फार्मूले पर पुनर्विचार के प्रस्ताव की आलोचना का कड़ा विरोध किया। मुख्यमन्त्री ने कहा कि 42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 के तहत जिन राज्य सूची के विषयों को समवर्ती सूची में [illegible]

सम्बन्धी उपसमितियों की सिफारिश को अनुमोदित कर दिया। तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता ने राज्यों को आर्थिक स्वायत्तता देने की बात कही ताकि विकास प्रक्रिया में वे सही भूमिका का निर्वाह कर सकें।[1]

राष्ट्रीय विकास परिषद : क्या उच्चतम मन्त्रिमण्डल है?
(N. D. C : SUPER CABINET)

के. संथानम ने राष्ट्रीय विकास परिषद की भूमिका का विश्लेषण करते हुए इसे उच्चतम [illegible]

में आने से नीति-निर्माता के रूप में केन्द्र और राज्य के मन्त्रिमण्डलों का दर्जा घटता गया है। अब महत्वपूर्ण आर्थिक निर्णय योजना आयोग तथा विकास परिषद ही लेती है। आर्थिक नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्धारण में विकास परिषद की भूमिका को देखते हुए इसको एक 'सर्वोपरि मन्त्रिमण्डल' कहा गया है। अशोक चन्दा के अनुसार, "योजना तथा राष्ट्रीय विकास परिषद के साथ मन्त्रिमण्डलों के आंशिक परिचय ने सांविधानिक स्थिति को विकृत कर दिया है।"[2]

फिर भी इस व्यवस्था की प्रशंसा ही की गयी है। प्रो. हेनसन ने लिखा है कि "भारतीय व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि उसने योजना को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया है। योजना निर्माण में केन्द्रीय मन्त्रियों एवं राज्यों के प्रतिनिधियों की उपेक्षा नहीं की गयी।" राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठकों में राज्यों के मुख्यमन्त्री खुले तौर से अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने

1 *Indian Express*, 19 September, 1993.
2 अशोक चन्दा, **फेडरलिज्म इन इण्डिया**, 1963, पृ. 281।

लगे हैं और संघीय केन्द्रीकरण के वावजूद योजना का क्रियान्वयन, चाहे वह कानून द्वारा हो या प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा हो, राज्यों के हाथों में है। फिर, केन्द्र और राज्यों के मन्त्रिमण्डलों की सांविधानिक स्थिति, भूमिका और शक्ति में कोई परिवर्तन नही आया है। केन्द्र और राज्यों के मन्त्रिमण्डल आज भी नीति-निर्माता निकाय के रूप में संविधान के केन्द्र-विन्दु हैं।

राष्ट्रीय विकास परिषद : समायोजन का प्रतिष्ठित मंच
(N. D. C. : A PLATFORM FOR CO-ORDINATION)

निष्कर्षतः राष्ट्रीय विकास परिषद भारतीय संघ प्रणाली में संघीय सरकार, योजना आयोग तथा राज्य सरकारों के मध्य समायोजन का प्रतिष्ठित मंच है। यह सच है कि यह न तो सांविधानिक निकाय है और न संविधिक ही है। इसकी सिफारिशें किसी पर वन्धनकारी नहीं हैं और इसकी स्थिति योजना आयोग के मन्त्रणा निकाय जैसी है। सांविधानिक और कानूनी सत्ता के अभाव में भी इसका स्वरूप और संगठन इसे विशिष्ट स्थिति और गरिमा प्रदान करता है। इसकी सिफारिशें केन्द्रीय और राज्य सरकारो द्वारा बड़े सम्मान के साथ स्वीकार की जाती हैं। वस्तुतः विकास परिषद ने भारत की योजनाओं को सच्चा राष्ट्रीय रूप प्रदान करने में वड़ी सहायता की है। परिषद भारतीय राजनीति में एक मध्यस्थ के रूप में केन्द्र और राज्यों के बीच एक संचार माध्यम के रूप में तथा राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न शक्तियों के वीच समीकरण वनाए रखने के उपकरण के रूप में ख्याति अर्जित करती जा रही है।

सरकारिया आयोग का भी सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके। आयोग ने केन्द्र-राज्य सम्वन्धो पर अपनी रिपोर्ट में देश के योजनाबद्ध विकास को दिशा देने के लिए परिषद को और प्रभावी वनाने की आवश्यकता व्यक्त करते हुए सुझाव दिया है कि इसका पुनर्गठन करके नाम वदल कर **'राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद'** कर दिया जाए।[1]

प्रश्न

1. राष्ट्रीय विकास परिषद के गठन एवं कार्यकरण की विवेचना कीजिए। इसे 'सुपर केविनेट' क्यों कहा जाता है? **(राजस्थान, 1997; अजमेर, 1996)**
2. राष्ट्रीय विकास परिषद के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए। **(अजमेर, 1994)**
3. राष्ट्रीय विकास परिषद पर एक टिप्पणी लिखिए। **(अजमेर, 1995, 97; राजस्थान, 1993, 98)**

---

1 "Being the supreme intergovernmental body for all matters related to socio-economic development, it is necessary that N. D. C. should be renamed and reconstituted as National Economic and Development Council (N.E.D.C.)."
—*Commission on Centre-State Relations Report* I (1988), p. 382.

15

भारत में निर्वाचन आयोग : संगठन एवं कार्य

[ELECTION COMMISSION IN INDIA: ORGANIZATION AND FUNCTIONS]

'चुनाव व्यवस्था' लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते हैं अपितु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस भांति होते है, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और आम मतदाता का निर्वाचन व्यवस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता और ईमानदारी पर कितना विश्वास होता है?

भारत एक लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली वाला देश है जहां केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आए दिन चुनाव होते रहते है। इन चुनावो के माध्यम से जनता अपने शासको (जन-प्रतिनिधियों) का चयन करती है, जनता शासकों पर नियन्त्रण रखती है और सरकार को वैधता (Legitimacy) प्रदान करती है। नागरिक मताधिकार के माध्यम से ऐसी सरकार को बदल सकते हैं जो उनकी इच्छाओं का सम्मान नहीं करती। वस्तुतः भारत जैसे देश में निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से लोकमत की अभिव्यक्ति है।

भारत के संविधान निर्माता चुनावो के महत्व से परिचित थे और इसलिए भारतीय संविधान मे उन्होने एक ऐसे साविधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यो का निर्वाचन सम्पन्न कराना है। इस सांविधानिक आयोग को 'चुनाव आयोग' (Election Commission) के नाम से जाना जाता है। जहां विश्व के अधिकाश शासन विधानों मे निर्वाचन को अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण विषय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है वहां भारतीय सविधान निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है। निर्वाचन तन्त्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए

संविधान निर्मात्री सभा में पं. हृदयनाथ कुंजरू ने कहा था—"अगर निर्वाचन तन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नहीं है या गैर-ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्‌भव काल में ही डगमगा जाएगा।" स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक् अध्याय—अनुच्छेद 324 से 329 मे निर्वाचन तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गयी है।

भारत में निर्वाचन आयोग : संरचना एवं संगठन
(ELECTION COMMISSION IN INDIA : STRUCTURE AND ORGANIZATION)

सांविधानिक प्रावधान—संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनो का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गयी है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होगे जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर मनोनीत करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तो की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे। निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा शर्तें और पदावधियां ऐसी होगी जो कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्ही रीतियों से हटाया जाएगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जाएगा। उसके बाद राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। नियुक्ति के पश्चात् मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों में अलाभकारी कोई परिवर्तन नही किया जा सकता।

व्यावहारिक स्थिति—सन् 1951 में पहली बार सविधान के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन किया गया और तब से निर्वाचन आयोग 'एक-सदस्यीय आयोग' के रूप में कार्य करता रहा। 1952 में आम चुनावों के संचालन हेतु दो प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति की गयी। प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों की व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम चुनाव के समय इसे निरस्त कर दिया गया। सन् 1956 में प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के स्थान पर उपनिर्वाचन आयुक्त के पद सृजित किए गए। विभिन्न चुनावों में उप निर्वाचन आयुक्त के पद का उपयोग किया जाता रहा है। वैसे यह सांविधानिक पद नहीं है, इसका उल्लेख जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम में किया गया है। 1957, 1962 तथा 1967 के निर्वाचनों का संचालन करने हेतु दो उप निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की गयी। 1969 के मध्यावधि चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए केवल एक ही उप निर्वाचन आयुक्त था।

इस प्रकार मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता करने के लिए उप निर्वाचन आयुक्त, सचिव, अपर सचिव, शोध अधिकारी आदि पद उपलब्ध कराए गए हैं।

सन् 1966 में निर्वाचन सम्बन्धी विधि में परिवर्तन करके यह प्रावधान किया गया कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त में सन्निहित अधिकारों का प्रयोग उप-निर्वाचन आयुक्त एवं आयोग के सचिव भी कर सकते है। इस प्रकार निर्वाचन आयुक्त की शक्तियों का हस्तान्तरण हो सकता है।

16 अक्टूबर, 1989 को राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण ने निर्वाचन आयोग को व्यापक रूप देने के उद्देश्य से दो अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। ये अधिकारी श्री एस. एस. धनोवा और श्री. वी. एस. सैगल थे। श्री धनोवा और श्री सैगल की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए की गयी थी। संविधान के अनुच्छेद 324 में यह प्रावधान है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सहायता के लिए आयुक्तों की नियुक्ति की जा सकती है, परन्तु यह प्रथम अवसर था जब इस प्रकार की नियुक्ति की गयी। श्री धनोवा और श्री सैगल क्रमशः अवकाश प्राप्त आई. ए. एस. और आई. पी. एस. अधिकारी थे।

2 जनवरी, 1990 को राष्ट्रपति ने चुनाव आयुक्तों के रूप में श्री धनोवा तथा श्री सैगल की नियुक्तियां रद्द कर दी, जिसके साथ ही बहुसदस्यीय आयोग फिर एकसदस्यीय हो गया। दोनों चुनाव आयुक्तो की संसदीय चुनाव की पूर्व संध्या पर नियुक्ति की राष्ट्रीय मोर्चे के घटक तथा अन्य विपक्षी दलों ने आलोचना की थी। सत्ता संभालने के बाद प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने अपने पहले संवाददाता सम्मेलन मे कहा था कि जिन परिस्थितियों में दो चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति हुई, सरकार उनकी समीक्षा करेगी।

बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग—मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी. एन. शेषन द्वारा उठाए गए कई विवादास्पद कदमों को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने का फैसला किया और तदनुसार राष्ट्रपति को सिफारिश की। अर्द्धसैनिक बलों की तैनाती और चुनाव ड्यूटी में लगे कर्मचारियों के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्यवाही करने के अधिकारों को लेकर मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी. एन. शेषन ने कई विवाद खड़े किए। इन विवादों के चलते वे एक बार सभी उप चुनाव स्थगित कर चुके थे। उप चुनावों को स्थगित करने के बाद उत्पन्न साविधानिक संकट के समय समूचे विपक्ष ने चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाए जाने की मांग की थी।[1]

अतः 1 अक्टूबर, 1993 को विवादास्पद मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन के अधिकारों में कटौती करने के लिए उठाए गए एक कदम मे सरकार ने दो चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति की तथा साथ ही दो अध्यादेश जारी कर आयोग के तीनों सदस्यो के अधिकार समान कर दिए। राष्ट्रपति ने कृषि सचिव एम. एस. गिल तथा विधि आयोग के पूर्व सदस्य सचिव जी. वी. जी. कृष्णमूर्ति को चुनाव आयुक्त नियुक्त किया।

इस प्रकार निर्वाचन आयोग को तीन सदस्यीय आयोग में परिवर्तित कर दिया गया है जिसमें तीनों सदस्यों के अधिकार मुख्य निर्वाचन आयुक्त के बराबर हैं।

मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्त (सेवा शर्ते) अध्यादेश के माध्यम से 1991 के अधिनियम मे प्रावधान किया गया कि किसी मसले पर मतभेद होने की स्थिति में

1 इण्डियन एक्सप्रेस, 2 अक्टूबर, 1993, पृ.1।

वहुमत से निर्णय लिया जाएगा। आयोग के कामकाज से सम्बन्धित संशोधनों के अनुसार आयोग के सदस्य सर्वसम्मति से आपस में कामकाज का वंटवारा कर सकेंगे। साथ ही जहां तक सम्भव हो सर्वसम्मति से निर्णय किए जाएंगे, लेकिन यदि किसी मसले पर मतभेद हुआ तो वहुमत की राय के मुताविक फैसला किया जाएगा।[1]

राष्ट्रपति द्वारा मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्त (सेवा शर्तें) अधिनियम में संशोधन करने के लिए एक अध्यादेश जारी किया गया। इस अध्यादेश के माध्यम से चुनाव आयुक्त की सेवा शर्तो को पुनर्परिभाषित करते हुए उन्हें मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के समकक्ष रखा गया और कैबिनेट मन्त्री का दर्जा दिया गया। अध्यादेश द्वारा चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 6 वर्ष या 62 वर्ष की आयु के वजाय 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु कर दिया गया। मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवा-निवृत्ति आयु भी 65 वर्ष है। एक अन्य संशोधन द्वारा चुनाव आयुक्तों का वेतन भी मुख्य चुनाव आयुक्त और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वरावर कर दिया गया है।

संक्षेप में, इस अध्यादेश के वाद मुख्य निर्वाचन आयुक्त की स्थिति अन्य निर्वाचन आयुक्तों के समकक्ष हो गई है। अव वह निर्वाचन आयोग का औपचारिक अध्यक्ष वन कर रह गया है और उसे वहुमत से अथवा सर्वसम्मति से निर्णय लेने की प्रक्रिया विकसित करनी पड़ी।

चुनाव आयोग के कार्य (Functions of the Election Commission)

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस सम्वन्ध में प्रमुख रूप से उसके निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है—

(1) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन (Delimination of Constituencies)—चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रो का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं पायी गयी, अतः संसद ने **'परिसीमन आयोग अधिनियम, 1952'** पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष वाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इनमें दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते है। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्वद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता के द्वारा व्यक्तिगत अथवा संगठित रूप से आयोग के सम्मुख सुझाव या आपत्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिन पर खुली बैठकों में विचार आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमांकन आदेश' की घोषणा करता है जो अन्तिम होता है तथा जिसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। परिसीमन आयोग की यह समस्त व्यवस्था **'गैरीमेण्डरिंग'** (Gerrymendering) जैसी वुराइयों को सीमित करने के लिए की गयी है।

1 **इण्डियन एक्सप्रेस**, 2 अक्टूवर, 1993, पृ. 1।

(2) **मतदाता सूचियां तैयार करना (To Prepare Electoral Rolls)**—चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होते हैं। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

(3) **विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना (To Recognize Different Political Partıes)**—चुनाव आयोग का एक महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इस सम्बन्ध मे आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान किए जाने के आधार में समय-समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं और किए जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार राष्ट्रीय दलो के रूप में किसी भी दल को मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि आम चुनाव में उसे कम से कम चार राज्यों में 4 प्रतिशत मत मिले हो। इस दृष्टि से 1989 में 8 राष्ट्रीय और 42 राज्यस्तरीय पार्टियां थी। इसके अतिरिक्त 257 पंजीकृत अमान्यता प्राप्त ऐसी पार्टियां थी जिन्हे उक्त वर्ष मात्र के लिए मान्यता प्राप्त पार्टी समझा गया था।

(4) **राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना (To Allot Reserve Election Symbols to Political Parties)**—आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित (Reserved) चुनाव चिह्न प्रदान करता है और भारत की पृष्ठभूमि में आयोग का यह कार्य निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। यदि चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलो के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निवटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील भी की जा सकती है।

(5) **अर्द्ध-न्यायिक कार्य (Quasi-Judicial Functions)**—संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य सौपे गए है, जिसमें दो उल्लेखनीय है—अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओ (Disqualifications) के सम्बन्ध मे परामर्श कर सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के सदस्यो के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालो को दिया गया है। लेकिन संविधान अथवा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नही की गयी है और इसलिए इस कार्य को करने में आयोग ने कठिनाइयां अनुभव की है।

(6) **अन्य कार्य (Other Functions)**—आयोग को उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गए हैं, जो इस प्रकार हैं—(1) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता (Code of Conduct) तैयार करना; (2) राजनीतिक दलो को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएं दिलवाना; (3) उम्मीदवारों द्वारा किए जाने वाले कुल व्यय की राशि निश्चित करना; (4) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना; (5) चुनाव याचिकाओं आदि के सम्बन्ध मे सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यो के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा जारी की गयी अधिसूचना से होता है। यह अधिसूचना 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1952' की 14वीं धारा के अन्तर्गत जारी की जाती है तथा उसे वर्तमान लोकसभा की अवधि की समाप्ति या मध्यावधि चुनाव होने की स्थिति मे जारी किया जाता है। इसके उपरान्त चुनाव आयोग मतदान की तिथियों की घोषणा करता है जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोषणा में नामजदगी, पत्रों की जांच की तिथि, चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है। सन् 1966 के उपरान्त उम्मीदवारो को चुनाव अभियान के लिए कम-से-कम 20 दिन का समय दिया जाता है।

निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता के लिए सांविधानिक प्रावधान
(INDEPENDENCE OF THE ELECTION COMMISSION CONSTITUTIONAL PROVISIONS)

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र साविधानिक निकाय है और सविधान इस वात को सुनिश्चित करता है कि यह उच्चतम और उच्च न्यायालयों की भाति कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यो को सम्पादित कर सके। इसकी स्वतन्त्रता को वनाए रखने की दृष्टि से निम्नलिखित प्रावधान वड़े महत्वपूर्ण हैं—

1. निर्वाचन आयोग एक सांविधानिक संस्था है अर्थात् इसका निर्माण संविधान ने किया है न कि कार्यपालिका या संसद ने।
2. मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते है।
3. मुख्य चुनाव आयुक्त को महाभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।
4. मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों का दर्जा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के वरावर है।
5. नियुक्ति के पश्चात् मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा शर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।
6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तो का वेतन भारत की सचित निधि मे से दिया जाता है।
7. उन्हें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वरावर वेतन दिया जाता है।
8. उनकी सेवा निवृत्ति कार्यकाल के 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो भी पूर्व हो, कर दी गयी है।

संक्षेप में, सविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे वे अपने कार्यों को निडरता, निष्पक्षता तथा विना किसी हस्तक्षेप के सम्पादित कर सके।

निर्वाचन आयोग : आलोचना
(ELECTION COMMISSION : CRITICISM)

भारत मे समय-समय पर निर्वाचन आयोग पर शासक दल के साथ पक्षपात करने के आरोप लगाए जाते रहे हैं। चतुर्थ आम चुनाव तथा विशेषतया लोकसभा के मध्यावधि चुनाव (1971) के वाद इस प्रकार के आरोपों में बहुत वृद्धि-हुई है। 11वी लोकसभा चुनाव (मई, 1996) के तथा 12 वी लोकसभा चुनाव (फरवरी 1998) के दौरान भी आयोग पर कई आरोप लगाए गए। आयोग की अग्रलिखित आलोचनाएं की जाती है—

1. प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर नियुक्ति—आलोचकों के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर आमतौर से भारतीय प्रशासनिक सेवा (*I.A.S*) के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है जिन्हें शासक दल निष्ठावान मानता है। सत्तारूढ़ दल द्वारा अपने चहेते व्यक्तियों को मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा निर्वाचन आयुक्त के पद पर नियुक्त किया जाता है। ये अधिकारी जिन्होंने सत्तारूढ़ दल के मातहत के रूप में काम किया है चुनाव आयुक्त के रूप में निष्पक्ष भूमिका अदा कैसे कर सकते हैं?

2. निर्वाचन आयोग में 'आयुक्त' का एकल पद—भारत में निर्वाचन आयोग में लम्बे समय तक आयुक्त का एकल पद (एकसदस्यीय) रहा है। नवम् लोकसभा चुनाव (*1989*) से पूर्व आयोग में दो अतिरिक्त आयुक्तों को मनोनीत किया गया था, किन्तु 2 जनवरी, *1990* [illegible]

बैठक बुलाई थी, जिसमें प्रधानमन्त्री, विपक्ष के नेता और अन्य दलो के नेता भी उपस्थित थे। इस बैठक में अधिकतर नेताओं ने आयोग को बहुसदस्यीय बनाने की मांग की थी। इसी परिप्रेक्ष्य में 1 अक्टूबर, 1993 को राष्ट्रपति ने दो और निर्वाचन आयुक्त नियुक्त कर निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया। निर्वाचन आयोग के कार्य बहुत विस्तृत और उसके उत्तरदायित्व बहुत भारी है। अतः अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति द्वारा इतने लम्बे समय तक इन कार्यों को किए जाने पर पक्षपात और शक्ति दुरुपयोग की आशंका रहती है।

3 निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल एवं सरकार के इशारे पर काम करता है—सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जाता है कि भारत में निर्वाचन का समय व तिथियां निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित की जाती हैं, लेकिन यथार्थ में वह सत्तारूढ़ दल की इच्छा एवं सुविधा को ध्यान मे रखकर काम करता है।

4. निर्वाचन सम्पन्न कराने के लिए राज्य सरकारों के कर्मचारियों पर निर्भरता—निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यो के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नहीं है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियो पर निर्भर रहना पडता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नहीं होते और कई बार निष्पक्ष आचरण नहीं करते। नवम् लोकसभा चुनाव के समय प्रधानमन्त्री के निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में जिस पैमाने पर फर्जी मतदान और नश पर कब्जा करने की [illegible]

की पक्षपातपूर्ण भूमिका का पर्दाफाश कर देता है।

5. चुनाव धांधलियों को रोक पाने में असमर्थ—वर्तमान में चुनाव आयोग चुनाव धांधलियो को रोक पाने में अपने को असहाय पाता है। चुनावो में बाहुबल और हिंसा, मतदान स्थलो पर कब्जा (Booth Capturing), फर्जी मतदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, किन्तु चुनाव आयोग मूक दर्शक बना रहता है।

से करनी है तो आयोग के लिए कारगर अधिकारों और पर्याप्त संसाधनों की तत्काल जरूरत है। खासकर संसद में कानून बनाकर आयोग को नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक सरीखी हैसियत दिए जाने की जरूरत है।

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव
(A PLEA FOR REFORMING THE ELECTION COMMISSION)

निर्वाचन आयोग के संगठन में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए जाते हैं—

1. चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग हो जिसमें 3 से 5 तक स्थायी सदस्य हों और मुख्य चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो।

2. चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाए जिसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमन्त्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।

3. राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार चुनाव आयोग हो।

4. आयोग की निष्पक्षता को बनाए रखने के लिए इसमें वर्तमान या सेवानिवृत्त प्रशासनिक अधिकारियों को नियुक्त न कर वर्तमान या सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए।

5. उप चुनाव के बारे में निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति निर्वाचन आयोग में निहित हो न कि सत्तारूढ़ दल की सुविधा पर।

6. निर्वाचन आयोग से पद निवृत्त होने वाले आयुक्तों को भविष्य में किसी भी लाभ के पद पर नियुक्त न किया जाए।

तारकुण्डे समिति ने निर्वाचन आयोग में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए थे— (1) राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किए जाएं; (2) केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों तथा उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति एक ऐसी समिति की सिफारिश से करे जिसमें प्रधानमन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता हो।

भारतीय जनता पार्टी के तत्कालीन अध्यक्ष श्री लालकृष्ण अडवाणी ने निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता को बनाए रखने के लिए तीन सुझाव दिए है—

(1) निर्वाचन आयोग बहुसदस्यीय होना चाहिए, (2) सेवानिवृत्ति के बाद सचिवों को आयोग मे नियुक्त न किया जाए, तथा (3) सेवानिवृत्ति के बाद निर्वाचन आयोग के सदस्य किसी भी पद पर नियुक्त न किए जाएं।

निर्वाचन आयोग ने वर्ष 1986-87 के अपने वार्षिक प्रतिवेदन में कहा है कि संसद को मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति की प्रक्रिया निर्धारित करने हेतु एक विधि का निर्माण करना चाहिए ताकि इस आलोचना से बचा जा सके कि नियुक्ति में केन्द्रीय सरकार की राजनीतिक दखलन्दाजी रहती है। जहां तक बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग का सुझाव है, इस सम्बन्ध में इस प्रस्ताव की जांच की जानी चाहिए और विभिन्न राजनीतिक दलों के विचारों से भी लाभ लिया जाना चाहिए। प्रतिवेदन में कहा गया है कि भारत के तीन भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्तों ने इस आधार पर बहुसदस्यीय चुनाव आयोग का विरोध किया था कि चुनाव सम्बन्धी मामलों में तत्काल निर्णय लेने होते हैं और व्यवहार में आयोग ने हमेशा विभिन्न अभिकरणों और अधिकारियों से परामर्श करके ही काम किया है।

निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता
(IMPARTIALITY OF ELECTION COMMISSION)

अभी तक भारत में लोकसभा के 12 आम चुनाव सम्पन्न हुए हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन से लेकर निर्वाचन अधिनिर्णय तक के कार्य को चुनाव आयोग ने सामान्यतया कार्यकुशलता, निष्पक्षता और ईमानदारी के साथ सम्पन्न किया है। आयोग ने एक समय गढ़वाल में दुबारा मतदान के आदेश दिए और 1989 के लोकसभा चुनाव के दौरान 1235 केन्द्रों पर पुनर्मतदान सम्पन्न करवाया। यदि निर्वाचन आयोग निष्पक्ष न होता तो 1977 में श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनका दल तथा 1996 में पी. वी. नरसिंहराव एवं उनका दल पराजित न होता। केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे, भाजपा तथा सयुक्त मोर्चे की सरकार एवं समय-समय पर विभिन्न राज्यों में गैर-कांग्रेसी दलो का सत्ता में आना निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता का प्रमाण है।

राज्य एवं जिला स्तर पर निर्वाचन तन्त्र (Election Machinery at the State and District Levels)

करना होता है।

संविधान सभा में अनेक सदस्यों ने यह मांग की थी कि भारत में राज्यों के लिए पृथक् से 'निर्वाचन आयोग' उसी भांति होने चाहिए जिस भांति संघ के लिए एक लोक सेवा आयोग तथा राज्यों के लिए पृथक् से राज्य लोक सेवा आयोग का प्रावधान है, किन्तु काफी विचार-विमर्श के बाद राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे निर्वाचन आयोग का प्रावधान किया गया जो केन्द्र एवं राज्य दोनों के चुनाव सम्बन्धी कार्यो के लिए उत्तरदायी बनाया गया।

मुख्य निर्वाचन अधिकारी (Chief Electoral Officer)

राज्य/संघ शासित प्रदेश स्तर पर 'एक मुख्य निर्वाचन अधिकारी' (Chief Electoral Officer) की नियुक्ति की जाती है जो कि उस राज्य अथवा संघ शासित प्रदेश में चुनाव सम्बन्धी समस्त कार्यो का निर्वाह करता है। उसकी नियुक्ति राज्य या सम्बन्धित संघ शासित प्रदेश की सरकार के परामर्श से निर्वाचन आयोग करता है। व्यवहार में निर्वाचन आयोग

हो और जिसके निष्पक्ष काम करने की ख्याति हो। उसकी सहायता के लिए राज्य स्तर पर संयुक्त, उप तथा सहायक मुख्य निर्वाचन अधिकारी होते है जिनकी नियुक्ति उसके द्वारा राज्य सरकार के परामर्श से की जाती है।

मुख्य निर्वाचन अधिकारी (C.E.O.) राज्य अथवा संघ प्रशासित प्रदेश में निर्वाचन तन्त्र का आधार अथवा मुख्य प्रस्तर होता है।[1] इस पद को 1956 में विधिक आधार प्रदान किया गया था।

राज्य में 'मुख्य निर्वाचन अधिकारी' पूर्णकालिक रूप से चुनाव कार्यो के लिए ही नियुक्त किया जा सकता है अथवा अन्य प्रशासनिक कार्यों के साथ वह अंशकालिक (Part Time) रूप में चुनावी कार्यो को भी सम्पन्न कर सकता है।[2] यदि वह अंशकालिक अधिकारी है तो उसे सहायता प्रदान करने के लिए संयुक्त, उप अथवा सहायक मुख्य निर्वाचन अधिकारी अवश्य नियुक्त किए जाते हैं, किन्तु इन अधिकारियो को विधिक दर्जा प्राप्त नहीं है। राज्य में निर्वाचनों के अधीक्षण, निर्वाचक सूचियों के निर्माण तथा निर्वाचनो के संचालन के लिए वही उत्तरदायी होता है।

प्रत्येक राज्य में उसके आकार तथा निर्वाचन सम्बन्धी कार्यभार को देखते हुए 'मुख्य निर्वाचन अधिकारी' के कार्यालय का संगठन एवं प्रशासन भिन्न-भिन्न होता है। प्रायः 'मुख्य निर्वाचन अधिकारी' का कार्यालय राज्य की राजधानी में राज्य सचिवालय का एक भाग होता है। यह पृथक् से एक विभाग का भाग होता है अथवा किसी अन्य सम्बन्धित विभाग का भाग होता है। इसके लिए पृथक् से मन्त्रालयिक एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी उपलब्ध कराए जाते हैं ताकि चुनाव सम्बन्धी कार्यों का कुशलतापूर्वक संचालन किया जा सके। इन कर्मचारियों को सम्बन्धित राज्य सरकार ही उपलब्ध कराती है।

जिला निर्वाचन अधिकारी (District Election Officer)

जिला स्तर पर निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों का निर्वाह अपने अन्य कर्तव्यों के साथ-साथ 'जिला निर्वाचन अधिकारी' द्वारा किया जाता है। 1966 में जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 में संशोधन करके उसे विधिक दर्जा प्रदान कर दिया गया है। सामान्यतः यह पद जिला कलक्टर को ही दिया जाता है। जिला निर्वाचन अधिकारी अपने जिले में निर्वाचन से सम्बन्धित कार्यों में समन्वय लाता है। जिले में चुनाव के लिए आवश्यक सामान क्रय करवाने, मतदान केन्द्र दल की नियुक्ति करने, चुनाव एवं पंजीयन से सम्बन्धित कार्यों पर नियन्त्रण रखने आदि का दायित्व उसी का होता है। उसे मुख्य निर्वाचन अधिकारी (C. E. O.) के निर्देशन, पर्यवेक्षण और नियन्त्रण में कार्य करना होता है।

जिला स्तर पर निर्वाचन तन्त्र सभी राज्यों में एकसमान नही पाया जाता। निर्वाचन आयोग का सुझाव था कि जिला स्तर पर एक स्वतन्त्र 'जिला निर्वाचन अधिकारी' का पद सृजित किया जाए तथा जिले में निर्वाचन कार्यो से सम्बन्धित सभी दायित्व सौंप दिए जाएं। उस पर निर्वाचन आयोग तथा मुख्य निर्वाचन अधिकारी का नियन्त्रण बना रहेगा। यह सुझाव 1966 में जन प्रतिनिधित्व कानून मे संशोधन करके क्रियान्वित कर दिया गया। संघ शासित प्रदेशों में जिला निर्वाचन अधिकारी का पद वर्तमान में पृथक् से नहीं है। उसके दायित्वो का निर्वाह रिटर्निंग ऑफीसर ही करते हैं। जिला स्तर पर निर्वाचन कर्तव्यो के निर्वाह के लिए नियुक्त कर्मचारियों का सभी राज्यों एवं जिलों में एक समान प्रतिरूप नहीं है।

1 "At the state or union territory level there is the chief electoral officer as the king-pin in the electoral machinery."

2 "He may be a whole time or part time officer and may be required by the state government to attend to other duties also."

निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर चुनाव कार्यो को दो भागों मे बांटा जाता है। मतदाता सूचिया तैयार करने तथा संशोधन करने का कार्य निर्वाचन पंजीयन अधिकारी (Electoral Registration Officer), सहायक निर्वाचन पंजीयन अधिकारी (Assistant Electoral Registration Officer), रिटर्निंग ऑफीसर (Returning Officer) तथा सहायक रिटर्निंग ऑफीसर (Assistant Returning Officer) द्वारा किया जाता है, किन्तु व्यवहार मे चुनाव सम्पन्न करने का कार्य पीठासीन अधिकारी (Presiding Officer) तथा मतदान अधिकारी (Polling Officer) द्वारा किया जाता है।

निर्वाचन पंजीयन अधिकारी (Electoral Registration Officer)—विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर निर्वाचन आयोग द्वारा सम्बन्धित राज्य सरकार के परामर्श से 'निर्वाचन पजीयन अधिकारी' की नियुक्ति की जाती है। उसकी सहायता के लिए एक या एक से अधिक सहायक निर्वाचन पजीयन अधिकारी भी निर्वाचन आयोग द्वारा नियुक्त किए जा सकते है। प्राय. डिप्टीकलक्टर, एस. डी. ओ अथवा बड़ी नगरपालिकाओ के कार्यपालन अधिकारी स्तर के अधिकारियो को निर्वाचन पजीयन अधिकारी नियुक्त किया जाता है। तहसीलदार स्तर के अधिकारियो को सहायक निर्वाचन पंजीयन अधिकारी नियुक्त किया जाता है। मतदाता सूचियो मे संशोधन के लिए अंशकालिक कार्मिको की नियुक्ति की जाती है।

रिटर्निंग ऑफीसर (Returning Officer)—प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचन कार्य का अधीक्षण निर्वाचन आयोग द्वारा राज्य सरकार के परामर्श से नियुक्त एक ऐसे अधिकारी द्वारा किया जाता है जिसे 'रिटर्निंग ऑफीसर' कहते है। एक ही अधिकारी को एक से अधिक चुनाव क्षेत्रो का रिटर्निंग ऑफीसर नियुक्त किया जा सकता है। उसकी सहायता के लिए एक या एक से अधिक सहायक रिटर्निंग अधिकारियो की नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा की जा सकती है। प्रायः लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र के लिए जिला कलक्टर को तथा विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र के लिए एस डी. ओ को रिटर्निंग ऑफीसर नियुक्त किया जाता है। राज्य सरकार अपने अधिकारियो की एक सूची रिटर्निंग ऑफीसर की नियुक्ति हेतु निर्वाचन आयोग को भेजती है और आयोग उस सूची की औपचारिक जाच करके अधिकारियो की रिटर्निंग ऑफीसर के रूप में नियुक्ति करती है। रिटर्निंग ऑफीसर के प्रमुख कार्य है—नामांकन पत्रो को स्वीकार करना, उनकी जांच करना, मतो की गिनती करना तथा चुनाव परिणामो की घोषणा करना।

यह आवश्यक नही है कि जिला निर्वाचन अधिकारी तथा रिटर्निंग ऑफीसर अलग-अलग व्यक्ति हो। एक ही व्यक्ति जिला निर्वाचन अधिकारी तथा रिटर्निंग ऑफीसर दोनों पदों का कार्य कर सकता है। प्रायः जिला स्तर पर जिला कलक्टर ही जिला निर्वाचन अधिकारी तथा लोकसभा चुनाव क्षेत्र मे रिटर्निंग ऑफीसर के पद का कार्य करते है।

पीठासीन तथा मतदान अधिकारी (Presiding and Polling Officer)—जिला निर्वाचन अधिकारी द्वारा नियुक्त पीठासीन अधिकारी तथा मतदान अधिकारी मतदान स्थलों (Election Booths) पर जाकर व्यवहार मे चुनाव कार्य सम्पन्न करवाते है। जिला निर्वाचन अधिकारी प्रत्येक मतदान केन्द्र के लिए एक पीठासीन अधिकारी तथा आवश्यकतानुसार (3 से 5 तक) मतदान अधिकारी नियुक्त करता है। आमतौर से जब लोक सभा और विधान सभा के साथ-साथ निर्वाचन हो रहे हों तो एक चुनाव दल में एक पीठासीन अधिकारी और 4-5 मतदान अधिकारी

नियुक्त किए जाते हैं। किसी व्यक्ति को एक से अधिक चुनाव केन्द्रों का पीठासीन अधिकारी भी नियुक्त किया जा सकता है, यदि एक ही भवन में एक से अधिक चुनाव केन्द्र (बूथ) बनाए गए हों। पीठासीन अधिकारी का प्रमुख कार्य है—मतदान केन्द्र में व्यवस्था बनाए रखना तथा निष्पक्ष रूप से मतदान कार्य सम्पन्न कराना। आमतौर से ऐसे व्यक्तियों को पीठासीन अधिकारी नियुक्त किया जाता है जिन्हें थोड़ा-बहुत प्रशासनिक कार्यों का अनुभव हो, जो निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों से परिचित हों तथा जिनकी निष्पक्षता संदेहास्पद न हो। यदि किसी कारण से पीठासीन अधिकारी अस्वस्थ हो जाए या कार्य करने में असमर्थ हो जाए तो उसके कार्यों को सम्पन्न करने का दायित्व जिला निर्वाचन अधिकारी द्वारा किसी मतदान अधिकारी को सौंपा जा सकता है। मतदान अधिकारियो का कार्य मतदान केन्द्र पर मतदान कार्य सम्पन्न कराने में पीठासीन अधिकारी की सहायता करना है।

पीठासीन अधिकारी और मतदान अधिकारी के रूप में कार्य करने के लिए बड़ी संख्या में कर्मचारियो की आवश्यकता होती है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें निर्वाचन आयोग की मांग पर अपने कर्मचारियों को बड़ी संख्या में चुनाव कार्य सम्पन्न कराने के लिए निर्वाचन आयोग के सुपुर्द करती हैं। निर्वाचन सम्बन्धी कार्य करते समय ये कर्मचारी निर्वाचन आयोग के नियन्त्रण में कार्य करते हैं।

चुनाव और चुनाव व्यवस्था से सम्बन्धित प्रश्न : त्रुटियां और उपचार
(DIFFERENT QUESTIONS RELATED WITH ELECTION AND ELECTION SYSTEM : PROBLEMS AND REMEDIES)

भारत में अब तक लगभग 12 आम चुनाव हो चुके है। ये सभी चुनाव सामान्यतया शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए हैं, लेकिन इसके साथ ही चुनाव पद्धति और चुनावों में कुछ ऐसी बातें देखने में आयी हैं, जिन्होने जनता की चुनावों में आस्था को कम किया है अथवा यदि उन्हें समय रहते नियन्त्रित नहीं किया गया, तो वे कालान्तर में चुनावों के प्रति आस्था को आघात पहुंचा सकती है। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के अनुसार, "हमारे संविधान ने आधुनिक उदारवादी दर्शन के सार तत्व सार्वभौम वयस्क मताधिकार को अपनाया है, परन्तु इसके पूरे अर्थ का अभी उद्‌घाटन होना है; अभी इसे न्याय, स्वतन्त्रता तथा क्षमता के उदात्त लक्ष्यों की सिद्धि का शासन बनाना शेष है। यदि हमें इस महत् तथा भव्य आदर्श को यथार्थ के धरातल पर लाना है, तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निर्वाचन-प्रक्रमों के वास्तविक स्वरूप तथा त्रुटियों एवं विकृतियो का परिचय प्राप्त करें और उसकी शुद्धता की रक्षा के लिए अथक् प्रयास करें।"

चुनावों से सम्बन्धित व्याधियों की विवेचना और चुनाव सुधार का विषय पिछले कुछ वर्षों से संसद और देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित करता रहा है। अनेक पक्षों द्वारा इस सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत की गयी है, इनमें से अधिक महत्वपूर्ण पक्षों की सिफारिशों का अध्ययन अपना महत्व रखता है।

चुनाव सुधार के प्रश्न पर विचार और अध्ययन करने के लिए **'सिटिजन फॉर डेमोक्रेसी'** (Citizen for Democracy) नामक संगठन की ओर से श्री जयप्रकाश नारायण ने एक समिति का गठन किया था। महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश और प्रसिद्ध रेडिकल ह्यूमनिस्ट श्री वी. एम. तारकुण्डे इसके अध्यक्ष थे। समिति को कहा गया था कि वह देश के

निर्वाचन कानून में निहित दोषों को दूर करने के उपाय खोजे। उसका प्रतिवेदन छप चुका है। सुधारों के सम्बन्ध मे कुछ अन्य योजनाएं भी है। यहां हम इन सबका संक्षिप्त विवरण देंगे।

व्यवस्था के दुरुपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने, निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता की व्यवस्था करने और चुनाव याचिकाओं की सुनवाई में होने वाले असाधारण विलम्ब को रोकने के लिए रीति-नीति की खोज करना। उसकी सिफारिशे हैं—

(1) मताधिकार 21 वर्ष की आयु में ही दे दिया जाए।

(2) आय के स्रोतों का उल्लेख तथा आय-व्यय का पूरा हिसाब लिखना समस्त राजनीतिक दलो के लिए अनिवार्य कर दिया जाए और निर्वाचन आयोग इसकी जांच कराए। उम्मीदवारो के चुनाव-खर्च के हिसाब की जांच करायी जाए। राजनीतिक दलो द्वारा उम्मीदवारों पर किया जाने वाला खर्च उम्मीदवारों के हिसाब मे जोडा जाए तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा को दुगुना कर दिया जाए।

(3) प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से छपे हुए मतदान-कार्ड निःशुल्क दिए जाए तथा प्रत्येक मतदाता के नाम का कार्ड बिना टिकट लगाए डाक से भेजने की छूट दी जाए। इसके अलावा प्रत्येक उम्मीदवार को छूट हो कि वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता के नाम 50 ग्राम तक प्रचार सामग्री डाक से निःशुल्क भेज सके। निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं की सूचियो की 12 प्रतियां प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से निःशुल्क दी जाएं।

(4) जो लोग राजनीतिक दलो को वर्ष में एक हजार रुपया दान दें, उन्हें इस राशि पर आयकर की छूट दी जाए तथा कम्पनियों पर यह प्रतिबन्ध जारी रखा जाए कि वे राजनीतिक दलों को दान नही दे सकतीं। कम्पनियो द्वारा विज्ञापनो के रूप में राजनीतिक दलों को दी जाने वाली सहायता पर भी पाबन्दी लगायी जाए।

(5) लोकसभा अथवा विधानसभा के विघटन और नए चुनावों की घोषणा के समय के बाद से सरकार कामचलाऊ सरकार की तरह काम करे। वह नयी नीतियों की घोषणा न करे, न उन्हे लागू करे, न नयी परियोजनाएं चालू करे, न उनका वायदा करे, न नए ऋण अथवा भत्ते दे और न वेतन-वृद्धि की घोषणा करे, तथा ऐसे सरकारी समारोह आयोजित न करें, जिसमें

(6)

सवारी और

और उनके दौरों के समय सरकारी कर्मचारी तैनात न किए जाए।

(7) जमानत की रकम लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए 500 से बढ़कर 2,000 रुपए और विधान सभाओं के उम्मीदवारों के लिए 200 से बढ़ाकर 1,000 रुपए कर दी जाए।

(8) आकाशवाणी के सम्बन्ध में 'चन्दा समिति' की रिपोर्ट पर अमल किया जाए तथा आकाशवाणी को निगम का रूप दिया जाए। जिस तरह ब्रिटेन में बी. बी. सी. पर राजनीतिक दलों को पिछले चुनावो में प्राप्त मतों के अनुपात में प्रचार का समय दिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी उन्हें रैडियो और टेलीविजन पर समय दिया जाए।

(9) राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किए जाएं, केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति केवल प्रधानमन्त्री के परामर्श पर नहीं, अपितु तीन व्यक्तियों की एक समिति की सिफारिश पर करें। इस समिति में प्रधानमन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता अथवा विरोध पक्ष का प्रतिनिधि हो।

(10) निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र और राज्यों में निर्वाचन परिषदें बनायी जाएं, जो उसे सलाह दें। इन परिषदों मे विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रतिनिधि हों। इनके अलावा 'मतदाता परिषदें' भी बनायी जाएं जो निर्वाचन के समग होने वाली बुराइयों पर निगाह रखें तथा निर्वाचकों की निष्पक्षता की रक्षा करें।

'तारकुण्डे समिति' ने कुछ विवादास्पद मुद्दों पर स्पष्ट राय नहीं दी है। समिति ने लोक निर्णय और विधानसभा के सदस्यों के प्रत्यावर्तन (रिकॉल) की मांग तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं सूची-प्रणाली को भी व्यावहारिक नही माना और यह कहकर पल्ला छुड़ा लिया कि वह एक विवादास्पद विषय है, जिस पर राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा एव चिन्तन की आवश्यकता है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रस्ताव—कम्युनिस्ट पार्टी ने निर्वाचन-प्रणाली में बुनियादी संशोधनों की मांग की है। उसने कहा कि देश में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत चुनाव-प्रणाली लागू की जाए, निर्वाचन आयोग में तीन सदस्य हों और उनका चयन संसद अपने दो-तिहाई बहुमत से करे तथा उनमें से कोई भी सदस्य प्रशासनिक सेवाओं का सेवानिवृत्त कर्मचारी न हो।

अन्ना-द्रमुक का सुझाव—अन्ना-द्रमुक के सुझावों में कहा गया है कि मतदाताओं को प्रत्यावर्तन (रिकॉल) का अधिकार दिया जाए, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली लागू की जाए, मताधिकार की आयु घटाकर 18 वर्ष कर दी जाए, मतदाताओं को मतदान-केन्द्र तक लाने-ले-जाने के लिए कारों या अन्य सवारियों के उपयोग पर पूरी तरह प्रतिबन्ध लगा दिया जाए, चुनावों से तीन महीने पहले सरकारो का कार्यकाल समाप्त कर दिया जाए तथा इस बीच शासन की बागडोर राष्ट्रपति और राज्यपाल संभालें तथा चुनावों के दौरान उम्मीदवारों द्वारा लगाए जाने वाले दीवार विज्ञापनों का पूरा खर्च सरकार उठाए।

आठ-दलीय स्मरण पत्र—22 अप्रैल, 1975 को प्रधानमन्त्री के साथ चर्चा के दौरान आठ राजनीतिक दलों की ओर से सरकार को एक संयुक्त स्मरण-पत्र दिया गया, जिसमें कहा गया था—

(1) विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति नियुक्त की जाए, जो वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली का ऐसा विकल्प तलाशे जिससे जनता की इच्छा चुनाव-परिणामों में अधिक प्रामाणिकता के साथ 'प्रतिबिम्बित' हो सके।

(2) मताधिकार प्राप्ति की आयु 21 के बजाय 18 वर्ष मानी जाए।

(3) आम निर्वाचनों के बीच उठने वाले सार्वजनिक प्रश्नों पर सविधान में लोकनिर्णय (रेफरेण्डम) की व्यवस्था की जाए।

(4) प्रतिनिधियों के प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त अच्छा है, लेकिन एक सर्वदलीय समिति बनाकर उसे इस बारे में सिफारिश करने का काम सौंपा जाए।

(5) निर्वाचन आयोग बहु-सदस्यी हो तथा उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति तीन सदस्यों की चयन समिति की सिफारिश के आधार पर करे, इस समिति में प्रधानमन्त्री, भारत के मुख्य न्यायाधीश और विरोधी दल का नेता या प्रतिनिधि हों।

(6) मुख्य निर्वाचन आयुक्त राज्यों अथवा क्षेत्रों के लिए स्थायी निर्वाचन आयोग नियुक्त करे।

(7) चुनावों में गड़बड़ की शिकायतों की जांच के लिए केन्द्र और राज्यों में जनता के प्रतिनिधियों और प्रमुख निर्दलीय व्यक्तियों की निर्वाचन परिषदें कायम की जाएं और उन्हे वैधानिक स्तर दिया जाए।

(8) आकाशवाणी और टेलीविजन को निगम का रूप दिया जाए और उन पर सभी राजनीतिक दलों को प्रचार के लिए बराबर समय दिया जाए।

(9) देश-भर में एक दिन में ही चुनाव कराया जाए, हर मतदान-केन्द्र पर केवल एक मतपेटी हो और मतगणना केन्द्र-वार हो।

संयुक्त संसदीय समिति के सुझाव—सन् 1972 में संसद की एक संयुक्त समिति ने तीन प्रमुख सुझाव दिए थे—(1) निर्वाचन-प्रणाली में बुनियादी परिवर्तनों के बारे में सुझाव देने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन हो, (2) बहु-सदस्यीय निर्वाचन आयोग की स्थापना हो, तथा (3) आकाशवाणी पर चुनाव-प्रचार के लिए समस्त राजनीतिक दलों को समान मात्रा में समय दिया जाए।

तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त श्यामलाल शकधर ने 9 जुलाई, 1981 को देश की चुनाव व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तनो का सुझाव दिया। इन दोनों आधारभूत परिवर्तनों के अन्तर्गत मतदाताओं को परिचय पत्र दिए जाएं तथा चुनावों का खर्च राज्य वहन करें। यह दोनों सुधार लम्बे समय तक विचार करने के बाद वित्त मन्त्रालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए।

1983-84 में मुख्य चुनाव आयुक्त श्री आर. के. त्रिवेदी ने चुनाव व्यवस्था की प्रमुख रूप से ये कमियां बतलायी थीं—प्रथम, चुनावों मे धन की बढ़ती हुई शक्ति; द्वितीय, फर्जी मतदाता और तृतीय, चुनावों में बाहुबल की शक्ति का प्रयोग तथा मतदान केन्द्रों पर कब्जा।

विविध पक्षों द्वारा किए गए उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर चुनाव व्यवस्था की गम्भीर त्रुटियों और उन त्रुटियों के उपचार का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1. राजनीतिक दलों को प्राप्त जन समर्थन और स्थानों के अनुपात में गम्भीर अन्तर (Serious Disparity between People's Support to Political Parties and Number of Seats Gained)—भारत में साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी है, उसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हों, चाहे विरोधी अथवा पराजित उम्मीदवारों को मिले मतों का योग उसे प्राप्त मतों से कितना ही अधिक हो। इसके परिणामस्वरूप बहुधा उस दल को सरकार बनाने का अवसर मिल जाता है जिसे देश के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है और छोटे-छोटे दलों को उन्हें प्राप्त जन समर्थन की तुलना में बहुत ही कम स्थान प्राप्त होते हैं। महत्वपूर्ण तथ्य है कि कांग्रेस जिसने प्रथम तीन आम चुनावों में 70 प्रतिशत से अधिक, चतुर्थ आम चुनाव में 54 प्रतिशत, 1971 में 68 प्रतिशत और 1980 मे लगभग 64 प्रतिशत स्थान प्राप्त किए, वह इनमें से किसी भी चुनाव में 50 प्रतिशत मत प्राप्त नहीं कर सकी थी। 1980 के लोकसभा चुनावों में

एक विसंगति इस रूप में देखी गयी कि जनता पार्टी ने मतदाताओं के 18.94 प्रतिशत और जनता 'एस' (लोकदल) ने 9.43 प्रतिशत मत प्राप्त किए लेकिन जनता 'एस' (भारतीय लोकदल) को जनता पार्टी की तुलना में 10 स्थान अधिक प्राप्त हुए।

1996 में सम्पन्न 11वीं लोकसभा के चुनावों में विभिन्न दलों को प्राप्त मतों के प्रतिशत और उन्हें प्राप्त स्थानों से भी यह बात नितांत स्पष्ट है :

राजनीतिक दल	प्राप्त मत प्रतिशत	लोकसभा में प्राप्त स्थान
कांग्रेस	28.8	140
जनता पार्टी	8.1	46
भारतीय जनता पार्टी	20.3	161
साम्यवादी पार्टी	2.0	12
मार्क्सवादी दल	6.1	32

लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति को न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः निर्वाचन प्रणाली की इस असंगति को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव दिया जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। कुछ वर्ष पूर्व जनसंघ ने इस समस्या का अध्ययन करने में लिए एक समिति नियुक्त की थी, उस समिति ने सुझाव दिया कि देश में चुनावों के लिए **आनुपातिक प्रतिनिधित्व** की **'सूची प्रणाली'** (List System) को अपनाया जाना चाहिए, जिससे प्रत्येक राजनीतिक दल को उसे प्राप्त जन समर्थन के आधार पर विधानमण्डल में स्थान प्राप्त हो सके। जनसंघ से पूर्व भारतीय साम्यवादी दल के द्वारा भी इसी प्रकार का सुझाव दिया गया था।

परन्तु उपर्युक्त सुझाव को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयां हैं। सूची प्रणाली या आनुपातिक प्रतिनिधित्व का अन्य कोई रूप एक जटिल पद्धति है और भारतीय मतदाता इसका उचित रूप में प्रयोग कर सकें, इसमें निश्चित रूप से सन्देह है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में भी चुनाव आयोग के पास कुल मिलाकर 250 से अधिक राजनीतिक दलों का पंजीकरण हो चुका है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के किसी भी रूप को अपनाने पर छोटे-छोटे राजनीतिक दलों में और अधिक वृद्धि होगी, जिसका परिणाम राजनीतिक अस्थिरता हो सकता है।

वस्तुतः उपर्युक्त त्रुटि का उपचार चुनाव प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं वरन् राजनीतिक दलों की सुसंगत व्यवस्था को अपनाकर **'राजनीतिक ध्रुवीकरण'** (Political Polarisation) की अर्थात् विचारधारा पर आधारित दो प्रमुख राजनीतिक दलों के अस्तित्व की दिशा में आगे बढ़ना है। वर्तमान समय में चुनाव आयोग राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर उन दलो को मान्यता देता है, जिन्हें मतों का एक निश्चित प्रतिशत प्राप्त होता है, किन्तु मान्यता न प्राप्त होने वाले राजनीतिक दलों के चुनाव लड़ने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और इस कारण मान्यता प्राप्त होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। व्यवहार में प्रत्येक चुनाव के बाद राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ती जा रही है। **डॉ. जे. डी. सेठी** लिखते है, ''भारत में जिन सुधारो की आवश्यकता है वे ये हैं कि निर्वाचन विधि तुरन्त ही यह उपबन्धित करे कि प्रत्येक उम्मीदवार के लिए दलीय उम्मीदवार होना आवश्यक हो और सम्बन्धित दल का पंजीकरण आम चुनाव के कम से कम एक वर्ष पूर्व कराया जाए। यदि किसी दल को कुल दिए गए मतों का एक न्यूनतम

निर्धारित प्रतिशत—कह लीजिए लोकसभा मे तीन प्रतिशत और राज्य विधान सभा में पांच प्रतिशत—प्राप्त नही हो, तो उस दल के प्रतिनिधित्व का अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए।" यह कदम छोटे दलों को उनसे मिलते-जुलते बड़े दलों में मिलने के लिए प्रेरित करेगा और इससे राजनीतिक दलों की संख्या को कम करने मे मदद मिलेगी।

2. **चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका (The Increasing Role of Money in the Elections)**—चुनावों मे एक अत्यधिक गम्भीर दोष चुनावों में धन की वढ़ती हुई भूमिका के रूप में सामने आया है। हमारे कानून निर्माता इस दोष के प्रति सचेत थे और इसी कारण उनके द्वारा चुनाव में उम्मीदवार द्वारा किए जाने वाले व्यय की सीमा निश्चित की गयी है। 1979 के मध्य तक अधिकांश राज्यो में लोकसभा चुनाव में खर्च किए जाने वाले व्यय की सीमा 35 हजार रुपए थी। वास्तविक व्यय को देखते हुए व्यय सीमा नितान्त अवास्तविक थी। व्यय की इस सीमा को बढ़ाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, अत: 31 दिसम्बर 1997 को एक अधिसूचना जारी करके प्रत्याशियों द्वारा किए जाने वाले चुनाव व्यय की सीमा में वृद्धि कर दी गई है। अव वड़े लोकसभा क्षेत्र मे प्रत्याशी द्वारा अधिकतम 4.5 लाख रुपए के स्थान पर 15 लाख रुपए तक तथा विधानसभा क्षेत्रों में अधिकतम 1.5 लाख रुपए के स्थान पर 6 लाख रुपए तक व्यय किए जा सकते है। प्रत्याशियों द्वारा किए जा सकने वाले चुनाव व्यय की अधिकतम सीमा में इससे पूर्व अक्टूबर 1994 में संशोधन किया गया था।

कानून में यह सीमा विद्यमान है, लेकिन व्यावहारिक रूप में राज्यों में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। वास्तविक रूप मे चुनावो के अन्तर्गत खर्च किए जाने वाले धन की मात्रा के सम्बन्ध में तत्कालीन संसद सदस्य **कृष्णकान्त** लिखते है, "लोकसभा सदस्य को अपने चुनाव में ईमानदारी के साथ 3 या 4 लाख रुपया खर्च करना पड़ता है। औसतन 65 करोड़ रुपया लोकसभा के चुनावो पर खर्च होता है और लगभग 135 करोड़ रुपया विधानसभा चुनावों पर।"[1] श्री कृष्ण कान्त द्वारा यह वात 1974 में कही गयी थी, आज 1998-99 में तो उस समय की तुलना में चुनाव व्यय निश्चित रूप से बहुत अधिक वढ़ गया है। चुनाव कार्य से परिचित व्यक्ति वतलाते हैं कि अव तो लोकसभा चुनाव मे औसतन 70-80 लाख रुपया खर्च करना होता है और इसके अन्तर्गत भ्रष्ट उपायो के रूप मे खर्च की जाने वाली राशि सम्मिलित नहीं है। सार्वजनिक जीवन मे दखल रखने वाले विश्वसनीय सूत्र बतलाते हैं कि कुछ उदाहरणों में लोकसभा उम्मीदवार ने अपने चुनाव अभियान में 2 से 10 करोड़ रुपए या इससे भी अधिक और कुछ उदाहरणो में विधानसभा उम्मीदवार द्वारा अपने चुनाव अभियान में एक करोड़ रुपए या उससे अधिक धनराशि खर्च की गयी। यह स्थिति आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र दोनों में ही अनेक दोषो को जन्म देकर समस्त व्यवस्था को विकृत करने वाली है। 5 अक्टूबर, 1974 को संसद सदस्य अमरनाथ चावला का चुनाव अवैध घोषित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने भी चुनावों मे धन की वढ़ती हुई शक्ति के प्रति सचेत किया है। चुनाव मे धन की निरन्तर वढ़ती हुई इस भूमिका के कारण ही काला धन और भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एक-दूसरे के साथ जुड़ गए है। वस्तुतः चुनावो में धन की शक्ति को नियन्त्रित करना बहुत अधिक आवश्यक हो गया है और इस सम्बन्ध में अग्रलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1 Krishna Kant, *Legitimate Politics*, I, II and III, Dec. 26, 27 and 28, 1984

(i) राजनीतिक दलों के व्यय को उम्मीदवार के चुनाव खर्च में शामिल करना—'अमरनाथ चावला विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के वाद 19 अक्टूबर, 1974 को राष्ट्रपति द्वारा इस आशय का अध्यादेश जारी किया गया कि चुनाव में उम्मीदवार के राजनीतिक दल द्वारा किए जाने वाले खर्च को उम्मीदवार द्वारा किए गए खर्च में सम्मिलित नही समझा जाएगा।

इस अध्यादेश के कारण वर्तमान में स्थिति यह है कि यदि किसी व्यक्ति को सत्तारूढ़ होने की सम्भावना रखने वाले राजनीतिक दल के उम्मीदवार की स्थिति प्राप्त हो जाए, तो उसे प्राप्त साधनों और परिणामतया उसके चुनाव व्यय की व्यवहार में कोई सीमा ही नही रहती। वह चुनाव लड़ने के लिए अपने राजनीतिक दल से नगद राशि नही वरन् जीप गाड़ियां और अन्य वाहन, झण्डे, वड़ी संख्या में छोटे-वड़े पोस्टर, वीडियो टेप और प्रचार साहित्य सभी कुछ प्राप्त कर लेता है और वह जितना भी खर्च करे, सबका सब कानूनी और जायज होता है क्योंकि राजनीतिक दल द्वारा खर्च की जाने वाली राशि को उम्मीदवार के खर्च में शामिल नहीं समझा जाता। 19 अक्टूवर, 1974 को जारी किए गए अध्यादेश के कारण चुनाव व्यय के सम्वन्ध में सीमा निर्धारण का कोई महत्व नहीं रह गया है।

चुनाव में धन की शक्ति के इस्तेमाल और प्रभाव से चिन्तित चुनाव आयोग ने सितम्वर 1982 में ही सरकार से अनुरोध किया था कि हमें 19 अक्टूबर, 1974 से पूर्व स्थिति को पुनः अपनाना चाहिए, जिसमें राजनीतिक दल द्वारा खर्च किए जाने वाले धन को उम्मीदवार के चुनाव व्यय में सम्मिलित करने की व्यवस्था है। अतः 19 अक्टूबर, 1974 का अध्यादेश वापस लिया जाना चाहिए, सभी राजनीतिक दलों से अलग-अलग उम्मीदवारों के लिए खर्च की गयी धनराशि का हिसाव पूछा जाना चाहिए और स्वयं उम्मीदवार, उसके राजनीतिक दल, उसके मित्र, सम्वन्धी और शुभचिन्तक सभी द्वारा चुनाव प्रसंग मे खर्च की गयी धनराशि को उम्मीदवार के चुनाव खर्च में सम्मिलित किया जाना चाहिए। चुनाव में धन की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए अन्य भी कुछ कदम उठाने होंगे, लेकिन इस स्थिति को प्रथम कदम के रूप में अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है।

(ii) राजनीतिक दलों के आय-व्यय विवरण की विधिवत् जांच—वर्तमान समय में भ्रष्ट राजनीति और काले धन के वीच एक गठवन्धन स्थापित हो गया है। इसे तोड़ा जाना नितान्त आवश्यक है। अतः राजनीतिक दलों के लिए आय-व्यय का समस्त विवरण रखा जाना अनिवार्य होना चाहिए और प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए प्रतिवर्ष मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा निश्चित किए गए लेखा परीक्षक (Auditor) द्वारा जांचशुदा हिसाब प्रकाशित करना अनिवार्य होना चाहिए, जिसमें आय के स्रोत और व्यय के मद पूरे विवरण सहित वतलाए जाएं। राजनीतिक दल द्वारा इस सम्वन्ध में वरती गयी किसी भी अनियमितता या लापरवाही पर चुनाव आयोग द्वारा कड़ा दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए और विशेष स्थिति में आयोग को अधिकार होना चाहिए कि वह सम्वन्धित राजनीतिक दल की मान्यता समाप्त कर सके। इससे राजनीतिक दलों को प्राप्त होने वाले गुप्त अनुदानो और विदेशी सहायता पर रोक लगायी जा सकेगी।

(iii) चुनाव प्रचार की अवधि में कमी करना—वर्तमान समय में नाम वापस लेने की तिथि और चुनाव की तिथि मे कम-से-कम 20 दिन का अन्तर होना आवश्यक है। अव यह अवधि 15 या 10 दिन कर दी जानी चाहिए, इससे भी चुनाव खर्च में कमी होगी।

(iv) संसद और राज्य विधानसभाओं के लिए एक साथ चुनाव की व्यवस्था—1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ होते थे, लेकिन 1971 ई. में यह स्थिति समाप्त हो गयी थी और अब तक भी पुनः यह स्थिति नहीं बन पायी है। यदि लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ हों तो राज्य द्वारा चुनाव व्यवस्था में किया जाने वाला खर्च और विविध राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों द्वारा किए जाने वाले खर्च, दोनों में ही बहुत कमी हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग होने पर सदैव ही चुनाव का वातावरण बना रहता है और यह स्थिति राज्य व्यवस्था के लिए अत्यधिक अहितकर है।

1971 ई. में लोकसभा चुनाव से राज्य विधानसभा चुनावों को अलग करते समय यह तर्क दिया गया था कि लोकसभा चुनाव राष्ट्रीय प्रश्नों पर और विधानसभा चुनाव स्थानीय तथा राज्यस्तरीय प्रश्नों के आधार पर लड़े जाते हैं। इस तर्क में सत्यता है, लेकिन बहुत अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय मतदाता पर्याप्त जागरूक हो गया है। मतदाता की जागरूकता का प्रमाण यह है कि वे आठवीं लोकसभा के चुनाव में कर्नाटक राज्य में 28 में से 24 स्थान इंका को देता है, लेकिन दो मही

एक-तिहाई स्थान भी नहीं (224

ही यह आशा की जा सकती है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ होने पर भी वे अपने दोनो मतों को अलग-अलग इकाई समझते हुए उनके सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टिकोण से विवेकपूर्ण विचार कर निर्णय कर लेंगे।

(v) चुनाव अवधि में सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक—चुनाव की अवधि (विधानसभा या लोकसभा भंग करने के दिन से लेकर चुनाव के दिन तक) में दलों या उम्मीदवारों द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक लगा दी जानी चाहिए।

(vi) चुनाव खर्च या भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य द्वारा वहन करना—इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख सुझाव यह दिया जा रहा है कि चुनाव खर्च का भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य के द्वारा वहन किया जाना चाहिए। कांग्रेस दल द्वारा नियुक्त की गयी संसदीय समिति ने भी सुझाव दिया है कि राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों द्वारा किए गए वैध चुनाव खर्चों का बोझ धीरे-धीरे राज्य द्वारा अपने ऊपर ले लिया जाना चाहिए।

वर्तमान समय में विश्व के कुछ देशों मे राज्य द्वारा चुनाव खर्च का भार वहन किए जाने की व्यवस्था है। स्वीडन में सभी राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को उनकी पिछली सफलता के

स्वयं वहन करता है। ब्रिटेन और 9 अन्य देशों मे भी राजकोष से राजनीतिक सहायता दिए जाने की व्यवस्था है।

भारतीय परिस्थितियों में राज्य द्वारा खर्च का समस्त भार अपने ऊपर लेना अव्यावहारिक हो सकता है, लेकिन रजनी कोठारी के सुझाव को स्वीकार किया जा सकता है कि **"शासन के द्वारा दलों के शामियाने, दरी, जीप, पोस्टर छपवाने के लिए निर्धारित धनराशि आदि मूल सुविधाएं दी जानी चाहिए, जिससे चुनाव समान शक्तियों के बीच एक खेल बन सके और चुनावों**

में धन की भूमिका को कम किया जा सके।"[1] शासन के द्वारा सभी दलों के लिए चुनाव सभाओं की व्यवस्था करने और मतदाताओं में परची (slips) बांटने का कार्य और उन्हें चुनाव स्थल तक पहुंचाने का कार्य भी अपने हाथ में लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जा सकती है कि मतदाताओं के एक निश्चित प्रतिशत मत प्राप्त करने या अन्य कुछ शर्तों को पूरा करने वाले राजनीतिक दलों को ही शासन से यह सहायता प्राप्त होगी। 'चुनाव व्यय का भार आंशिक रूप से राज्य द्वारा वहन किया जाए', 1980 तथा 1984 में सम्पन्न आठवीं लोकसभा के चुनावों में भी इस बात को कुछ राजनीतिक दलों द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र में स्थान दिया गया था।

चुनाव में धन की बढ़ती हुई शक्ति की समस्या के दो पहलू हैं। प्रथम, चुनाव में प्रयोग किए जाने वाले धन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि और द्वितीय, चुनावों में काले धन का प्रयोग। इनमें दूसरी स्थिति को नियन्त्रित करने का प्रयत्न मार्च 1985 में किया गया है।

अब संयुक्त पूंजी कम्पनियों द्वारा राजनीतिक दलों को दिए जाने वाले दान पर प्रतिबन्ध हटा दिया गया है। यह प्रतिबन्ध 1969 ई. में लगाया गया था और इस प्रतिबन्ध का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक दल काला धन प्राप्त करने पर बाध्य हो गए। मार्च 1985 में की गयी इस व्यवस्था से राजनीति में काले धन की भूमिका पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाएगी, लेकिन इसे स्वच्छ राजनीति की दिशा में एक प्रयास अवश्य ही कहा जा सकता है। एक प्रमुख समाचार-पत्र के सम्पादकीय में इसे काले धन के उदय की जड़ों और समाज में भ्रष्टाचार पर प्रहार करने वाला कदम बतलाया है।[2]

अन्य कुछ उपायों को अपनाकर चुनाव में धन के प्रभाव को कुछ कम किया जा सकता है, लेकिन वस्तुतः यह समस्या कानूनी नहीं वरन् व्यावहारिक राजनीति से सम्बन्धित है और चुनावों में धन की भूमिका को कम करने का सबसे कारगर उपाय मतदाताओं द्वारा राजनीतिक जागरूकता की स्थिति को प्राप्त करना है।

दूरदर्शी राजनीतिज्ञ राजाजी ने छठे दशक में एक पुस्तिका लिखी थी '*Rescue Democracy from Money Power*'। आज इस बात की प्रासंगिकता और महत्व निश्चित रूप से बहुत अधिक बढ़ गया है। लोकतन्त्र को धनिकतन्त्र में परिणत होने से रोकने के लिए चुनावों और समस्त राजनीति में धन की शक्ति को कम किया जाना बहुत अधिक आवश्यक है।

3. **चुनाव में बाहुबल (Muscle power) और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा और जाली मतदान**—यह चुनावों की एक अत्यधिक गम्भीर त्रुटि और समस्या है और इसे सीमित करने के विविध उपाय किए जाने पर भी समय के साथ यह बढ़ती चली जा रही है। चुनाव में बाहुबल और हिंसा के प्रयोग की सबसे अधिक प्रवृत्ति तो बिहार राज्य में है। इसके बाद उत्तर प्रदेश, हरियाणा, प. बंगाल, जम्मू-कश्मीर तथा विविध महानगरों का झोपड़पट्टी क्षेत्र आता है। हिंसा के प्रयोग से ही जुड़ी हुई एक अन्य स्थिति चुनाव में शराब की शक्ति का प्रयोग है। 1984 के लोकसभा और 1985 के विधानसभा चुनावों में 'विशेष सुरक्षा व्यवस्था' और सभी एहतियाती उपाय किए जाने के बावजूद चुनाव में हिंसा के प्रयोग और

1 *Times of India*, Nov. 7, 1974.

2 "It is arguably the most important single factor designed to strike at the roots of black money generation and corruption in our society."
—*The Times of India*, 19 March, 1985, Editorial

चुनाव के दिन 'मतदान केन्द्रों पर कब्जा' किए जाने की घटनाएं पहले से कम नहीं हुईं। "अकेले विहार राज्य में 2 और 5 मार्च, 1985 के मतदान के दिन 50 से अधिक व्यक्ति हिंसा की वलिवेदी पर चढ़ गए, घायलों की संख्या तो इससे वहुत अधिक थी—विहार के 34,472 मतदान केन्द्रो पर अर्द्धसैनिक वल का पहरा था, लेकिन आम नागरिक इससे भी अपने आपको सुरक्षित नही पाता था, लेकिन इन पहरेदारो की आंखों के सामने ही बन्दूकधारी मतदान केन्द्रों पर कब्जा करते रहे, मतों पर मोहर लगाते रहे और लोगो से मारपीट करते रहे।"[1] 1969 में विहार मे 80 वूथ लूटे गए थे जवकि 1990 के विधानसभा चुनावों में यह आंकड़ा 1231 पर जा पहुंचा। ऐसी स्थिति मे शान्ति पसन्द विवेकशील व्यक्ति, जिनके मत का सवसे अधिक महत्व है, अपने मताधिकार के प्रयोग से घवराते और कतराते हैं। यह तथ्य है कि विहार मे बन्दूक और माफिया गिरोह के वलवूते पर चुनाव लड़े जाते है और जीते जाते है और विहार पुलिस इसे रोकने का प्रयत्न करने के वजाय इसमें योग देती है। उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रों और अन्य कुछ राज्यो के विभिन्न क्षेत्रों में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। 1990 के आम चुनाव में राज्य में 26 हत्याएं, 22 हत्या की कोशिशें और 38 लूटपाट की घटनाएं हुई जिससे 695 मतदान केन्द्रों पर फिर से चुनाव करवाना पड़ा। 'चिन्ताजनक वात यह देखने में आयी है कि चुनावी हिंसा का दानव आम तौर पर शान्त समझे जाने वाले दक्षिण में फैल गया। आन्ध्र में चुनावी हिंसा ने तीन जानें ले लीं और कई लोगों को घायल किया। कर्नाटक में भी कुछ व्यक्ति घायल हुए।"[2] मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा हिंसा की रोकथाम के लिए सभी प्रयत्न किए जाने के वावजूद जव यह सव कुछ हुआ, तो 5 मार्च, 1985 को मतदान की समाप्ति पर उन्होने खीझकर कहा—"जव तक राजनीतिक दल हिंसा के खिलाफ एक होकर जनमत जागृत नहीं करते, चुनाव आयोग तथा प्रशासन वौना और पंगु वना रहेगा—समस्या का समाधान चुनाव आयोग को अधिक अधिकार देने से नही वरन् स्थानीय **स्तर पर राजनीतिज्ञों और अवांछित तत्वों मे सांठ-गांठ समाप्त करने से होगा।**"[3] मई-जून 1991 के लोकसभा चुनावों के समय चुनावी हिंसा में 350 लोग मारे गए और लगभग 3,300 चुनावी हिंसा की घटनाएं हुईं। इसकी तुलना में फरवरी 1998 में सम्पन्न 12वीं लोकसभा चुनावों में 65 लोग मारे गए और 2,450 चुनावी हिंसा की घटनाएं हुईं। चुनाव मे वाहुवल और हिंसा का प्रयोग 'धन की वढ़ती हुई भूमिका' की तुलना में भी अधिक चिन्ताजनक स्थिति है और इस स्थिति की रोकथाम के लिए सभी सम्भव कदम उठाए जाने चाहिए। इस सम्वन्ध में कुछ सुझाव प्रमुख रूप से दिए जा सकते हैं—

प्रथम, जिन निर्वाचन क्षेत्रों में हिंसा और वल प्रयोग की आशंका हो, वहां स्थानीय पुलिस को समस्त निर्वाचन क्षेत्र से पूर्णतया दूर रखते हुए अन्य राज्यों की पुलिस और अर्द्ध-सैनिक वल पर्याप्त सख्या मे तैनात किया जाना चाहिए और उसे स्थिति से निवटने के लिए सभी आवश्यक अधिकार दिए जाने चाहिए। **द्वितीय**, एहतियात के तौर पर दो दिन के लिए समस्त निर्वाचन क्षेत्र में आग्नेय अस्त्रों एवं अन्य हथियारों के लाने-ले-जाने पर प्रतिवन्ध न केवल लगाया, वरन् कड़ाई के साथ लागू किया जाना चाहिए। **तृतीय**, मतदान के दिन से

1 दिनमान, 10-16 मार्च, 1985, पृ. 99।

2 वही।

दो दिन पहले से शराब की विक्री पर पूर्ण प्रतिवन्ध लगा दिया जाना चाहिए। चतुर्थ, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि हिंसा, वाहुवल की शक्ति, भ्रष्ट साधन अपनाए जाने के आधार पर चुनाव याचिकाएं उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जाएं, सम्वन्धित अदालतों के लिए 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष की अवधि में उन पर निर्णय करना अनिवार्य कर दिया जाए। प्रत्यक्ष या परोक्ष में दोषी पाए गए व्यक्तियों पर सदैव के लिए कोई भी चुनाव लड़ने पर प्रतिवन्ध लगा दिया जाए और जिस किसी सरकारी कर्मचारी पर अपराधी के साथ सहयोग करने पर कर्तव्य पालन मे ढिलाई वरतने का आरोप सिद्ध हो, उसके विरुद्ध तत्काल कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए। उपर्युक्त व्यवस्था करने के लिए कानूनी ढांचे में जो भी संशोधन परिवर्तन करना जरूरी हो, वह सभी कुछ किया जाना चाहिए।

चुनाव में वल प्रयोग की सभी स्थितियों का मूल कारण यह है कि तथाकथित जन प्रतिनिधि, प्रशासन और गुण्डा तत्व के वीच गठवन्धन की स्थिति वन गयी है। अनेक तो ऐसी स्थितियां देखी गयी हैं, जिनमें तस्कर, माफिया और गुण्डा तत्व मन्त्री या जन प्रतिनिधि से आश्रय पाता है और प्रशासन पर हावी है। 'सेवाओ और प्रशासन का राजनीतिकरण' इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है[1] और इसे दूर करने के लिए समस्त व्यवस्था में परिवर्तन जरूरी है।

जाली मतदान—वल प्रयोग और मतदान केन्द्रों पर कब्जे से ही जुड़ी हुई एक स्थिति जाली मतदान है और 'यह चुनाव (आठवीं लोकसभा का चुनाव) जाली मतदान में तो शायद पिछले सभी रिकार्ड तोड़ गया।'[2] इस वात में सच्चाई है और लोकतन्त्र के लिए चिन्ता की बात यह है कि जाली मतदान व्यापक रूप से संगठित स्तर पर होता है।

इस स्थिति को रोकने के लिए मतदाताओं को **'फोटोग्राफी से युक्त जान-पहचान पत्र'** (Identification Card) दिए जाने चाहिए। इसके साथ ही जाली मतदान को भ्रष्ट आचरण घोषित कर दिया जाना चाहिए, जिसके आधार पर निर्वाचन अवैध घोषित किया जा सके। निर्वाचन कानून में ऐसा संशोधन करना भी जरूरी है जिसके फलस्वरूप पीठासीन अधिकारी के लिए जाली मतदान में संलग्न व्यक्ति को पुलिस को सौंपना और थाने में आवश्यक शिकायत दर्ज कराना अनिवार्य हो जाए।

4. **निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या**—अव तक के सभी चुनावों में एक समस्या निर्दलीय उम्मीदवारों की एक वड़ी संख्या ने पैदा की है। यह वड़ी संख्या चुनाव व्यवस्था करने में कठिनाइयां पैदा करती है और समस्त चुनाव दृश्य धुंधला भी कर देती है। अधिकांश निर्दलीय उम्मीदवार तो मखौल के रूप में चुनाव लड़ते हैं या कई वार वे प्रमुख उम्मीदवारों से चुनाव मैदान से हटने के लिए धनराशि प्राप्त करने की आशा में उम्मीदवार वन जाते हैं।

यद्यपि कुछ क्षेत्रों की ओर से प्रेषित इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि निर्दलीय रूप से चुनाव लड़ने पर कानूनी रोक लगा दी जानी चाहिए, लेकिन ऐसा कुछ अवश्य किया जाना चाहिए, जिससे 'मखौल' के रूप में चुनाव लड़ने पर रोक लगे। इस सम्वन्ध में यह सुझाव विचारणीय है कि जमानत की रकम कम से कम दस गुना वढ़ा दी जानी चाहिए अर्थात् लोकसभा के लिए 500 रुपए से वढ़ाकर 5 हजार रुपए और विधानसभा के लिए

1 B Krishna, Salvaging the Services—Politicisation Must End, *The Times of India*, 15 March, 1985, p. 8.

2 दिनमान, 30 दिसम्वर, 1984-5 जनवरी, 1985, पृ. 25।

250 रुपए से बढ़ाकर 2,500 रुपए कर दी जानी चाहिए। जमानत की राशि में इससे भी अधिक वृद्धि की जा सकती है।

5 **मतदाताओं की अनुपस्थिति (Absence of the Voters)**—मतदाताओं की अनुपस्थिति हमारे निर्वाचनों की आम विशेषता बन गयी है। वस्तुतः भारत में अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत भी बहुत ज्यादा है। चुनावों में अधिकांश मतदाता रुचि नहीं लेते और मतदान केन्द्रों पर पहुंचने की तकलीफ भी नहीं करते। मतदान न करने का अर्थ है मतदान के अधिकार का उपयोग न करना और लोकतन्त्रीय व्यवस्था को धोखा देना। अक्सर देखने में आता है कि मतदान के समय मुश्किल से 60 प्रतिशत मतदाता ही अपने मत का उपयोग करते हैं। मान लीजिए एक स्थान के लिए पांच उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे है और पाचो ही अपने प्रभाव के अनुसार साम, दाम, दण्ड, भेद के सभी साधन अपनाएं, तो मतदाता इतने रूपों मे बिखर जाऐंगे कि 16 या 17 प्रतिशत मत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार भी जीत जाएगा। ऐसी दशा में विजयी उम्मीदवार क्या सारी जनता का प्रतिनिधि समझा जा सकता है? सन् 1971 में हुए लोकसभा चुनावो का विश्लेषण किया जा सकता है। इन चुनावों मे केवल 55.22 प्रतिशत मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया था अर्थात् 44.78 [illegible]

का भी 43 प्रतिशत ही हो, परन्तु उसके सदस्यों को सदन में दो-तिहाई से अधिक स्थान मिल जाएं तो उसकी सरकार को निर्वाचित सरकार तो जरूर कहा जाएगा, लेकिन उसे सचमुच में प्रतिनिध्यात्मक सरकार कैसे कहा जा सकता है?

फिर अधिकतर मतदाताओं की अनुपस्थिति से चुनाव-सम्बन्धी भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा मिलता है और प्रायः जाली मतदान भी होता देखा गया है।

मतदान के प्रति उदासीनता और राजनीति के प्रति वितृष्णा की भावना का उन्मूलन करने के लिए चुनावों में मतदान को अनिवार्य करने का सुझाव दिया जाता है। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त एस. पी. सेन वर्मा ने 1968 मे कहा था कि चुनावों के प्रति मतदाताओं की यह उदासीनता चुनावों को मजाक बना देती है। अतः भारतीय संसद को अनिवार्य मतदान का नियम बना देना चाहिए और जो मतदाता चुनावों में भाग न लें उन पर कुछ दण्ड लगाया जाए, जो 50 रुपए से अधिक न हो। यदि मत न देने के कारण मतदाता को न्यायालय के सामने उपस्थित होना व जुर्माना देना पड़ेगा तो वह उदासीनता दिखाने के पहले कई बार सोचेगा। विश्व के अनेक देशों में जैसे बेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, क्यूबा, आस्ट्रिया आदि देशों में अनिवार्य मतदान की पद्धति है। इन देशों मे मतदान में भाग न लेने पर जुर्माना किया जाता है। इसे 'मनी फाइन प्लान' (Money Fine Plan) कहते हैं। इससे मतदान का प्रतिशत निश्चित ही बढ़ेगा।

6. **शासक दल द्वारा प्रशासनिक तन्त्र का दुरुपयोग (Misuse of Administrative Machinery by Party in Power)**—भारतीय चुनाव व्यवस्था की एक गम्भीर त्रुटि शासक दल और मन्त्रियों द्वारा 'दलीय लाभों के लिए प्रशासनिक तन्त्र के दुरुपयोग' के रूप में सामने आयी है। जैसे ही चुनाव की घोषणा होती है, केन्द्रीय और राज्य सरकार का ध्यान विविध

संगठित वर्गों को अनेकानेक रियायत और सुविधाएं देने की ओर चला जाता है। चुनाव के अवसर पर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक विकास योजनाओं की घोषणा करते हैं (जिनमें से अधिकांश कभी भी क्रियान्वित नहीं होती) अनेक कारखानों, स्कूलों, कालेजों, अस्पतालों और पुलों के शिलान्यास किए जाते हैं। सरकारी कर्मचारियों के वेतन-भत्ते आदि में वृद्धि की जाती है, कर्ज दिए जाते हैं, लगान माफ किए जाते हैं और सरकारी भवनों तथा सरकारी वाहनों आदि का दुरुपयोग किया जाता है। यह सब कुछ कितनी अधिक सीमा तक होता है इसका उदाहरण यह है कि मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव के पूर्व उत्तरी और पूर्वी क्षेत्र के 6 राज्यों (हरियाणा, पंजाब, बिहार, राजस्थान, प. बंगाल और उड़ीसा) द्वारा मतदाताओं को 90 करोड़ की रियायते दी गयीं और अकेली उत्तर प्रदेश सरकार के द्वारा 103 करोड़ से अधिक की रियायतें मतदाताओं को दी गयी। नवम्बर, 1989 के लोकसभा चुनावों के दौरान राजीव गांधी द्वारा 50 अरब रुपए की इन्दिरा महिला योजना की घोषणा राजनीतिक दलों के लिए बनी आचार संहिता का सरासर उल्लंघन था। यह सब कुछ राजनीतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए कानूनी तौर पर ऐसी व्यवस्था कर दी जानी चाहिए कि चुनाव की घोषणा होने के दिन से लेकर नवीन सरकार बनने के समय तक केन्द्रीय और राज्य सरकारें केवल **'काम चलाऊ सरकारों'** (care taker Govts.) के रूप में कार्य करें। उन्हें नीति सम्बन्धी कोई घोषणा करने, किन्हीं वर्गों को अतिरिक्त रियायते देने या सरकारी कर्मचारियों के वेतन-भत्ते आदि में वृद्धि की घोषणा करने का कोई अधिकार नहीं हो।

7. **निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबाव** (Political Pressure on Election Officers)—निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक व अन्य दबाव और इसके फलस्वरूप उनके द्वारा भ्रष्टाचार को अपनाए जाने के भी कुछ उदाहरण सामने आए हैं। भूतपूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त सेन वर्मा ने स्वीकार किया था कि **"राजनीतिक दबाव में आकर मतदाता सूचियों में गड़बड़ी की गयी, मन्त्रियों तक ने चुनाव में हस्तक्षेप किया, संसद सदस्यों तक के नाम मतदाता सूची मे से निकाल दिए गए ताकि वे चुनाव न लड़ सकें और प्रतिपक्षी उम्मीदवारों के नामांकन पत्र भारी संख्या में रद्द कर दिए। चुनाव के पहले और चुनाव के बाद निर्वाचन अधिकारियों को तंग करने की शिकायतें भी कम नहीं हैं।"** उन्होंने इस सन्दर्भ में सत्तारूढ़ राजनीतिक नेताओं से अपील की थी कि निष्पक्ष निर्वाचनों के हित में वे निर्वाचनों के दौरान निर्वाचन अधिकारियों पर कोई भी अनुचित दबाव न डालें। वस्तुतः इस सम्बन्ध में रोकथाम की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है।

8. **निर्वाचन याचिकाओं पर निर्णय में अत्यधिक विलम्ब** (Unusual Delay in Decisions over Election Petitions)—निर्वाचन याचिका में बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादों का शीघ्र निपटारा नहीं हो पाता है। यह चिन्तनीय है कि जब एक याचिका का निर्णय होता है, तब तक तो लोकसभा और विधानसभा का कार्यकाल समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति अपने पद पर बना रहता है।

निर्वाचन याचिकाओं पर शीघ्रता के साथ निर्णय की स्थिति को अपनाना बहुत अधिक आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कानून बनाकर 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष में निर्वाचन याचिका पर निर्णय अनिवार्य किया जा सकता है। जब भ्रष्ट साधनों को अपनाकर विजयी

बने सदस्यों का निर्वाचन चुनाव के शीघ्र बाद ही अवैध घोषित होते हुए देखा जाएगा, तब चुनावों में भ्रष्ट साधन अपनाने पर भी कुछ रोक लगाने की आशा की जा सकती है।

वर्तमान समय में चुनाव आयोग 'चुनाव धांधलियों' को रोक पाने में अपने आपको असहाय पाता है और इस सन्दर्भ में भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त श्री आर. के. त्रिवेदी ने कहा है—"यदि चुनाव आयोग के तहत एक निष्पक्ष अभिकरण के गठन तथा मुख्य चुनाव आयुक्तों को किसी चुनाव परिणाम की घोषणा होने के बाद उसे रद्द करने का अधिकार मिले, तो चुनाव में होने वाली धांधलियों पर रोक लगायी जा सकेगी।"

हाल ही में किए गए प्रमुख चुनाव सुधार

हाल ही में किए गए प्रमुख चुनाव सुधार निम्नांकित हैं—

1. 61वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 326 में संशोधन कर मतदान की आयु 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष कर दी गई है।
2. राज्य सभा और विधान परिषद के चुनावों के लिए नामांकन पत्रों में प्रस्तावक के रूप में हस्ताक्षर करने वालों की संख्या बढ़ा दी गई है। अब प्रस्तावकों की संख्या चुनाव क्षेत्र के कुछ निर्वाचकों का 10 प्रतिशत या इस तरह के 10 निर्वाचकों में से जो कम होगी, निर्धारित की गई है।
3. जन प्रतिनिधित्व कानून 1951 में संशोधन किया गया है ताकि मतदान में इलैक्ट्रानिक मतदान मशीनों का इस्तेमाल किया जा सके।
4. देश भर में मतदाताओं को फोटो पहचान पत्र जारी करने का काम चल रहा है।
5. निर्दलीय उम्मीदवारों की बढ़ती संख्या और चुनावों में बढ़ती हिंसा को ध्यान में रखते हुए यह प्रावधान किया गया है कि निर्दलीय उम्मीदवार की मृत्यु हो जाने पर चुनाव स्थगित नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष—भारत में होने वाले पिछले सभी चुनाव शान्तिपूर्ण और निष्पक्ष हुए। यही इस

अंग समझा जाता है।

प्रश्न

1. भारत के निर्वाचन आयोग के संगठन, शक्तियों एवं कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (अजमेर, 1995)
2. चुनाव आयोग के गठन को बताइए। वर्तमान में हुए चुनाव सुधारों का विवरण दीजिए। (राजस्थान, 1992)
3. निर्वाचन आयोग पर एक टिप्पणी लिखिए। (राजस्थान, 1996; अजमेर, 1997)
4. भारत में निर्वाचन आयोग के संगठन एवं कार्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (अजमेर, 1998)

16

संघ लोक सेवा आयोग : संगठन एवं कार्य

[UNION PUBLIC SERVICE COMMISSION : ORGANIZATION AND FUNCTIONS]

भारत में कार्मिक वर्ग के प्रशासन के क्षेत्र में संघ लोक सेवा आयोग का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत में लोक सेवा आयोग को लोकतन्त्र का एक आधार (Bulwork of Democracy) माना जाता है। सेवा विषयों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार रखने के कारण यह कार्यपालिका को राजनीति व प्रशासन तन्त्र के मध्य आवश्यक सन्तुलन स्थापित करने में सहायता देता है। संघ लोक सेवा आयोग यद्यपि एक परामर्शदात्री संस्था है तथापि इसकी सिफारिशें प्रायः ठुकरायी नहीं जातीं।

लोक सेवा आयोग की आवश्यकता (The Need of Public Service Commission)

भारत में संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगों को लोकतन्त्र का संरक्षक माना जाता है। ये आयोग लोक सेवाओं में योग्यता को एकमात्र मापदण्ड स्वीकार कर लोकतन्त्र के अर्थ एवं उसके व्यवहार को घोषित करते हैं। ये प्रशासन को निष्पक्ष उपकरण प्रदान कर उसे राजनीतिक संस्थाओं के सम्भावित दवावों से वचाते है। संघ लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष ए. आर. किदवई के शब्दों में, "संसदीय लोकतन्त्र में लोक सेवा आयोगों को बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होती है, क्योंकि संसदीय लोकतन्त्र में लोक-सेवाओं से गुण-दोष के आधार पर भर्ती की व्यवस्था होना आवश्यक होता है और यह काम लोक सेवा आयोगों के माध्यम से ही हो सकता है।"[1] प्रो. एम. वी. पायली के अनुसार, "लोक सेवा आयोग का कार्य दो प्रकार का होता है—प्रथम तो धूर्त जनों को सेवा से बाहर रखना और दूसरा, योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं में लाने का प्रयास करना।"[2] संक्षेप में, लोक सेवा आयोग की आवश्यकता के निम्न प्रमुख कारण है—**प्रथम**, सेवा विषयों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार रखने के कारण यह कार्यपालिका को राजनीति व प्रशासन तन्त्र के मध्य आवश्यक सन्तुलन स्थापित करने में सहायता देता है। **द्वितीय**, लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए योग्यतम प्रत्याशियों का

1 किदवई, ए. आर., संविधान और लोक सेवा आयोगों की भूमिका : श्यामलाल शकधर (सम्पादित), **संविधान और संसद**, नेशनल, दिल्ली, 1976, पृ. 35।

2 Pylee, M. V., *Indian Constitution*, Asia Publishing House, 1976, p. 365.

चयन करना। तृतीय, लोक सेवाओं को भाई-भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार से दूर रखना। चतुर्थ, लोक सेवाओं के मामलों पर सरकार को तकनीकी परामर्श प्रदान करना। जॉन एस. टी. क्वाह के अनुसार, "लोक सेवा आयोग लोक सेवा से राजनीति को अलग रखने तथा उसके स्थानीयकरण को तीव्र करने के साथ-साथ कार्मिकों की नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण तथा अनुशासन के बहाल के लिए भी उत्तरदायी है।"[1] भारत जैसे देश में लोक सेवा आयोगों की आवश्यकता के सम्बन्ध में अत्युक्ति कर सकना ही सम्भव नहीं है। भारतीय समाज में विभिन्न जाति, भाषा तथा धर्म की उपस्थिति के कारण यदि लोक सेवाओ के नियोजन में राजनीतिक विचार या अनुग्रह प्रभाव का दवाव बना रहता है तो राष्ट्र के विकास में अत्यधिक बाधा पहुंचेगी। इसी कारण संविधान निर्माताओं ने भी लोक सेवा आयोगों की महती भूमिका को स्वीकार किया था। यही कारण है कि भारत में लोक सेवा आयोगों को संवैधानिक संस्थाओं का दर्जा प्रदान किया गया।[2]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)

भारत में सर्वप्रथम सन् 1919 के भारत शासन अधिनियम के अधीन सन् 1926 में 'लोक सेवा आयोग' स्थापित हुआ। सन् 1924 के ली कमीशन की संस्तुतियों के आधार पर इस आयोग को कतिपय कृत्य सौंपे गए थे। बाद में सन् 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के उपबन्धों के अधीन संघीय लोक सेवा आयोग स्थापित होने पर इसके कृत्यों का विस्तार हुआ। 26 जनवरी, 1950 को जब स्वतन्त्र भारत का नया गणतन्त्रात्मक संविधान लागू हुआ तब उसमें यह प्रावधान किया गया कि एक संघ सरकार के लिए लोक सेवा आयोग होगा और संघ के घटक प्रत्येक राज्य के लिए भी एक-एक लोक सेवा आयोग होगा।[3]

संघ लोक सेवा आयोग : संगठन (U.P.S.C.)

सदस्यों की नियुक्ति तथा पदावधि—संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा दस अन्य सदस्य हैं जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। आयोग के सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है।

संघ लोक सेवा आयोग के कम-से-कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जो कम-से-कम दस वर्ष तक के लिए सरकारी सेवा का अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। इस उपबन्ध का अभिप्राय यह निश्चित करना है कि आयोग के सदस्य अनुभवी व्यक्ति हों तथा आयोग एक विशेषज्ञों की संस्था के रूप में कार्य कर सके। सन् 1924 मे ली आयोग ने कहा था कि इस बात की सर्वाधिक आवश्यकता है कि अत्यधिक लोक प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों को आयोग का सदस्य बनाया जाए ताकि वे राज्य तथा उसके कर्मचारियों के मध्य महत्वपूर्ण व आत्मीय सम्बन्ध

1 क्वाह, जे. एस. टी., नवोदित राज्यों में लोक सेवा आयोगों की प्रभावशाली शीलता का माप, लोक प्रशासन, जनवरी-मार्च, 1975, पृ. 142-45.

2 वस्तुतः संवैधानिक दृष्टि से भारत के लोक सेवा आयोग की स्थिति इंग्लैण्ड अथवा अमरीका में स्थापित आयोगों की अपेक्षा सुदृढ़ है। भारत में आयोग संवैधानिक संस्थाएं हैं जबकि इंग्लैण्ड और अमरीका में अधीनस्थ संस्थाएं हैं। भारत में लोक सेवा आयोगों को किसी प्रकार भी विधायिका एवं कार्यपालिका के अधीन नहीं माना जा सकता।

3 भारतीय संविधान, अनुच्छेद 315.

स्थापित कर सकें। इस प्रकार आयोग के अध्यक्ष सहित अन्य सदस्यों का चयन करते समय राष्ट्रपति को अपने संवैधानिक दायित्व के अनुरूप यह देखना होता है कि लगभग आधे सदस्य ऐसे हों जिन्होने अपने नियुक्ति काल से पूर्व कम-से-कम दस वर्ष तक या तो किसी राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार के अधीन कार्य किया हो।[1] सविधान सभा में डॉ. अम्वेडकर ने भी कहा था कि उस व्यक्ति से अधिक उपयुक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता जो स्वयं लोक सेवाओं से सम्वद्ध रहा हो।[2]

संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों का कार्यकाल पदभार ग्रहण करने की तिथि से छः वर्ष तक अथवा पैसठ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक, जो भी पूर्व हो, तक हो सकता है।

वेतन तथा सेवा शर्तें—आयोग के सदस्यों के वेतन, भत्तो एवं अन्य शर्तो को निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किया गया है। किसी सदस्य के वेतन, भत्तों तथा सेवा की अन्य शर्तों को उसकी पदावधि में वदला नहीं जा सकता। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को 9,000 रु. तथा सदस्यों को 8,000 रुपए मासिक वेतन मिलता है। अपनी कार्यावधि की समाप्ति के वाद भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन संघ लोक सेवा आयोग का सदस्य कोई अन्य कार्य नही कर सकता सिवाय इसके कि संघ आयोग का एक सदस्य आयोग का अध्यक्ष या राज्य आयोग का अध्यक्ष वन सकता है। संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कोई नियुक्ति नहीं पा सकता। डॉ. एम. मुतालिब के अनुसार, "इस प्रतिवन्ध का जनता पर गम्भीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा है और आयोग के सदस्यों का विशेष सम्मान इस कारण करती है क्योंकि जनहित के लिए वे भावी पदों का त्याग करते हैं।"

आयोग के सदस्यों को हटाया जाना—संविधान के अनुच्छेद 317 में आयोग के सदस्यों को अपदस्य करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। आयोग के सदस्यों को दुराचार के लिए राष्ट्रपति के आदेश द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। दुराचार को प्रमाणित करने की प्रक्रिया सविधान द्वारा निश्चित की गयी है। राष्ट्रपति द्वारा ऐसा मामला सर्वोच्च न्यायालय के पास विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा। संविधान के अनुच्छेद 145 द्वारा निर्धारित प्रक्रियानुसार जांच करने के वाद न्यायालय राष्ट्रपति के सम्मुख अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। इस जांच के पूर्ण होने तक राष्ट्रपति उक्त सदस्य को आयोग से निलम्बित कर सकता है। लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा किसी सदस्य को राष्ट्रपति द्वारा निम्नलिखित किसी कारण के आधार पर भी अपदस्थ किया जा सकता है यदि, (क) वह दिवालिया हो या (ख) वह अपने कार्यकाल मे कोई अन्य संवैधानिक कार्य स्वीकार कर लेता है, या (ग) राष्ट्रपति की सम्मति में वह व्यक्ति मानसिक या शारीरिक दुर्वलता के कारण अपने पद पर कार्य करने में असमर्थ हो गया है, या (घ) अनुच्छेद 317 के अनुसार यदि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा या इनके वास्ते किए गए किसी संविदा या करार से लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य का सम्वन्ध हो तो इसको दुराचार समझा जाएगा और इस आधार पर उसको पदच्युत किया जा सकेगा।

1 भारतीय संविधान, अनुच्छेद 316 (1)।

2 कॉन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिवेट्स, 1-2 अगस्त, 1949, पृ. 593।

आयोग का सचिव—आयोग के सचिव का दर्जा भारत सरकार के संयुक्त सचिव के समान है। उसका वेतनमान और सेवा शर्तें भारत सरकार के संयुक्त सचिवों के समान ही हैं। सचिव की नियुक्ति आयोग द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए की जाती है। यदि कमीशन चाहे तो उसका कार्यकाल बढ़ा भी सकता है। अपने कार्यकाल की समाप्ति पर सचिव भारत सरकार की सेवा में वापस लौट जाता है। अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के अधिकारी आयोग मे प्रतिनियुक्ति पर आते हैं। अपने कार्यकाल की समाप्ति पर वे अपनी सेवाओं में लौट जाते हैं। आयोग का स्टाफ आयोग द्वारा नियुक्त किया जाता है। इनका वेतनमान तथा सेवा की शर्तें, भत्ते, आदि समान स्तर वाले भारत सरकार के अधिकारियों जैसे होते हैं।

लोक सेवा आयोग के कार्य (Functions of the Commission)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 320 के अनुसार लोक सेवा आयोग को निम्नांकित कार्य सौंपे गए है—

(1) संघ तथा राज्यों की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना।

(2) यदि दो या अधिक राज्य आयोग को संयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिए आग्रह करें तो राज्यों को इस प्रकार की योजनाएं बनाने में सहायता करना।

(3) संघ तथा राज्य सरकारों को निम्नांकित मामलों पर आयोग के साथ परामर्श करना अपेक्षित है :

(क) लोक सेवाओं में भर्ती के तरीकों के बारे मे सभी मामलों पर,

(ख) लोक सेवाओं में नियुक्ति और पदों के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्तो पर और एक सेवा से दूसरी में स्थानान्तरण और पदोन्नति के मामलों पर,

(ग) अनुशासनात्मक मामलों पर,

(घ) कानूनी खर्च की प्रतिपूर्ति पर,

(ङ) शासकीय सेवा में रहते हुए घायल हो जाने के कारण पेंशन देने के मामलो पर।

संघ लोक सेवा आयोग के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए इसके भूतपूर्व अध्यक्ष **डॉ. किदवई** लिखते है, "वास्तव में संघ लोक सेवा आयोग विभिन्न संगठित सेवाओं में भर्ती के लिए साक्षात्कार के माध्यम से चयन करता है, सेवा के नियमो और विनियमों के बारे में सरकार को परामर्श देता है, विभिन्न पदों और सेवाओं के लिए भर्ती के नियम बनाता है, नयी सेवाओ का गठन करता है, पदोन्नति के लिए सिद्धान्त बनाता है, नागरिक कर्मचारियों के अनुशासनात्मक मामलों पर और नागरिक कर्मचारियों द्वारा भारत के राष्ट्रपति को की गयी अपीलो, स्मारको और याचिकाओ के मामले मे परामर्श देता है।"[1] **डॉ. मुतालिब** ने आयोग के कार्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—(1) कार्यकारी, (2) नियामक, तथा (3) अर्द्धन्यायिक। परीक्षाओं के माध्यम से लोक महत्व के पदों पर प्रत्याशियो का चयन करना आयोग का कार्यकारी कर्तव्य है। भर्ती की पद्धतियों तथा नियुक्ति, पदोन्नति एवं विभिन्न सेवाओं में स्थानान्तरण आदि आयोग के नियामक प्रकृति के कार्य हैं। लोक सेवाओ से सम्बन्धित अनुशासन के मामलों पर सलाह देना आयोग का न्यायिक कार्य है।[2]

1 Dr. Kidwai, *Ibid.*, p. 26
2 Dr. Mutalib, *Ibid.*, pp. 375-80.

लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदन (Report of the Commission)

संघ लोक सेवा आयोग को प्रतिवर्ष अपने कार्यों के सम्बन्ध में एक प्रतिवेदन तैयार कर राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है। सन् 1950 से 1996 तक कुल मिलाकर आयोग ने 46 प्रतिवेदन प्रस्तुत किए है। सरकार इस प्रतिवेदन के साथ ज्ञापन जोड़ते हुए, जिसमें इस बात का उल्लेख किया जाता है कि आयोग की सिफारिशों पर किस प्रकार से अमल किया गया है, संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार राज्यों के लोक सेवा आयोग भी अपना प्रतिवेदन राज्यपाल को प्रस्तुत करते हैं और राज्यपाल सरकारी ज्ञापन के साथ उसे राज्य के विधानमण्डल के संमुख रखवाते हैं। लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदनों से यह सिद्ध होता है कि कुछ मामलों को छोड़कर विभिन्न सरकारों ने आयोग की सिफारिशों को स्वीकार किया है और समुचित कार्यवाही की है। उदाहरणार्थ, सन् 1950 से 1991 तक कार्मिकों की नियुक्ति, पदोन्नति आदि के सम्बन्ध में हजारों सिफारिशें संघ लोक सेवा आयोग ने केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कीं, किन्तु केवल 110 मामलों में ही सरकार ने उसके परामर्श को अस्वीकार किया।[1] वर्ष 1989-90 के दौरान 10 मामलों की तुलना में वर्ष 1990-91 के दौरान ऐसे 8 मामले और 1994-95 के दौरान ऐसे 9 मामले थे जिनमें आयोग की सलाह को केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार नहीं किया। वैसे यह नोट किया जाना चाहिए कि वर्ष 1985-86 से पहले के वर्षों में आयोग की सलाह को न मानने के मामलों का औसत लगभग 2 मामले प्रतिवर्ष था किन्तु बाद की अवधि में ऐसे मामलों की संख्या बढ़कर औसतन 15 मामले प्रतिवर्ष हो गई। 1986-87 में 30 और 1987-88 में 22 मामलों में सरकार ने आयोग की सलाह नहीं मानी। संघ लोक सेवा आयोग ने न केवल सरकार द्वारा की जाने वाली अनियमित नियुक्तियों का विरोध ही किया है बल्कि उसने निडरता से अपने वार्षिक प्रतिवेदनों में ऐसे मामलों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश भी डाला है। उदाहरणार्थ, सन् 1971-72 के वार्षिक प्रतिवेदन में संघ आयोग ने स्पष्ट शिकायत की है कि सरकार ने अनियमित नियुक्तियो के सम्बन्ध में आयोग से सलाह तक नहीं ली। 1989-90 के प्रतिवेदन में आयोग को खेद के साथ कहना पड़ा है कि सरकार की ओर से आयोग द्वारा अनुमोदित भर्ती नियमों को अधिसूचित करने में असाधारण विलम्ब होता है। आयोग द्वारा ऐसी शिकायतों से कई बार सम्बन्धित मन्त्रालय संसद तथा इसके बाहर आलोचना का शिकार हुए हैं।

लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतन्त्रता (Independence of the Commission)

हमारे संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतन्त्रता बनाए रखने हेतु निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं—

1. आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को संविधान में निर्धारित प्रक्रियानुसार ही पदच्युत किया जा सकता है।

2. आयोग के किसी भी सदस्य के पद से सम्बन्धित शर्तों को उसके कार्यकाल में हानि के रूप में नहीं बदला जा सकता।

3. लोक सेवा आयोग के वेतन, भत्ते तथा प्रशासनिक व्यय भारत सरकार की संचित निधि पर भारित हैं। अतः संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन तथा भत्तों के सम्बन्ध में संसद में मतदान नहीं किया जा सकता है।

1 Union Public Service Commission, *Thirty Seventh Report*, 1986-87, pp. 4-5.

4. संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों को कुछ अपवादों को छोड़कर पुनः उसी पद या सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।[1] संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की अनुपयुक्तता की प्रकृति महत्वपूर्ण है क्योंकि वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई नियुक्ति नहीं पा सकता। ऐसा प्रतिबन्ध तो सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर भी नहीं है।

उपर्युक्त संवैधानिक उपबन्धों द्वारा लोक सेवा आयोग के सदस्यों की निष्पक्षता बनाए रखने का भरसक प्रयास किया गया है, किन्तु 1950 में कार्यपालिका के निर्णय द्वारा लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों का वेतन कम कर दिया गया। यह सच है कि आयोग के अध्यक्ष का दर्जा भारत सरकार के सचिवों से ऊंचा है, किन्तु आयोग के सदस्यों को ऐसा दर्जा प्राप्त नहीं है। सन् 1924 में ली कमीशन ने सुझाव दिया था कि आयोग का दर्जा उच्च न्यायालय के समतुल्य होना चाहिए और सन् 1967-68 में प्राक्कलन समिति ने भी स्वीकार किया कि आयोग के सदस्यों व अध्यक्ष के वेतन एवं भत्तो का पुनः निर्धारण होना चाहिए, किन्तु इस ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया। लोक सेवा आयोग की स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए संघ आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष आर. सी. एस. सरकार ने सुझाव दिया कि संघ तथा राज्य लोक सेवा आयोग में उच्च गुणो वाले निष्पक्ष व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए उनका दर्जा, वेतन तथा भत्ते उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों के समतुल्य कर दिए जाएं और सभी नियुक्तियों में अध्यक्ष की सलाह को अधिक महत्व दिया जाए।[2]

संघ लोक सेवा आयोग को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रखने के लिए प्रशासनिक पदसोपान से बाहर रखा गया है और स्वतन्त्र रूप से संगठित किया गया है, किन्तु व्यवहार में विविध कानूनों एवं नियमों के माध्यम से कार्यपालिका प्रामाणिक रूप से आयोग का कार्यक्षेत्र निर्धारित करती है। फिर, राजनीतिक आधार पर भी आज अनेक नियुक्तियां की जा रही है। अनेक पदों को आयोग के कार्यक्षेत्र से बाहर कर दिया गया है जिससे कार्यपालिका एव मन्त्रालयों की नियुक्तियों मे हस्तक्षेप की प्रवृत्ति बढ़ गयी है।[3] लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करते समय उसके अध्यक्ष का परामर्श नही लिया जाता। यदि आयोग का कोई गैर-सरकारी सदस्य है तो उसे पेंशन नही मिलती। फिर, अपने सेवाकाल के मध्य में कोई भी व्यक्ति आयोग की सदस्यता के प्रति मुश्किल से आकर्षित होता है क्योंकि केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों के अधीन कार्य पाने की सम्भावनाओं पर यहां प्रतिबन्ध व सीमाएं लगी हुई है। कोई व्यक्ति जो अध्यक्ष पद स्वीकार करता है, अनिवार्यतः या तो अपने सेवा कार्यकाल की समाप्ति पर होता है या उस समय ऐसे पद पर होता है कि उसके लिए भावी सरकारी पद रुचि का विषय नहीं रह जाता।

आयोग की सलाहकारी भूमिका (Advisory Role of the Commission)

संविधान में लोक सेवा आयोगो का कार्य सिर्फ सलाह देना रखा गया है। आयोग द्वारा

1 भारतीय संविधान, अनुच्छेद 397।
2 Sarkar R.C.S., U.P.S.C., Erosion of Authority, *The States*, New Delhi, April 27, 1974, pp. 8-9.
3 *Ibid.*, p. 9.

कर ही लेती है। इसी प्रकार अन्य सेवा सम्बन्धी मामलों में, जिनमें पदोन्नति आदि के मामले भी सम्मिलित हैं, आयोग का कार्य सलाह देना भर है। सन् 1919 तथा 1935 के अधिनियम के अधीन स्थापित आयोग भी सलाहकारी थे, सरकार को बाध्य करने वाले नहीं। 1935 में भारत सचिव सेमुअल होर ने 'ब्रिटिश लोक सदन' में लोक सेवा आयोग को सलाहकार स्थिति प्रदान करने की वकालत करते हुए कहा था, "यह संयुक्त प्रवर समिति का निश्चित विचार था और मेरे यहां के भारतीय सलाहकारों का भी निश्चित विचार है कि लोक सेवा आयोग को सलाहकार रखना कहीं अच्छा है। अनुभव दर्शाता है कि सलाहकार होने पर बाध्यकारी (मेण्डेटरी) होने की अपेक्षा वे अधिक प्रभावशाली होते हैं। खतरा यह है कि यदि आप उन्हें मेण्डेटरी शक्तियां दे दें तो आप प्रत्येक राज्य में और केन्द्र में दो-दो सरकारें बना देंगे—अनेक दृष्टिकोणों से यही अच्छा है कि वे सलाहकार ही हों।"

हमारे संविधान-निर्माताओं ने लोक सेवा आयोगों का 1935 के अधिनियम में निर्धारित सलाहकार स्वरूप सुरक्षित रखा, परन्तु इस स्वरूप को अधिक उपयोगी बनाने की व्यवस्था भी कर दी। अनुच्छेद 323 द्वारा वर्तमान संविधान ने यह व्यवस्था की है कि संघ लोक सेवा आयोग राष्ट्रपति को और राज्य लोक सेवा आयोग सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल को एक वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करें जिसे सम्बन्धित विधानमण्डलों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। आयोग अपने प्रतिवेदन में उन मामलों का उल्लेख करें जिनमें उनका परामर्श सरकार ने नहीं माना और सरकार इस सम्बन्ध में ज्ञापन द्वारा सदन को स्पष्ट करे कि आयोग का परामर्श क्यों नहीं माना गया। डॉ. एम. वी. पायली के अनुसार, "आयोग की सिफारिशें केवल परामर्श के रूप में पेश किए जाने पर अधिक प्रभावशाली होती हैं। यदि ये बाध्यकारी होतीं तो शायद कम प्रभावशाली होतीं। यदि आयोग को बाध्यकारी सत्ता प्रदान की गयी तो इस बात का भय है कि सरकार तथा आयोग के बीच विवाद उत्पन्न होंगे और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिनमें दोनों एक ही अधिकार के अन्तर्गत प्रतिद्वन्द्वी संस्थाएं बन बैठें और प्रत्येक अपनी इच्छा दूसरे पर लादने का प्रयास करने लगे।"[1] इस प्रकार जहां एक ओर संविधान ने आयोग को राजनीति और अन्य सम्भव दबावों से मुक्त रखने की समुचित व्यवस्था कर उन्हें निष्पक्ष सलाह देने के लिए निर्भय कर दिया है, वहीं दूसरी ओर उसकी सलाह मानने के लिए सरकार को बाध्य न कर इस बात की भी व्यवस्था की है कि आयोग अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें।

संघ लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री सरकार का अभिमत है कि आयोग की सिफारिशों को मानना सरकार के लिए बाध्यकारी कर दिया जाए।[2] वे यह तो स्वीकार करते हैं कि केन्द्र में एक अच्छी परम्परा विकसित हो गयी है कि आयोग की सिफारिशों को प्राय: स्वीकार कर लिया जाता है। कोई भी मन्त्रालय उस समय तक आयोग की सिफारिशों को अस्वीकार नहीं करता जब तक कि मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की स्वीकृति नहीं ले लेता है[3] और उसके बाद भी उसे संसद में उन कारणों का स्पष्टीकरण देना होता है जिनके आधार

1 Pylee, M. V., *Indian Constutution*, p. 310.

2 R. C. S. Sarkar, *Ibid.*, pp. 8-9.

3 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् यह निर्णय किया गया कि कोई भी मामला जिसमें मन्त्रालय विशेष, आयोग की सलाह को न मानना चाहता हो, विचार के लिए एक मन्त्रिमण्डलीय समिति के सुपुर्द किया जाएगा। इस समिति में प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री तथा सम्बन्धित विभाग के मन्त्री होते हैं। यदि प्रधानमन्त्री या गृहमन्त्री प्रशासकीय दृष्टि से मामले से सम्बद्ध हों तो वित्तमन्त्री इस बैठक में भाग लेता है।
—यू. पी. एस. सी. प्रथम प्रतिवेदन, 1950-51।

पर आयोग की सलाह को अस्वीकार किया गया है। औसतन आयोग की प्रतिवर्ष हजारों मे से दो से भी कम सिफारिशों को सरकार ने अस्वीकार किया है।

ऐसा कहा जाता है कि आयोग की सलाह को बिना सार्वजनिक विवाद का विषय बनाते हुए सरकार अन्य तरीकों से भी नियुक्तियां कर देती है। यदि कोई मन्त्रालय किसी उम्मीदवार का चयन पसन्द नही करता तो वह प्रस्तावित पद वापस मांग सकता है और फिर उस पर एक वर्ष के लिए अपनी पसन्द के व्यक्ति की अस्थायी नियुक्ति कर सकता है और वह अस्थायी व्यक्ति भी इसमें अपने अर्जित अनुभव लाभ के आधार पर भाग ले सकता है, जिससे निश्चित ही वह लाभान्वित होगा। कभी-कभी कोई मन्त्रालय अल्पकाल के लिए तदर्थ नियुक्तियां कर लेता है और प्रत्याशी की कार्यविधि निरन्तर बढ़ाता रहता है। मन्त्रालय आयोग को यह आश्वासन दे सकता है कि प्रस्तावित पद कुछ ही समय बाद समाप्त हो जाएगा और इस प्रकार आयोग को मन्त्रालय की बात माननी पड़ती है।[1] संघ लोक सेवा आयोग ने इस प्रकार की हरकतों का बार-बार विरोध किया है।

लोक सेवा आयोग का दुर्बल पक्ष
(POINTS OF WEAKNESS)

भारतीय राज-व्यवस्था में लोक सेवा आयोगों का विशिष्ट महत्व है, किन्तु वर्तमान में आयोगों के ढांचे एवं कार्यशैली में अनेक दुर्बलताएं आ गयी हैं, जिनमें से कतिपय दुर्बलता इस प्रकार है—

1. आयोगो के सदस्यों की नियुक्ति करते समय पर्याप्त ध्यान नहीं रखा जाता है। भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर के अनुसार राज्यों में तो आयोगों के सदस्यों का स्तर उच्च श्रेणी का नही रहा है, किसी राज्य में तो आयोग के अध्यक्ष स्नातक उपाधि तक की भी शिक्षा प्राप्त नही थे। उनकी नियुक्ति का आधार यही था कि वे राजनीतिक पद पर नियुक्त नहीं किए जा सके थे, अतः बिना सोचे-विचारे उन्हें आयोग में नियुक्त कर दिया गया।[2]

2. प्रायः यह देखा गया है कि राज्यों में अनेक लोक सेवा आयोग समय पर अपना वार्षिक प्रतिवेदन भी तैयार नहीं करते। किसी राज्य के लोक सेवा आयोग ने तो सन् 1964 के बाद अपना कोई भी प्रतिवेदन तैयार ही नहीं किया।[3]

3. राज्यों मे सरकारें भी आयोग की सिफारिशों पर ध्यान नहीं देती। उदाहरणार्थ, मध्य प्रदेश लोक सेवा आयोग ने पंचम वार्षिक विवरण मे लिखा है—"प्रतिवेदनाधीन वर्ष में 1,949 पदों को भरने के लिए आयोग ने अपनी सिफारिश भेजी। इनमें से 850 मामलों में आयोग का परामर्श माना गया, शेष में वर्षान्त तक शासन के आदेश नहीं आ सके।" इसी प्रकार आयोग ने छठवे वार्षिक विवरण में लिखा है, "आयोग ने 1,096 पदों के लिए उम्मीदवारों के नाम भेजे। इनमें से 773 मामलों में आयोग का परामर्श मान लिया गया। शेष मामलो मे वर्षान्त तक शासन के आदेश नहीं आए।"[4]

4 संघ लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र से विभिन्न तरीकों द्वारा अनेक पदो पर नियुक्ति का अधिकार छीन लिया जाता है। उदाहरणार्थ, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद के

1 *The States*, April 27, 1974, p. 10.
2 Dharmvir, Ending Political Appointments, *The States*, 27 April, 1974, pp. 11-12
3 नयी दुनिया, अप्रैल 10, 1974, पृ. 4।
4 उपर्युक्त।

मामले को लिया जा सकता है, जो पूर्व में एक विभाग था और बाद में उसे स्वायत्तशासी संस्था बना दिया गया। आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीयुत सरकार की दृष्टि से इसका कारण यह था कि नियुक्तियों में मनमानी की जा सके। यह भी प्रयास चल रहा है कि वैज्ञानिक और तकनीकी स्वरूप के पदों पर नियुक्ति का अधिकार आयोग के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया जाए। यदि ऐसा किया जाता है तो लगभग 80 प्रतिशत नियुक्तियों में आयोग का कोई वर्चस्व नहीं रह जाएगा।[1]

5. ऐसा माना जाता है कि संसद और विधानमण्डलों में आयोग के प्रतिवेदनों पर समुचित वाद-विवाद और विचार मन्थन नहीं होता है। श्रीयुत सरकार के अनुसार व्यवहार में संसदीय नियन्त्रण प्रभावकारी नहीं रहा है। आयोगों के वार्षिक प्रतिवेदनों पर पर्याप्त रूप से वाद-विवाद नहीं हो पाता।[2] श्री धर्मवीर के अनुसार संसद और विधानमण्डलों में प्रतिपक्ष की दुर्बल स्थिति के कारण आयोग के प्रतिवेदनों के बारे में सरकार पर कोई औचित्यपूर्ण प्रतिबन्ध नहीं रह जाता है।[3]

6. किसी राज्य आयोग के एक भूतपूर्व अध्यक्ष ने स्पष्ट लिखा है कि राज्य सरकारें आयोग के साथ कैसा दुर्व्यवहार करती हैं। आयोग की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर कर दी जाती है कि वह साक्षात्कार लेने हेतु स्वतन्त्र विशेषज्ञों को नहीं बुला सकता; आयोग में रिक्त पदों को समय पर नहीं भरा जाता; छः-छः माह तक आयोग को बिना सचिव के काम चलाना पड़ा, पद निवृत्त होने के बाद आयोग के अध्यक्ष के निवास-स्थान की पुलिस द्वारा जांच करायी गयी और उसे अपनी सुरक्षा के लिए उच्च न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। बस कारण यही था कि आयोग ने राजनीतिज्ञों की आज्ञा का पालन नहीं किया।[4]

7. वस्तुतः व्यवहार में राज्य लोक सेवा आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों के वेतन तथा भत्ते मुख्यमन्त्रियों की इच्छा पर ही निर्भर करते हैं। किसी राज्य में मुख्यमन्त्री ने अध्यक्ष को अच्छा वेतन दिया तो दूसरे राज्यों में उनकी स्थिति पूर्व की भांति ही रखी गयी। ऐसे भी मामले हैं जब एक राज्य लोक सेवा आयोग में अध्यक्ष की तुलना में किसी एक सदस्य को उसकी नियुक्ति के पन्द्रह महीनों बाद अधिक वेतन दे दिया गया।[5]

8. राज्यों के लोक सेवा आयोग के बारे में बराबर ऐसी शिकायतें आयी हैं कि उनका आचरण निष्पक्षता से परे रहा है। स्वयं विधि आयोग ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हमें यह देखकर खेद हो रहा है कि कुछ राज्यों में लोक सेवा आयोग के अधिकारी इस प्रकार के नहीं हैं जो अपनी कुशलता और तटस्थता के लिहाज में विश्वसनीय दिखायी दें।[6]

9. आयोग द्वारा आयोजित मौखिक परीक्षाओं तथा व्यक्तित्व परीक्षाओं में शहरी तथा अंग्रेजी स्कूलों से आए प्रत्याशियों को देहाती प्रत्याशियों की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता है।

1 *The States*, 27 April, 1974, p. 9.
2 *Ibid.*, p. 12.
3 *Ibid.*, p. 12.
4 *Ibid.*, pp. 13-14.
5 *Ibid.*, p. 15.
6 डॉ. बाबूलाल फड़िया, "भारत में संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोग—भूमिका निर्धारण की समस्या", [illegible] समीक्षा (जयपुर), जनवरी 1977, पृ. 20।

प्रश्न

1. संघ लोक सेवा आयोग के संगठन एवं कार्यों को बताइए। (राजस्थान, 1994)
2. संघ लोक सेवा आयोग पर एक टिप्पणी लिखिए। (अजमेर, 1997; राजस्थान, 1996, 97)
3. संघ लोक सेवा आयोग की संरचना बताइए। यह प्रशासनिक सेवाओं में सही भर्ती के उद्देश्य की पूर्ति किस तरह से करता है? (राजस्थान, 1992)
4. संघीय लोक सेवा आयोग के संगठन को बताइए एवं इसकी भूमिका एवं कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (अजमेर, 1998)

17

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : संगठन एवं कार्य

[CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD : ORGANIZATION AND FUNCTIONS]

संविधान में यथाप्रतिष्ठित कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्पष्ट अभिव्यक्ति उसकी प्रस्तावना तथा राज्य नीति के निर्देशक तत्वों में की गई है। हमारे कल्याणकारी राज्य के मार्गदर्शन के लिए बुनियादी सिद्धान्त और दृष्टिकोण संविधान के अनुच्छेद 38, 39 और 46 मे दिए गए हैं। इन अनुच्छेदों मे समाज के असुविधाग्रस्त तथा सीमान्तक वर्गों के विकास और कल्याण के प्रति राज्य की अत्यन्त सकारात्मक भूमिका पर विचार किया गया है। अनुच्छेद 46 में यह प्रावधान किया गया है कि राज्य जनता के कमजोर वर्गों विशेष रूप से अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा तथा सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

किसी भी विकासशील समाज का सामाजिक-आर्थिक ढांचा आर्थिक प्रगति के दौरान अपरिहार्य रूप से असन्तुलित होकर कमजोर तथा सीमान्तक वर्गों के हितों को बुरी तरह प्रभावित करता है। अतः भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद राज्य इन वर्गों के कल्याण की अभिवृद्धि तथा संरक्षण की आवश्यकता के प्रति सदैव जागरूक रहा है। भारत सरकार के प्रयासों का लक्ष्य यही रहा है कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों, अल्पसंख्यक समुदायों, पिछड़े वर्गों, महिलाओं, वच्चों के विशेष समूहों तथा खासतौर से उपेक्षित, वंचित, दुर्व्यवहार तथा शोषण का शिकार हुए समूहों, विकलांगों तथा वयोवृद्धों के कल्याण सम्बन्धी विशेष योजनाओ और कार्यक्रमों द्वारा इस उद्देश्य को प्राप्त किया जाए। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अगस्त 1953 मे तत्कालीन शिक्षा मन्त्रालय के एक प्रस्ताव द्वारा 'केन्द्रीय समाज कल्याण वोर्ड' की स्थापना की गई। इस प्रस्ताव में 'बोर्ड' की स्थापना के निम्नांकित लक्ष्य निर्धारित किए गए थे—

(1) विभिन्न समाज कल्याण संगठनों की आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं का संरक्षण।

(2) सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाओं द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रमों और प्रयोजनाओं का मूल्यांकन।

(3) केन्द्रीय मन्त्रालयों अथवा राज्य सरकारों द्वारा कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों को दी जा रही सहायता में समन्वय करना।

(4) स्वयंसेवी संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन देना।

(5) समाज कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों एवं संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : संगठन
(CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD : ORGANIZATION)

1953-54 में जब 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' का गठन किया गया तो इसे केन्द्रीय सरकार के एक अभिकरण के रूप में देखा गया, यद्यपि इसे अपने दैनिक कामकाज में पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान की गयी थी। प्रारम्भ में इसमें दो प्रकार के सदस्य थे—सरकारी एवं गैर-सरकारी। बोर्ड का अध्यक्ष गैर-सरकारी व्यक्ति को बनाया गया जिसे केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किया गया था। अध्यक्ष के अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्यों में 5 सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा सरकारी सदस्यों में 5 केन्द्रीय मन्त्रालयों जिनमें शिक्षा मन्त्रालय, वित्त मन्त्रालय, स्वास्थ्य मन्त्रालय, सामुदायिक विकास मन्त्रालय एवं योजना आयोग का एक-एक प्रतिनिधि भारत सरकार द्वारा मनोनीत किया गया। संसद की लोक लेखा समिति ने अपने 1965-66 के प्रतिवेदन में बोर्ड के संगठन एवं स्थिति को लेकर आलोचनात्मक टिप्पणी की। समिति का मत था कि केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, जो एक सांविधानिक संस्था नहीं है, को भारतीय राजकोष से कैसे अनुदान दिया जा सकता है। समिति के अनुसार बोर्ड को विधि-सम्मत आधार प्रदान किया जाना चाहिए। लोक लेखा समिति की टिप्पणियों को ध्यान मे रखते हुए भारत सरकार ने बोर्ड को 1956 के भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत करने का निर्णय लिया। अतः अप्रैल, 1969 से 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत स्वायत्तशासी निकाय है। बोर्ड पूर्णरूप से भारत सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

आजकल केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के संगठन में निम्नलिखित प्रमुख अंग हैं—

1. अध्यक्ष (Chairman)
2. कार्यकारी निदेशक (Executive Director)
3. सामान्य निकाय (General Body)
4. कार्यकारिणी समिति (Executive Committee)

अध्यक्ष (Chairman)—बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। अध्यक्ष सामान्य निकाय तथा कार्यकारिणी का पदेन सदस्य भी होता है। बोर्ड का अध्यक्ष ही सामान्य निकाय और कार्यकारिणी की बैठको की अध्यक्षता करता है।

कार्यकारी निदेशक (Executive Director)—बोर्ड का कार्यकारी निदेशक दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करता है। वह बोर्ड के सामान्य निकाय एवं कार्यकारिणी समिति का भी सदस्य होता है।

सामान्य निकाय (General Body)—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के **'सामान्य निकाय'** में बोर्ड के अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्य है। इसके सदस्यों में सभी राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि, सामाजिक कार्यकर्ता, समाज वैज्ञानिक, समाज

कल्याण प्रशासक, संसद सदस्य तथा बोर्ड के कार्यक्रमों के साथ सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि शामिल हैं।

31 मार्च, 1990 को बोर्ड के सामान्य निकाय का संगठन इस प्रकार था[1]—अध्यक्ष-1; राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि सदस्य-30; संसद सदस्य-3; विशेषज्ञ सदस्य-5 (विधि, चिकित्सा, पोषाहार, समाज कार्य, शिक्षा व सामाजिक विकास क्षेत्रों में एक-एक विशेषज्ञ) समाज कार्य के क्षेत्र में गहन अनुभव रखने वाले प्रमुख व्यक्ति-3; भारत सरकार के मन्त्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि-8 (संयुक्त सचिव एवं वित्तीय सलाहकार, वित्त मन्त्रालय; उप सलाहकार योजना आयोग; निदेशक ग्रामीण विकास विभाग, निदेशक शिक्षा मन्त्रालय, निदेशक श्रम मन्त्रालय, निदेशक कल्याण मन्त्रालय, अपर-महानिदेशक स्वास्थ्य-परिवार कल्याण मन्त्रालय, संयुक्त सचिव महिला एवं बाल विकास विभाग) तथा कार्यकारी निदेशक एवं सदस्य-1।

बोर्ड के **'सामान्य निकाय'** के अध्यक्ष एवं सभी सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्यों के इस **'सामान्य निकाय'** की बैठक वर्ष में एक बार होती है। इस वार्षिक बैठक में बोर्ड का वार्षिक प्रतिवेदन तथा अंकेक्षित लेखा प्रस्तुत किया जाता है। इसी बैठक में बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों के विकास और उपलब्धियों का मूल्यांकन भी किया जाता है।

कार्यकारिणी समिति (Executive Committee)—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के कार्यों का संचालन कार्यकारिणी समिति द्वारा किया जाता है जिसमें बोर्ड के अध्यक्ष तथा कार्यकारी निदेशक सहित 15 सदस्य हैं। यह कार्यकारिणी समिति बोर्ड की नीति निर्धारित करने वाली प्रमुख समिति है जिसकी बैठक प्राय: दो-तीन माह में एक बार होती है।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : उद्देश्य
(CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD . OBJECTIVES)

1969 में कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत किए जाते समय केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के निर्माण हेतु निम्नांकित उद्देश्य बतलाए गए थे—

1. समाज कल्याण संगठनों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का समय-समय पर संरक्षण, शोध और मूल्यांकन के माध्यम से समुचित अध्ययन करना।

2. अनुदान प्राप्त संगठनों के कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन करना।

3. केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों तथा बोर्ड के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु जो सहायता समाज कल्याण गतिविधियों के लिए उपलब्ध करायी जाती है, उसमें समन्वय करना।

4. समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्य करने वाले स्वयंसेवी संगठनों के निर्माण को प्रोत्साहित करना।

5. विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं तथा पंचायत राज संस्थाओ को भारत सरकार द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के अनुरूप तकनीकी और वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना।

1 केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, वार्षिक प्रतिवेदन, 1989-90, पृ. 26-29।

(2) सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाओं द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रमों और प्रयोजनाओं का मूल्यांकन।

(3) केन्द्रीय मन्त्रालयों अथवा राज्य सरकारों द्वारा कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों को दी जा रही सहायता में समन्वय करना।

(4) स्वयंसेवी संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन देना।

(5) समाज कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों एवं संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : संगठन
(CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD : ORGANIZATION)

1953-54 में जब 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' का गठन किया गया तो इसे केन्द्रीय सरकार के एक अभिकरण के रूप में देखा गया, यद्यपि इसे अपने दैनिक कामकाज में पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान की गयी थी। प्रारम्भ में इसमें दो प्रकार के सदस्य थे—सरकारी एवं गैर-सरकारी। बोर्ड का अध्यक्ष गैर-सरकारी व्यक्ति को बनाया गया जिसे केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किया गया था। अध्यक्ष के अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्यों में 5 सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा सरकारी सदस्यों में 5 केन्द्रीय मन्त्रालयों जिनमें शिक्षा मन्त्रालय, वित्त मन्त्रालय, स्वास्थ्य मन्त्रालय, सामुदायिक विकास मन्त्रालय एवं योजना आयोग का एक-एक प्रतिनिधि भारत सरकार द्वारा मनोनीत किया गया। संसद की लोक लेखा समिति ने अपने 1965-66 के प्रतिवेदन में बोर्ड के संगठन एवं स्थिति को लेकर आलोचनात्मक टिप्पणी की। समिति का मत था कि केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, जो एक सांविधानिक संस्था नहीं है, को भारतीय राजकोष से कैसे अनुदान दिया जा सकता है। समिति के अनुसार बोर्ड को विधि-सम्मत आधार प्रदान किया जाना चाहिए। लोक लेखा समिति की टिप्पणियों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने बोर्ड को 1956 के भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत करने का निर्णय लिया। अतः अप्रैल, 1969 से 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत स्वायत्तशासी निकाय है। बोर्ड पूर्णरूप से भारत सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

आजकल केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के संगठन में निम्नलिखित प्रमुख अंग हैं—

1. अध्यक्ष (Chairman)
2. कार्यकारी निदेशक (Executive Director)
3. सामान्य निकाय (General Body)
4. कार्यकारिणी समिति (Executive Committee)

अध्यक्ष (Chairman)—बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। अध्यक्ष सामान्य निकाय तथा कार्यकारिणी का पदेन सदस्य भी होता है। बोर्ड का अध्यक्ष ही सामान्य निकाय और कार्यकारिणी की बैठकों की अध्यक्षता करता है।

कार्यकारी निदेशक (Executive Director)—बोर्ड का कार्यकारी निदेशक दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करता है। वह बोर्ड के सामान्य निकाय एवं कार्यकारिणी समिति का भी सदस्य होता है।

सामान्य निकाय (General Body)—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के 'सामान्य निकाय' में बोर्ड के अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्य हैं। इसके सदस्यों में सभी राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि, सामाजिक कार्यकर्ता, समाज वैज्ञानिक, समाज

कल्याण प्रशासक, संसद सदस्य तथा बोर्ड के कार्यक्रमों के साथ सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि शामिल है।

31 मार्च, 1990 को बोर्ड के सामान्य निकाय का संगठन इस प्रकार था[1]—अध्यक्ष-1; राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि सदस्य-30; संसद सदस्य-3; विशेषज्ञ सदस्य-5 (विधि, चिकित्सा, पोषाहार, समाज कार्य, शिक्षा व सामाजिक विकास क्षेत्रों में एक-एक विशेषज्ञ) समाज कार्य के क्षेत्र में गहन अनुभव रखने वाले प्रमुख व्यक्ति-3; भारत सरकार के मन्त्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि-8 (संयुक्त सचिव एवं वित्तीय सलाहकार, वित्त मन्त्रालय; उप सलाहकार योजना आयोग; निदेशक ग्रामीण विकास विभाग, निदेशक शिक्षा मन्त्रालय, निदेशक श्रम मन्त्रालय, निदेशक कल्याण मन्त्रालय, अपर-महानिदेशक स्वास्थ्य-परिवार कल्याण मन्त्रालय, संयुक्त सचिव महिला एवं बाल विकास विभाग) तथा कार्यकारी निदेशक एवं सदस्य-1।

बोर्ड के **'सामान्य निकाय'** के अध्यक्ष एवं सभी सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्यों के इस **'सामान्य निकाय'** की बैठक वर्ष में एक बार होती है। इस वार्षिक बैठक में बोर्ड का वार्षिक प्रतिवेदन तथा अंकेक्षित लेखा प्रस्तुत किया जाता है। इसी बैठक में बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों के विकास और उपलब्धियों का मूल्यांकन भी किया जाता है।

कार्यकारिणी समिति (Executive Committee)—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के कार्यों का संचालन कार्यकारिणी समिति द्वारा किया जाता है जिसमें बोर्ड के अध्यक्ष तथा कार्यकारी निदेशक सहित 15 सदस्य हैं। यह कार्यकारिणी समिति बोर्ड की नीति निर्धारित करने वाली प्रमुख समिति है जिसकी बैठक प्रायः दो-तीन माह में एक बार होती है।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : उद्देश्य
(CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD : OBJECTIVES)

1969 में कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत किए जाते समय केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के निर्माण हेतु निम्नांकित उद्देश्य बतलाए गए थे—

1. समाज कल्याण संगठनों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का समय-समय पर सर्वेक्षण, शोध और मूल्यांकन के माध्यम से समुचित अध्ययन करना।

2. अनुदान प्राप्त संगठनों के कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन करना।

3. केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों तथा बोर्ड के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु जो सहायता समाज कल्याण गतिविधियों के लिए उपलब्ध करायी जाती है, उसमें समन्वय करना।

4. समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्य करने वाले स्वयंसेवी संगठनों के निर्माण को प्रोत्साहित करना।

5. विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं तथा पंचायत राज संस्थाओं को भारत सरकार द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के अनुरूप तकनीकी और वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना।

[1] केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, वार्षिक प्रतिवेदन, 1989-90, पृ. 26-29।

(2) सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाओं द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रमों और प्रयोजनाओं का मूल्यांकन।

(3) केन्द्रीय मन्त्रालयों अथवा राज्य सरकारों द्वारा कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों को दी जा रही सहायता में समन्वय करना।

(4) स्वयंसेवी संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन देना।

(5) समाज कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों एवं संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : संगठन

(CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD : ORGANIZATION)

1953-54 में जब 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' का गठन किया गया तो इसे केन्द्रीय सरकार के एक अभिकरण के रूप में देखा गया, यद्यपि इसे अपने दैनिक कामकाज में पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान की गयी थी। प्रारम्भ में इसमें दो प्रकार के सदस्य थे—सरकारी एवं गैर-सरकारी। बोर्ड का अध्यक्ष गैर-सरकारी व्यक्ति को बनाया गया जिसे केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किया गया था। अध्यक्ष के अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्यों में 5 सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा सरकारी सदस्यों मे 5 केन्द्रीय मन्त्रालयों जिनमें शिक्षा मन्त्रालय, वित्त मन्त्रालय, स्वास्थ्य मन्त्रालय, सामुदायिक विकास मन्त्रालय एवं योजना आयोग का एक-एक प्रतिनिधि भारत सरकार द्वारा मनोनीत किया गया। संसद की लोक लेखा समिति ने अपने 1965-66 के प्रतिवेदन में बोर्ड के संगठन एवं स्थिति को लेकर आलोचनात्मक टिप्पणी की। समिति का मत था कि केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, जो एक सांविधानिक संस्था नहीं है, को भारतीय राजकोष से कैसे अनुदान दिया जा सकता है। समिति के अनुसार बोर्ड को विधि-सम्मत आधार प्रदान किया जाना चाहिए। लोक लेखा समिति की टिप्पणियो को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने बोर्ड को 1956 के भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत करने का निर्णय लिया। अतः अप्रैल, 1969 से 'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड' कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत स्वायत्तशासी निकाय है। बोर्ड पूर्णरूप से भारत सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

आजकल केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के संगठन में निम्नलिखित प्रमुख अंग हैं—

1. अध्यक्ष (Chairman)
2. कार्यकारी निदेशक (Executive Director)
3. सामान्य निकाय (General Body)
4. कार्यकारिणी समिति (Executive Committee)

अध्यक्ष (Chairman)—बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। अध्यक्ष सामान्य निकाय तथा कार्यकारिणी का पदेन सदस्य भी होता है। बोर्ड का अध्यक्ष ही सामान्य निकाय और कार्यकारिणी की बैठकों की अध्यक्षता करता है।

कार्यकारी निदेशक (Executive Director)—बोर्ड का कार्यकारी निदेशक दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करता है। वह बोर्ड के सामान्य निकाय एवं कार्यकारिणी समिति का भी सदस्य होता है।

सामान्य निकाय (General Body)—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के 'सामान्य निकाय' में बोर्ड के अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्य है। इसके सदस्यों में सभी राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि, सामाजिक कार्यकर्ता, समाज वैज्ञानिक, समाज

कल्याण प्रशासक, संसद सदस्य तथा बोर्ड के कार्यक्रमों के साथ सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि शामिल हैं।

31 मार्च, 1990 को बोर्ड के सामान्य निकाय का संगठन इस प्रकार था[1]—अध्यक्ष-1; राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि सदस्य-30; संसद सदस्य-3; विशेषज्ञ सदस्य-5 (विधि, चिकित्सा, पोषाहार, समाज कार्य, शिक्षा व सामाजिक विकास क्षेत्रों में एक-एक विशेषज्ञ) समाज कार्य के क्षेत्र में गहन अनुभव रखने वाले प्रमुख व्यक्ति-3; भारत सरकार के मन्त्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि-8 (संयुक्त सचिव एवं वित्तीय सलाहकार, वित्त मन्त्रालय; उप सलाहकार योजना आयोग; निदेशक ग्रामीण विकास विभाग, निदेशक शिक्षा मन्त्रालय, निदेशक श्रम मन्त्रालय, निदेशक कल्याण मन्त्रालय, अपर-महानिदेशक स्वास्थ्य-परिवार कल्याण मन्त्रालय, संयुक्त सचिव महिला एवं बाल विकास विभाग) तथा कार्यकारी निदेशक एवं सदस्य-1।

बोर्ड के **'सामान्य निकाय'** के अध्यक्ष एवं सभी सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्यों के इस **'सामान्य निकाय'** की बैठक वर्ष में एक बार होती है। इस वार्षिक बैठक में बोर्ड का वार्षिक प्रतिवेदन तथा अंकेक्षित लेखा प्रस्तुत किया जाता है। इसी बैठक में बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों के विकास और उपलब्धियों का मूल्यांकन भी किया जाता है।

कार्यकारिणी समिति (Executive Committee)—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के कार्यों का संचालन कार्यकारिणी समिति द्वारा किया जाता है जिसमें बोर्ड के अध्यक्ष तथा कार्यकारी निदेशक सहित 15 सदस्य हैं। यह कार्यकारिणी समिति बोर्ड की नीति निर्धारित करने वाली प्रमुख समिति है जिसकी बैठक प्रायः दो-तीन माह में एक बार होती है।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : उद्देश्य
(CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD : OBJECTIVES)

1969 में कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत किए जाते समय केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के निर्माण हेतु निम्नांकित उद्देश्य बतलाए गए थे—

1. समाज कल्याण संगठनों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का समय-समय पर संरक्षण, शोध और मूल्यांकन के माध्यम से समुचित अध्ययन करना।

2. अनुदान प्राप्त संगठनों के कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन करना।

3. केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों तथा बोर्ड के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु जो सहायता समाज कल्याण गतिविधियों के लिए उपलब्ध करायी जाती है, उसमें समन्वय करना।

4. समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्य करने वाले स्वयंसेवी संगठनों के निर्माण को प्रोत्साहित करना।

5. विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं तथा पंचायत राज संस्थाओं को भारत सरकार द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के अनुरूप तकनीकी और वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना।

1 केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, वार्षिक प्रतिवेदन, 1989-90, पृ. 26-29।

6. समाज के दुर्बल वर्गों जैसे—महिलाओं, बच्चों, विकलांगों, बेरोजगारों, वृद्धों, रोगियों आदि के सामान्य कल्याण से प्रेरित हो विभिन्न सामाजिक कल्याण की गतिविधियों को प्रोत्साहित करना।

7. सामाजिक कार्य हेतु पहलकारी विभिन्न परियोजनाओं तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन और प्रोत्साहन।

8. प्राकृतिक संकट के समय राष्ट्र मे कहीं भी सहायता पहुंचाने के लिए अपने संगठन के माध्यम से सहायता कार्यक्रमों का आयोजन करना।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का कार्यालय संगठन
(OFFICE ORGANIZATION OF THE CENTRAL SOCIAL WELFARE BOARD)

1953 में बोर्ड की स्थापना के समय इसके प्रशासनिक कार्यालयों में एक सचिव, एक कार्यालय अधीक्षक, एक लेखाकार और तीन सहायक थे, किन्तु आज बोर्ड का विशाल प्रशासनिक संगठन है। बोर्ड का सर्वोच्च अधिकारी एक अध्यक्ष होता है तथा प्रशासनिक कामकाज के लिए एक सचिव होता है जिसका दर्जा भारत सरकार के उप सचिव स्तर का है। बोर्ड के प्रशासनिक कामकाज को चलाने के लिए सुविधा की दृष्टि से संगठन को 9 संभागों में विभाजित किया गया है। ये प्रमुख संभाग हैं—

1. सामाजिक-आर्थिक संभाग
2. सघन कार्यक्रम संभाग
3. परियोजना संभाग
4. क्षेत्रीय परामर्श निदेशन संभाग
5. अनुदान संभाग
6. आन्तरिक नियन्त्रण सभाग
7. वित्त एवं लेखा संभाग
8. प्रकाशन संभाग
9. प्रशासन संभाग।

सामाजिक-आर्थिक संभाग उन कार्यक्रमों के संचालन की देखरेख करता है जो बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे हैं। सघन कार्यक्रम संभाग 18 से 30 आयु वर्ग की महिलाओ को मिडिल स्कूल और सैकेण्डरी परीक्षाओं मे प्रविष्ट होने के लिए सहायता की व्यवस्था करता है। परियोजना संभाग परिवार और बच्चों के कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम, पोषण से सम्बन्धित कार्यक्रम, बालवाड़ी कार्यक्रम, कामकाजी महिला छात्रावास परियोजनाओं और विभिन्न कार्यक्रमों से सम्बन्धित पुराने भवनों की मरम्मत के लिए अनुदान सम्बन्धी कार्यक्रमों में अपनी भूमिका निभाता है। क्षेत्रीय परामर्श और निदेशन संभाग देश भर में समाज कल्याण अधिकारियों, संस्थाओं और परियोजनाओं के कार्यकरण पर सतत् निगरानी रखता है। अनुदान संभाग कल्याण कार्यों में लगी स्वयसेवी संस्थाओं और संगठनों को योजना अवधि के लिए अनुदान स्वीकार करता है। आन्तरिक नियन्त्रण संभाग यह देखता है कि बोर्ड द्वारा जो बजट तैयार किया जा रहा है उसमें भारत सरकार द्वारा जारी किए गए निर्देशों का समुचित पालन हो। वित्त और लेखा संभाग बोर्ड के लिए आय और व्यय सम्बन्धी समस्त आहरण और वितरण कार्यों के लिए उत्तरदायी है। प्रकाशन संभाग बोर्ड द्वारा प्रकाशित पत्रिका—'सोशल वैलफेयर'

तथा 'समाज कल्याण' के प्रकाशन एवं वितरण के लिए उत्तरदायी है। बोर्ड का प्रशासन संभाग विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक एवं कार्मिक दायित्वों जैसे कार्मिकों की भर्ती, पदस्थापन, स्थानान्तरण, पदोन्नति, प्रशिक्षण, आदि का निर्वाह करता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड अपने स्थापना वर्ष 1953 से ही पूरे देश में फैले स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से महिलाओं, बच्चों तथा विकलांगों के कल्याण के लिए कार्यक्रम चला रहा है। इन वर्षों में बोर्ड ने अपने विद्यमान कार्यक्रमों के विस्तार के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप नई योजनाओं को भी कार्यान्वित किया है। वर्तमान में बोर्ड भारत सरकार के मानव संसाधन मन्त्रालय के 'महिला एवं बाल विकास विभाग' के साथ सम्बद्ध है।

आलोचकों के अनुसार बोर्ड की भूमिका और कार्यप्रणाली सन्तोषजनक नहीं रही है। बोर्ड की कार्यप्रणाली की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है—

(1) बोर्ड द्वारा प्रायोजित सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन एवं समन्वय करने के लिए उसके पास विशेषज्ञ कार्मिकों का अभाव है।

(2) बोर्ड द्वारा प्रायोजित अधिकांश कार्यक्रम स्वयंसेवी संस्थाएं चलाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि अधिकांश संस्थाएं केवल कागज पर विद्यमान हैं, व्यवहार में उनका कोई अस्तित्व नहीं पाया जाता।

(3) बोर्ड के पास कार्य और कार्यक्रम तो बहुत है, किन्तु उनकी देखरेख के लिए पर्याप्त कार्मिक नहीं हैं। इसी कारण देश के विभिन्न भागों में चलाए जाने वाले कार्यक्रमों का समुचित निरीक्षण एवं नियन्त्रण नहीं हो पाता।

(4) स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा प्रेषित वार्षिक प्रतिवेदनों का बोर्ड स्तर पर सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हो पाता।

(5) बोर्ड द्वारा प्रायोजित कल्याण कार्यक्रमो में न्यस्त स्वार्थों का बोलबाला है जिससे भ्रष्टाचार में वृद्धि हो रही है।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का पुनर्गठन किया जाना चाहिए; बोर्ड का नेतृत्व ऐसे लोगों को सौंपा जाना चाहिए जिनकी प्रशासनिक क्षमता और समाज सेवा की दृष्टि से ख्याति हो। बोर्ड में ऐसे कार्मिकों की भर्ती की जानी चाहिए जो समाज सेवा के क्षेत्र में प्रतिबद्ध हों।

प्रश्न

1. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के संगठन एवं कार्यों को विस्तार से समझाइए।
(राजस्थान, 1993)
2. केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के संगठन एवं कार्यकरण की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
(अजमेर, 1996; राजस्थान, 1995)
3. केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल पर एक टिप्पणी लिखिए।
(राजस्थान, 1996, 97, अजमेर, 1995)
4. केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के संगठन एवं कार्यों को विस्तार से समझाइए।
(राजस्थान, 1998)

18

रेलवे बोर्ड : संगठन एवं कार्य

[RAILWAY BOARD : ORGANIZATION AND FUNCTIONS]

भारतीय रेलवे को देश के सामाजिक-आर्थिक नक्शे में अद्भुत स्थान प्राप्त है। पथ के रूप मे भूमि के अत्यल्प उपयोग के साथ उच्च सचालन क्षमता वाला ऊर्जा संरक्षक तथा स्वयं में अधिकतम ऊर्जा संजोए परिवहन के इस साधन की देश के तीव्र औद्योगिक और आधारभूत विकास करने वाली गाड़ी के रूप में पहचान है। संक्षेप में, भारतीय रेल को देश का जीवन सूत्र कहा जा सकता है।

भारतीय रेलवे एशिया की सबसे बड़ी तथा संसार की दूसरी सबसे बड़ी रेल व्यवस्था है। भारत में सबसे पहले रेल व्यवस्था की शुरूआत बम्बई से थाणे के बीच (34 किमी.) 16 अप्रैल, 1853 को हुई थी। 34 किलोमीटर की दूरी से अपनी यात्रा शुरू करने वाली रेलवे वर्तमान में (1995-96) 62.9 किलोमीटर की यात्रा पूरी करती हुई निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

भारत में रेलवे प्रशासन

(RAILWAY ADMINISTRATION IN INDIA)

भारतीय रेल देश का सबसे बड़ा सार्वजनिक उपक्रम (Public Undertaking) है जिसमें 1994 मे 15,45,795 कर्मचारी कार्यरत थे। ऐसा कहा जाता है कि केन्द्रीय सरकार में कार्यरत कुल कर्मचारियों मे आधे तो रेलवे में ही कार्यरत है।

भारत में रेलवे गतिविधियों का संचालन रेल मन्त्रालय द्वारा किया जाता है जिसके शीर्ष पर रेलमन्त्री, उसका राजनीतिक अध्यक्ष और उसकी सहायता के लिए एक रेल राज्य मन्त्री होता है। कभी-कभी उसकी सहायता के लिए एक उपमन्त्री भी नियुक्त किया जाता है। रेल मन्त्रालय के इस राजनीतिक व नीति-निर्माता अंग से नीचे विभागीय पद्धति पर गठित इस सार्वजनिक उपक्रम का प्रबन्ध एक उच्च स्तरीय प्रबन्ध मण्डल द्वारा किया जाता है, जिसे **'रेलवे बोर्ड'** (Railway Board) के नाम से पुकारा जाता है।

भारत में रेल मन्त्रालय अवश्य है, किन्तु व्यवहार में रेलवे बोर्ड ही वह सर्वोच्च सत्ता है जो रेलों की प्रशासनिक देखभाल और उनका निर्देशन करता है। रेलवे बोर्ड रेल मन्त्रालय

के रूप में भी कार्य करता है जो भारतीयों रेलों के नियमन, संचालन, रक्षण, निर्माण आदि के लिए उत्तरदायी है।

रेलवे बोर्ड : उद्‌भव एवं ऐतिहासिक विकास
(RAILWAY BOARD : ORIGIN AND HISTORICAL EVOLUTION)

अपने शुरूआती दिनों में भारत में रेल एक अंग्रेजी कम्पनी चलाती थी। सन् 1869 में पहली बार भारत सरकार ने सीधे रेलों के निर्माण एवं स्वामित्व की नीति का सूत्रपात किया। इसी नीति के अन्तर्गत 1874 में रेल प्रशासन से सम्बन्धित क्रियाकलापों को एक 'राज्य रेलवे निदेशालय' (Directorate of State Railways) को हस्तान्तरित कर दिया गया। सन् 1905 तक रेलवे सम्बन्धी मामलों की देखभाल सार्वजनिक निर्माण विभाग (P. W. D.) की एक शाखा द्वारा किया जाता था। यह व्यवस्था असन्तोषजनक सिद्ध हुई और 1901 में 'स्पेशल कमिश्नर फॉर इण्डियन रेलवेज' (रावर्टसन समिति भी कहते हैं) की नियुक्ति इस बात की जांच करने के लिए की गई कि रेल प्रशासन में सुधार हेतु सुझाव-प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। इस समिति ने 1903 में यह सिफारिश की कि भारत में रेल प्रशासन के संचालन हेतु एक **'रेलवे बोर्ड'** की स्थापना की जाए। समिति की सिफारिश थी कि यदि भारत में रेलवे प्रवन्ध व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन करना है तो वोर्ड में ऐसे सदस्यों को नियुक्त किया जाना चाहिए जिन्हें रेलवे कार्यों का व्यावहारिक अनुभव एवं ज्ञान हो। 18 फरवरी, 1905 को भारत की ब्रिटिश सरकार के एक प्रस्ताव द्वारा **'रेलवे बोर्ड'** की स्थापना की गई।

इसी वर्ष भारतीय रेलवे वोर्ड अधिनियम पारित कर रेलवे वोर्ड को वैधानिक आधार प्रदान कर दिया गया। इन्हीं दिनों रेलवे के नियन्त्रण एवं संचालन का दायित्व सार्वजनिक निर्माण विभाग से रेलवे वोर्ड को हस्तान्तरित कर दिया गया तथा साथ ही रेलवे वोर्ड को वाणिज्य तथा उद्योग विभाग के तत्वावधान में रख दिया गया। पहली बार जब रेलवे बोर्ड का गठन किया गया तो उसमें एक चेयरमैन तथा दो सदस्य नियुक्त किए गए। ये सभी रेल मामलों के विशेषज्ञ थे। चेयरमैन को सभी मामलों पर निर्णय लेने का दायित्व सौंपा गया तथापि उसके सभी निर्णयों का पुष्टिकरण समूचे वोर्ड द्वारा आवश्यक था। शीघ्र ही यह महसूस किया गया कि कतिपय कारणों से वोर्ड ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पा रहा है। ये कारण थे—(i) वोर्ड के चयेरमैन के पास समुचित आवश्यक शक्तियों का अभाव होना; (ii) वाणिज्य तथा उद्योग विभाग द्वारा रेलवे वोर्ड एवं गवर्नर-जनरल-इन काउन्सिल के मध्य हस्तक्षेप करते रहना आदि। अतः इन वाधाओं को दूर करने के लिए 1908 में रेलवे वोर्ड को 'स्वायत्त विभाग' (Autonomous Department) में परिवर्तित कर दिया गया; चेयरमैन को ऐसे अधिकार प्रदान कर दिए गए ताकि वह अपने साथियों के निर्णयों को रद्द (over-rule) कर सके चेयरमैन की स्थिति विभाग के अध्यक्ष की भांति बना दी गयी ताकि वह गवर्नर जनरल एवं उसकी परिषद के सदस्यों से सीधे मिल सके।

सन् 1921 में रेलवे वोर्ड के पुनर्गठन हेतु सुझाव देने के लिए 'ऑकवर्थ समिति' (Ackworth Committee) नियुक्त की गई। इस समिति ने अनेक सिफारिशें कीं जिनमें से अधिकांश को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। ये सिफारिशें थीं—(1) 1922 में एक 'रेलवे आयुक्त' की नियुक्ति कर दी गयी और उसे समस्त नीतिगत और निर्णयात्मक मामलों में सर्वोच्च शक्तियां प्रदान की गयीं। अपने साथियों के विचारों को रद्द करते हुए वह निर्णय

लेने में सक्षम था। (ii) अप्रैल, 1923 मे 'वित्त आयुक्त' के पद का सृजन किया गया जिसे वित्तीय मामलो में निर्णय लेने की पूरी शक्ति प्रदान की गयी। बोर्ड के सदस्य के रूप में वह रेलवे से सम्बन्धित मामलों पर पूरा नियन्त्रण रखने की स्थिति में था। उसकी स्थिति विशिष्ट थी क्योंकि वह गवर्नर जनरल की परिषद के वित्त सदस्य से सीधे सम्पर्क में रहता था। यदि वित्तीय मामलो पर वित्त आयुक्त और रेल विभाग के बीच मतभेद होते तो वह अपनी विशिष्ट स्थिति का लाभ उठाकर रेल प्रशासन को अपनी बात मनवाने की स्थिति में था। (iii) इन सुधारों का प्रमुख उद्देश्य रेलवे बोर्ड के सदस्यो को रेलों से सम्बन्धित सामान्य-दैनिक प्रशासनिक कार्यों से मुक्त करना था ताकि वे अपना अधिकाश समय नीतिगत मामलों पर लगा सके। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बोर्ड की प्रत्येक शाखा को एक-एक उत्तरदायी निदेशक के नियन्त्रण में रख दिया गया। ये निदेशक सिविल इन्जीनियरिंग, मैकेनिकल इन्जीनियरिंग, ट्रैफिक, स्थापना तथा वित्त शाखाओ के दैनिक कामकाज का संचालन करते थे। (iv) रेलवे बजट को सामान्य बजट से पृथक् कर दिया गया। ऑकवर्थ समिति की इस सिफारिश को कि 'रेलवे बोर्ड' का नाम बदलकर 'रेलवे आयोग' कर दिया जाए, तत्कालीन सरकार ने स्वीकार नहीं किया।

संक्षेप में, इस पुनर्गठन (1923-24) के बाद रेलवे बोर्ड में एक चीफ कमिश्नर, वित्त आयुक्त तथा दो सदस्य थे। इन सदस्यो मे से एक तकनीकी मामलो को देखता था तथा दूसरा सामान्य प्रशासन, कार्मिक तथा यातायात सम्बन्धी कार्यो को। बोर्ड के चेयरमैन की हैसियत से 'चीफ कमिश्नर' को रेलवे विभाग में भारत सरकार के पदेन-सचिव की स्थिति प्रदान कर दी गयी। 1926 में रेलवे बोर्ड में एक सदस्य की और नियुक्ति कर दी गयी थी तथा उसे स्थापना एव यातायात सदस्य के कार्यभार को हल्का कर कार्मिक व स्थापना सम्बन्धी कार्य सौंप दिए गए। सन् 1938 में भारत सरकार ने एक नए 'संचार विभाग' का गठन किया और रेलवे बोर्ड को प्रशासनिक दृष्टि से इसी विभाग के अन्तर्गत रख दिया गया। अतः संचार विभाग का सचिव भी रेलवे बोर्ड का पदेन-सदस्य बन गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान एक नया विभाग 'युद्ध यातायात विभाग' का गठन किया गया तथा रेलवे बोर्ड को इस विभाग के नियन्त्रण मे हस्तान्तरित कर दिया गया तथा इस विभाग के सचिव ने संचार विभाग के सचिव के स्थान पर बोर्ड के पदेन सदस्य का स्थान ग्रहण कर लिया। यह व्यवस्था 15 अगस्त, 1947 तक चलती रही और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दोनों विभाग—रेलवे और यातायात एक ही मन्त्री—रेल एवं यातायात मन्त्री के नियन्त्रण में सौंप दिए गए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् रेलवे बोर्ड
(RAILWAY BOARD AFTER INDEPENDENCE)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् 1951 में रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन किया गया। चीफ कमिश्नर का पद समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान पर 'चेयरमैन रेलवे बोर्ड' का पद सृजित किया गया तथा इसे बोर्ड का वरिष्ठतम कार्यात्मक सदस्य भी बनाया गया। अब चेयरमैन का कार्य रेलवे बोर्ड के सदस्यों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना तथा वह बोर्ड के अन्य सदस्यों के निर्णयों को रद्द भी नहीं कर सकता था। इस पुनर्गठित बोर्ड में दो अन्य कार्यात्मक सदस्य बने रहे तथा वित्तीय कमिश्नर को यह दायित्व सौंपा गया कि वह रेलवे सम्बन्धी वित्तीय मसलों और दायित्वों का निर्वाह करेगे। वित्तीय सदस्य को रेल मन्त्रालय में पदेन सचिव का दर्जा भी प्रदान कर दिया गया। अक्टूबर, 1954 में बोर्ड में एक और सदस्य बढ़ा दिया गया

तथा बोर्ड के चेयरमैन के कार्य तथा अधिकार पूर्व के बोर्ड के 'चीफ कमिश्नर' के समान कर दिए गए। सन् 1956 में रेलवे बोर्ड के लिए 'सचिव' का पद सृजित किया गया जो कि वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी होता था। 1956 में ही रेलवे बोर्ड में 5 अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति की गई जिनका दर्जा 'महाप्रवन्धक रेलवे' के समतुल्य था। ये पांच सदस्य थे—(1) सिविल इन्जीनियरिंग, (2) मैकेनिकल वर्कशॉप, (3) रेलवे विकास, (4) वाणिज्य से सम्बन्धित मामलों की देखभाल, तथा (5) लेखा व्यवस्था। अगस्त 1958 में रेलवे बोर्ड के चेयरमैन को भारत सरकार के 'प्रमुख सचिव' के बराबर का दर्जा प्रदान कर दिया गया तथा अन्य सदस्यों का दर्जा मन्त्रालय मे 'पदेन-सचिव' के बराबर मान लिया गया। 1964 में एक 'अतिरिक्त सतर्कता सदस्य' की नियुक्ति की गई जिसे रेलवे के सतर्कता संगठन का प्रभारी बनाया गया। उसके बाद इस पद को 'महानिदेशक' (सतर्कता) के नाम से जाना जाता है।

1968 में रेलवे बोर्ड का गठन एक चेयरमैन तथा चार अन्य सदस्यों से किया गया और प्रत्येक को निम्नांकित विभागों का प्रभारी बनाया गया—

1. चेयरमैन — सामान्य प्रशासन, यातायात, वाणिज्य, सुरक्षा, जन-सम्पर्क तथा नियोजन
2. वित्त आयुक्त — वित्त, बजट, दक्षता ब्यूरो, सांख्यिकी तथा आर्थिक संभाग।
3. सदस्य इन्जीनियरिंग — सिविल इन्जीनियरिंग, संकेत एवं दूर संचार, अनुसन्धान, डिजाइन एवं मानक संगठन।
4. सदस्य मैकेनिकल — मैकेनिकल तथा इलेक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग व स्टोर्स।
5. सदस्य स्टाफ — कार्मिक मामले, राजपत्रित अधिकारियों की भर्ती, प्रशिक्षण एवं सतर्कता।

1977 में जब मधु दण्डवते रेलवे मन्त्री थे तो प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंसाओं को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने राज्य सभा में रेलवे बोर्ड के पुनर्गठन की घोषणा की। इस घोषणा की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. रेलवे बोर्ड के सदस्यों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा—चेयरमैन, वित्त आयुक्त तथा तीन अन्य सदस्य बने रहेंगे।

2. बोर्ड के अतिरिक्त सदस्यों के पद समाप्त कर दिए जाएंगे। आठ अतिरिक्त सदस्यों के स्थान पर चेयरमैन, वित्त आयुक्त तथा सदस्य इन्जीनियरिंग को सहायता प्रदान करने के लिए तीन सलाहकार के पद सृजित किए जाएंगे।

3. जब तक वर्तमान पदधारी सेवा निवृत्त नही होता तब तक 'अतिरिक्त सदस्य स्वास्थ्य' का पद बना रहेगा। उसके बाद यह पद 'महानिदेशक रेलवे स्वास्थ्य सेवा' के नाम से जाना जायेगा।

रेलवे बोर्ड की वर्तमान संरचना
(PRESENT COMPOSITION OF THE RAILWAY BOARD)

वर्तमान में रेलवे बोर्ड एक अध्यक्ष (Chairman), एक वित्त आयुक्त (Financial Commissioner for Railway), 5 अन्य कार्यात्मक सदस्यों (Functional Members) तथा एक सचिव से मिलकर गठित होता है।

रेलवे बोर्ड की समस्त गतिविधियां बोर्ड के अध्यक्ष के नेतृत्व में संचालित होती हैं। चेयरमैन स्वयं एक कार्यकारी सदस्य होता है और उसे भारत सरकार के प्रमुख सचिव का दर्जा प्राप्त है। यही रेलवे विभाग का प्रशासनिक अध्यक्ष भी होता है और रेलवे सम्बन्धी नीति निर्धारण में रेल मन्त्री को परामर्श देता है। वित्त आयुक्त के अतिरिक्त बोर्ड के अन्य सदस्यों के विचारों को वह रद्द (Over-rule) कर सकता है। अध्यक्ष की सहायता हेतु एक सचिव और अन्य कार्यकारी सदस्य हैं—वित्त आयुक्त, सदस्य बिजली, सदस्य यातायात, सदस्य कार्मिक, सदस्य इन्जीनियरी तथा सदस्य यान्त्रिक। ये सभी सदस्य कार्यकारी सदस्य भी होते हैं और अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट दायित्वों का निर्वाह करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। बोर्ड के अन्य सदस्यों का दर्जा भारत सरकार के पदेन-सचिव के समतुल्य होता है।

रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की सिफारिश पर रेलमन्त्री द्वारा की जाती है। वर्तमान में बोर्ड के सदस्यों का कार्यकाल पांच वर्ष है, किन्तु सेवा निवृत्ति आयु पूरी होने पर उन्हें पूर्व में भी सेवानिवृत्त किया जा सकता है।

रेलवे बोर्ड के सचिव का दर्जा भारत सरकार के संयुक्त सचिव के समान है। वह मन्त्रालय के सामान्य प्रशासन, शाखाओं में समन्वय, रेल मन्त्रालय व अन्य मन्त्रालयों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है। इसके अलावा, वह बोर्ड सचिवालय में स्थापना शाखा से सम्बन्धित कार्यों की देखभाल करता है। उसे सहायता देने के लिए संयुक्त सचिव, उप सचिव तथा अवर सचिव होते हैं।

वर्तमान में रेलवे बोर्ड को उसके कार्यों में सहायता देने के लिए तीन महानिदेशक हैं—

1. महानिदेशक—अनुसन्धान, अभिकल्प और मानक संगठन
2. महानिदेशक—रेल स्वास्थ्य सेवाएं
3. महानिदेशक—रेलवे सुरक्षा बल

सम्पूर्ण भारत में रेलवे को 15 क्षेत्रीय भागों में विभक्त किया गया है इससे पूर्व 9 क्षेत्रीय भाग ही थे। वर्ष 1996-97 का रेलवे बजट प्रस्तुत करते हुए रेलमन्त्री श्री रामविलास पासवान ने 6 नए क्षेत्र (Zones) गठित करने की घोषणा की। इससे रेलवे के क्षेत्रों की संख्या बढ़कर 15 हो गई। प्रस्तावित 6 नए क्षेत्रों के मुख्यालय—इलाहाबाद, जयपुर, बंगलौर, हाजीपुर, जबलपुर व भुवनेश्वर में रखे गए हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय भाग एक महाप्रबन्धक के अधीन काम करता है।

रेलवे बोर्ड की कार्य-प्रणाली
(WORKING OF THE RAILWAY BOARD)

रेलवे बोर्ड की सप्ताह में दो बार बैठक होती है। किसी महत्वपूर्ण मुद्दे पर विचार करने के लिए सप्ताह मे दो से भी अधिक बार बैठक हो सकती है। बोर्ड की बैठक चेयरमैन द्वारा आमन्त्रित की जाती है और वही उनकी अध्यक्षता भी करता है। बैठक की कार्यसूची चेयरमैन द्वारा बोर्ड के सदस्यों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए बनायी जाती है। जिन मुद्दों पर विचार-विमर्श किया जाता है उनसे सम्बन्धित टिप्पणियां तैयार करके बोर्ड का सचिव कार्यसूची को सदस्यों को भेज देता है। बोर्ड का सचिव प्रत्येक बैठक की कार्यवाही को लेखबद्ध करता है तथा प्रारूप को चेयरमैन व सदस्यों की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता है। बैठकों में लिए

गए निर्णयों की स्वीकृति के बाद उनका सार सम्बन्धित फाइल में रखा जाता है तथा कार्यवाही हेतु सम्बन्धित निदेशक को भेज दिया जाता है।

जब भी आवश्यकता होती है पूरे रेलवे बोर्ड की रेलमन्त्री के साथ बैठक आयोजित की जाती है। मन्त्री द्वारा प्रस्तुत नीति सम्बन्धी मसलों पर ऐसी बैठकों में विचार किया जाता है और निर्णय लिए जाते हैं।

सभी नीति सम्बन्धी तथा महत्वपूर्ण मसले बोर्ड के चेयरमैन के माध्यम से मन्त्री के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं। बोर्ड का चेयरमैन बोर्ड के सदस्यों में आन्तरिक समन्वय स्थापित करने के लिए उत्तरदायी है। वही रेल मन्त्रालय का प्रशासनिक अध्यक्ष है, अतः तकनीकी एवं प्रशासनिक मामलों में नीति सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए सरकार को सहायता करता है। वित्त कमिश्नर के अतिरिक्त अन्य सदस्यों के निर्णयों को चेयरमैन रद्द कर सकता है। यदि किसी वित्त सम्बन्धी मसले को लेकर वित्त कमिश्नर तथा चेयरमैन के मध्य मतभेद उत्पन्न हो जाए तो चेयरमैन यह मांग कर सकता है कि मामले को रेल मन्त्री तथा वित्त मन्त्री के विचारार्थ, प्रस्तुत किया जाए। इस प्रकार बोर्ड के चेयरमैन को वही कार्य एवं शक्तियां प्राप्त हैं जो उसे 1 अप्रैल, 1951 से पूर्व प्राप्त थीं।

वित्त कमिश्नर तथा अन्य सदस्य उन तकनीकी मामलों को देखते हैं जिनके वे प्रभारी हैं। वित्त कमिश्नर वस्तुतः वित्त मन्त्रालय का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति होता है और उसे रेलवे व्यय से सम्बन्धित स्वीकृति प्रदान करने की पूरी शक्ति प्राप्त होती है। ऐसा कोई भी प्रस्ताव जो रेल व्यय अथवा रेल राजस्व को प्रभावित करने वाला हो तब तक वैधता नहीं रखता जब तक कि वित्त कमिश्नर की स्वीकृति प्राप्त न हो जाए। यदि रेलवे से सम्बन्धित किसी वित्त प्रस्ताव से वह सहमत न हो अथवा यदि रेल मन्त्री द्वारा प्रस्तावित किसी वित्तीय प्रस्ताव से वह असहमत हो तो वह ऐसे मामलों को सीधा वित्त मन्त्री को भेज सकता है। इसी प्रकार रेलवे बोर्ड के अन्य सदस्य किसी न किसी तकनीकी विभाग के प्रभारी होते हैं, वे सम्बन्धित तकनीकी विभाग के बारे में आवश्यक निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र हैं, किन्तु यदि किसी तकनीकी विभाग का निर्णय दूसरे विभाग को प्रभावित करता है और उसका प्रभारी अन्य सदस्य है तो ऐसे मामलों में कार्यवाही करते समय उसकी स्वीकृति अवश्य ली जानी चाहिए।

रेलवे बोर्ड के कार्य
(FUNCTIONS OF THE RAILWAY BOARD)

रेलवे बोर्ड के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं—

(1) **रेल मन्त्रालय सम्बन्धी कार्य** (Functions as the Ministry of Railways)—रेलवे प्रशासन में रेलवे बोर्ड शिखरस्थ संस्था है और यह रेल मन्त्रालय सम्बन्धी कार्य करता है। एक संयुक्त निकाय के रूप में समस्त नीति सम्बन्धी मामलो में बोर्ड रेल मन्त्री को परामर्श देता है। रेलवे बोर्ड रेल नीति के निर्माण तथा रेल मन्त्रालय के कार्यों का योजना आयोग एवं अन्य मन्त्रालयों से समन्वय में सहयोग करता है। सामान्यतया नीति सम्बन्धी कम महत्वपूर्ण मसले रेलवे बोर्ड के सदस्य व्यक्तिगत रूप से सीधे ही रेल मन्त्री के सम्मुख प्रस्तुत कर आवश्यक निर्देश प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण मामले बोर्ड के अध्यक्ष के माध्यम से रेल मन्त्री के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं।

(2) **प्रशासनिक कार्य (Executive Functions)**—रेलवे बोर्ड रेल प्रशासन की शिखरस्थ प्रशासनिक संस्था है। यही क्षेत्रीय रेलों के अधीक्षण एवं समन्वय का कार्य करता है। रेल व्यवस्था के विकास एवं रेल से सम्बन्धित नई योजनाओं का क्रियान्वयन भी रेलवे बोर्ड ही करता है।

(3) **रेल बजट सम्बन्धी कार्य** *(Budgetary Functions)*—रेलवे का बजट बनाने में बोर्ड महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। बोर्ड ही रेलवे का वार्षिक बजट तैयार करता है जिसे रेल मन्त्री संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। चूंकि रेलवे वित्त केन्द्रीय सरकार के सामान्य वित्त से पृथक् कर दिया गया है, इसलिए रेलवे का बजट अलग से पेश किया जाता है।

(4) **रेल कार्मिकों सम्बन्धी कार्य (Rail Personnel Functions)**—रेलवे भारत सरकार का सबसे बड़ा कार्मिक नियोजक विभाग है। अतः इस मन्त्रालय मे भर्ती, सेवा शर्तें, पदोन्नति सम्बन्धी नीति निर्धारण मे रेलवे बोर्ड प्रमुख भूमिका का निर्वाह करता है। कार्मिकों के चयन के लिए रेलवे के अपने 'रेलवे चयन बोर्ड' हैं।

रेलवे बोर्ड की विशेषताएं
(SALIENT FEATURES OF RAILWAY BOARD)

रेलवे बोर्ड के उद्भव, संगठन एवं कार्यों के विवेचन से इसकी निम्नांकित विशेषताएं उभर कर हमारे सामने आती हैं—

(1) रेलवे बोर्ड एक सामूहिक निकाय है।

(2) बोर्ड का प्रत्येक सदस्य कार्यात्मक है और उसका दायित्व है कि वह प्रत्येक प्रश्न और समस्या पर विचार करे।

(3) रेलवे बोर्ड में सचिवालयी तथा प्रशासनिक (लाइन तथा स्टाफ कार्य) कार्यों का सामंजस्य कर दिया गया है।

(4) बोर्ड विशेषज्ञों की संस्था है, इसके अधिकांश सदस्य इन्जीनियर्स हैं।

(5) **बोर्ड के अध्यक्ष** (Chairman) को व्यापक अधिकार दिए गए हैं। सम्पूर्ण रेलवे प्रशासन मे समन्वय और देखभाल का दायित्व उसी का है।

(6) बोर्ड भारत सरकार के मन्त्रालय के रूप में कार्य करता है। इस हैसियत से वह केन्द्रीय सरकार की समस्त शक्तियों का प्रयोग करता है।

(7) नीति सम्बन्धी मामलों में बोर्ड एक सामूहिक निकाय के रूप मे कार्य करता है।

रेलवे बोर्ड की भूमिका का मूल्यांकन
(AN ESTIMATE OF THE ROLE OF RAILWAY BOARD)

रेलवे भारत का सबसे विशाल सार्वजनिक उपक्रम है जिसके संचालन का दायित्व रेलवे बोर्ड के कन्धों पर है, किन्तु रेल उपक्रम घाटे में चल रहा है। ऐसी स्थिति मे रेलवे बोर्ड के पुनर्गठन के बारे में समय-समय पर सुझाव आते रहे हैं। 1947 में कुंजरू समिति ने सुझाया था कि रेलवे बोर्ड के स्थान पर 'स

वांचू जांच समिति का कहना था ...

को समाप्त करने के लिए रेलवे बोर्ड को एक स्वायत्तशासी निगम में परिवर्तित कर दिया

जाना चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी 1970 में अपने रेलवे सम्बन्धी प्रतिवेदन में रेलवे के लिए 'निगम प्रारूप' को ही उचित ठहराया था। आयोग का यह भी सुझाव था कि रेलवे बोर्ड में कुल मिलाकर छः से अधिक सदस्य नहीं होने चाहिए तथा अतिरिक्त सदस्यों के पद समाप्त कर दिए जाने चाहिए। रेलवे बोर्ड जितनी लघु संस्था होगी उतनी ही अधिक चुस्त और प्रभावी होगी।

संक्षेप में, रेलवे बोर्ड ही वह सर्वोच्च सत्ता है जो रेलो की प्रशासनिक देखभाल और उनका निदेशन करती है। रेलवे बोर्ड का कार्य संचालन भारत सरकार के मन्त्रालय की भांति ही होता है।

प्रश्न

1. रेलवे बोर्ड के संगठन एवं कार्यों को बताइए। (राजस्थान, 1992, 94)
2. रेलवे बोर्ड पर एक टिप्पणी लिखिए। (अजमेर, 1994)
3. रेलवे मण्डल के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए। (राजस्थान, 1998)

19

भारत का रिजर्व बैंक : संगठन, कार्य तथा भूमिका

[RESERVE BANK OF INDIA : ORGANIZATION, FUNCTIONS AND ROLE]

रिजर्व बैंक की स्थापना
(ESTABLISHMENT OF RESERVE BANK)

भारत में 1 अप्रैल, 1935 से पूर्व कोई केन्द्रीय बैंक नही थी। अतः हिल्टन यंग आयोग ने 1926 में, केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति ने 1931 में, व 1933 के गोलमेज सम्मेलन ने यह सिफारिश की कि भारत में एक केन्द्रीय बैंक होनी चाहिए। अतः 8 सितम्बर, 1933 को केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बिल विचार हेतु प्रस्तुत किया गया जो कुछ समय बाद पास हो गया तथा इस पर 6 मार्च, 1934 को वायसराय के हस्ताक्षर हो गए। इसके परिणामस्वरूप 1 अप्रैल, 1935 से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हो गयी।

इस बैंक की अधिकृत पूंजी 5 करोड़ रुपए थी जो 100 रुपए वाले 5 लाख अंशों में विभक्त थी जिसमें से 2.20 लाख रुपए के अंश केन्द्रीय सरकार ने लिए थे तथा शेष निजी अंशधारियों के द्वारा लिए गए, लेकिन आर्थिक नियोजन की आवश्यकता को देखते हुए इस बैंक का 1 जनवरी, 1949 में राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और सरकार ने सभी 5 लाख अंशों को स्वयं क्रय कर लिया। इस प्रकार वर्तमान में इसकी अधिकृत व पूर्णदत्त पूंजी 5 करोड़ रुपए है।

रिजर्व बैंक का संगठन एवं प्रबन्ध
(ORGANIZATION AND MANAGEMENT OF RESERVE BANK)

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय निदेशक मण्डल करता है जिसके 20 सदस्य होते हैं—एक गवर्नर व चार डिप्टी-गवर्नर केन्द्रीय सरकार द्वारा, चार संचालक स्थानीय मण्डलों द्वारा, दस संचालक व एक अधिकारी भारत सरकार द्वारा नियुक्त या मनोनीत किए जाते है। गवर्नर व डिप्टी-गवर्नर का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है, लेकिन उन्हें पुनः नियुक्त किया जा सकता है। दस संचालकों का कार्यकाल 4 वर्ष का होता है, लेकिन स्थानीय मण्डलों द्वारा मनोनीत

संचालक स्थानीय मण्डल की सदस्यता के काल में ही संचालक रह सकते हैं तथा सरकारी अधिकारी सरकार द्वारा निर्धारित समय के लिए ही संचालक वन सकता है। वैंक के गवर्नर व डिप्टी-गवर्नर वैंक के पूर्णकालिक अधिकारी होते हैं और उन्हें निर्धारित वेतन दिया जाता है। शेष संचालक पूर्णकालिक नहीं होते हैं। उन्हें केवल वैठक या सभाओं में भाग लेने के लिए यात्रा व्यय व भत्ते दिए जाते हैं।

केन्द्रीय निदेशक मण्डल के अतिरिक्त बैंक के चार स्थानीय मण्डल बम्बई, कलकत्ता, मद्रास व नई दिल्ली में हैं। प्रत्येक मण्डल में 5-5 सदस्य होते हैं जिन्हें भारत सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है।

रिजर्व बैंक का केन्द्रीय कार्यालय वम्बई में है। इसके अतिरिक्त नयी दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई व मद्रास में इसके स्थानीय प्रधान कार्यालय (Local Head Office) हैं तथा अहमदावाद, भुवनेश्वर, गोहाटी, जयपुर, वंगलौर, हैदरावाद, कानपुर, नागपुर, पटना, वम्बई, भोपाल, चण्डीगढ़, जम्मू व तिरुवनन्तपुरम में शाखाएं (Branches) हैं।

रिजर्व बैंक के संगठन व प्रशासन की दृष्टि से निम्न विभाग (Departments) हैं—

(1) सेविवर्ग नीति विभाग, (2) मुद्रा प्रवन्ध विभाग, (3) व्यय एवं बजट नियन्त्रण विभाग, (4) सरकार एवं वैक खाते विभाग, (5) ग्रामीण नियोजन एवं साख विभाग. (6) बैंकिंग परिचालन व विकास विभाग, (7) वित्तीय कम्पनियों का विभाग, (8) सांख्यिकी विश्लेषण एवं कम्प्यूटर सेवाएं, (9) आर्थिक विश्लेषण एवं नीति विभाग, (10) विनिमय नियन्त्रण विभाग, (11) औद्योगिक एवं निर्यात साख विभाग, (12) निरीक्षण विभाग, (13) प्रवन्धकीय सेवा विभाग, (14) परिसर विभाग, (15) वाह्य निवेश एवं परिचालन विभाग, (16) सचिव का विभाग एवं (17) शहरी बैंक विभाग।

रिजर्व बैंक के कार्य
(FUNCTIONS OF RESERVE BANK)

रिजर्व बैंक के कार्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(I) केन्द्रीय बैंक के कार्य व (II) व्यापारिक बैंक के कार्य।

(I) केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of Central Bank)

(1) नोट निर्गमन (Notes Issue)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है। यह बैंक 2, 5, 10, 20, 50, 100, 500 रुपए के नोट निकाल सकती है जिसके लिए न्यूनतम कोष पद्धति को अपनाया जाता है। नोट निर्गमन के लिए रिजर्व बैंक के पास कम से कम 200 करोड़ रुपए का कोष होना आवश्यक है जिसमें 115 करोड़ रुपए का स्वर्ण होना चाहिए। शेष राशि विदेशी प्रतिभूतियों में हो सकती है।

(2) साख नियमन (Credit Regulation)—रिजर्व बैंक का दूसरा कार्य साख नियमन
वाजार की क्रियाएं, (iii) नकद कोषों के
, (v) चयनात्मक साख नियन्त्रण, (vi) विल वाजार योजना, (vii) वहुमुखी व्याज दरें, (viii) नैतिक दवाव नीति, आदि के माध्यम से किया जा सकता है। इन सभी का विस्तृत विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

(3) **सरकारी बैंकर, प्रतिनिधि एवं सलाहकार** (Government banker, Representative and Advisor)—यह बैंक भारत सरकार व राज्य सरकारों के बैंकर, प्रतिनिधि व सलाहकार का कार्य करता है तथा सरकारों की समस्त आय अपने पास जमा करता है, व्ययों का भुगतान करता है व ऋण की व्यवस्था करता है। इसके द्वारा सार्वजनिक ऋण, कृषि वित्त, औद्योगिक वित्त, सहकारिता, पूंजी विनियोग, पंचवर्षीय योजनाओं के सम्बन्ध में वित्तीय पहलुओं, आदि के बारे में सरकार को सलाह दी जाती है।

(4) **विदेशी विनिमय का नियमन** (Regulation of Foreign Exchange)—रिजर्व बैंक का चौथा कार्य विदेशी विनिमय का नियमन करना है। इसके लिए यह रुपए की बाह्य दर को बनाए रखने के लिए कार्य करता है। विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों के लिए विनिमय की व्यवस्था करता है।

(5) **बैंकों का बैंक** (Bankers' Bank)—रिजर्व बैंक को बैंक के नियमन का अधिकार है। कोई भी नई बैंक बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के स्थापित नहीं हो सकती और न पुरानी बैंक अपनी नई शाखाएं ही खोल सकती है। वह बैंकों के बिलों को भुनाती है। उनके समाशोधन की व्यवस्था करती है तथा उनकी साख नीति को निर्धारित करती है। रिजर्व बैंक के द्वारा बैंकों द्वारा अवांछनीय कार्यों को करने से रोका जाता है। उनके निरीक्षण की व्यवस्था की जाती है व आवश्यकता पड़ने पर उनको ऋण दिया जाता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक बैंकों का बैंक है, उनकी शुभचिन्तक है, तथा संरक्षक एवं नियन्त्रक सभी कुछ है।

(6) **ग्रामीण नियोजन एवं साख** (Rural Planning and Credit)—रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को कृषि वित्त व्यवस्था करने का भार दिया गया था जिसके लिए इस बैंक ने अपने यहां कृषि वित्त विभाग की स्थापना की थी। यह विभाग कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करता था तथा उनको हल करने के लिए केन्द्रीय व राज्य सरकारों को सलाह देता था एवं कृषि वित्त सम्बन्धी विभिन्न बैंकों तथा उनके कार्यों में समन्वय स्थापित करता था, लेकिन 12 जुलाई, 1982 को राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना होने से इस विभाग के सारे कार्य इस बैंक को हस्तान्तरित कर दिए गए हैं। अतः अब नया ग्रामीण नियोजन एवं साख विभाग बनाया गया है जो ग्रामीण नियोजन एवं साख के सम्बन्ध में कार्य करता है।

(7) **आंकड़ों का संकलन एवं प्रकाशन** (Collection and Publication of Statistics)—इस बैंक का सातवां कार्य मुद्रा, साख, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, विदेशी व्यापार, भुगतान सन्तुलन, औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन, मूल्य प्रवृत्तियां, आदि के सम्बन्ध में आंकड़ों का संकलन एवं उनका प्रकाशन करना है।

(8) **प्रशिक्षण की व्यवस्था** (Organization of Training)—रिजर्व बैंक ने अपने अधिकारियों व अन्य बैंको के अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी कर रखी है। इसके लिए रिजर्व बैंक का 'Bankers' Training College' है।

(II) व्यापारिक बैंक के कार्य *(Functions of a Commercial Bank)*

रिजर्व बैंक साधारण बैंकिंग कार्य भी करता है जो कि एक व्यापारिक बैंक द्वारा किए जाते हैं। यह कार्य अग्रलिखित है—

(1) केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, बैकों, सस्थाओं व व्यक्तियों से विना व्याज के जमा स्वीकार करना, (2) भारत में शोधनीय अधिकतम 90 दिन की अवधि के ऐसे व्यापारिक बिलों एवं प्रतिज्ञापत्रों का क्रय एवं विक्रय करना तथा उनको पुनः भुनाना जिन पर दो श्रेष्ठ हस्ताक्षर हो (3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशों की केन्द्रीय वैको में खाता खोलना, (4) विश्व वैक के साथ लेन-देन करना, (5) स्वर्ण सिक्को एवं धातु का क्रय-विक्रय करना, (6) भारत में शोधनीय अधिकतम 35 माह की अवधि के दो श्रेष्ठ हस्ताक्षरों से युक्त कृषि बिलों व प्रोनोटों को क्रय करना, उनका विक्रय करना एवं उनकी पुनः कटौती करना, (7) भारत के वाहर अन्य किसी देश की ऐसी प्रतिभूतियों को खरीदना जो क्रय की तारीख से 10 वर्ष के अन्दर शोधनीय हों, (8) मुद्रा प्रतिभूतियों व आभूषणों आदि को सुरक्षित रखना, (9) अधिकतम 30 दिन की अवधि के लिए अधिक से अधिक अपनी कुल पूंजी की राशि तक के ऋण अन्य देशों के केन्द्रीय वैक या अपने ही सदस्य वैकों से लेना, (10) सदस्य बैंकों से दो लाख या इससे अधिक की राशि के विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना।

रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण
(CREDIT CONTROL BY RESERVE BANK)

भारत में साख नियन्त्रण के लिए रिजर्व वैक द्वारा निम्न रीतियां या उपाय समय-समय पर अपनाए गए है—

(1) **बैंक दर** (Bank Rate)—रिजर्व वैक अन्य व्यापारिक वैकों को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है तथा उनके प्रथम श्रेणी के विलों को भुनाता है। जिस दर पर यह ऋण दिए जाते है तथा प्रथम श्रेणी के विलों को भुनाया जाता है, उसे वैंक दर (Bank Rate) कहते हैं। रिजर्व बैंक वैक दर मे समय-समय पर परिवर्तन कर साख नियन्त्रण करता है।

रिजर्व वैंक की दर उसकी अपनी स्थापना से 14 नवम्बर, 1951 तक 3 प्रतिशत रही, लेकिन मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण पाने के लिए इसको 15 नवम्बर, 1950 को वढ़ाकर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। 1957 में साख एवं भुगतान सन्तुलन सम्वन्धी स्थिति विगड़ने पर इसको 1 फरवरी, 1957 को पुनः बढ़ाकर 4 प्रतिशत कर दियां गया। 1962 में चीनी आक्रमण होने पर यह आवश्यक हो गया कि साख नियन्त्रण कठोरता से लागू किया जाए व सट्टे की प्रवृत्ति को रोका जाए अतः 1963 में इसको वढ़ाकर $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। इसमें भी पुनः परिवर्तन किए गए फलतः फरवरी 1971 में 6 प्रतिशत, 30 मई, 1973 को 7 प्रतिशत व 22 जुलाई, 1974 को 9 प्रतिशत व 11 जुलाई, 1982 को 10 प्रतिशत कर दिया गया। वर्तमान में रिजर्व वैंक की दर 10 प्रतिशत है। समय-समय पर वैंक दर में परिवर्तन होने से वैंक दर की प्रभावकता वढ़ गयी है अतः मुद्रा की पूर्ति लोचदार हो गयी है।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएं** (Open Market Operations)—खुले वाजार की क्रियाओं से अर्द्धसरकारी प्रतिभूतियों व प्रथम श्रेणी के विलों व प्रतिज्ञापत्रो आदि के क्रय एवं विक्रय से है। जब रिजर्व वैंक इन प्रतिभूतियो को वेचता है तो जनता के द्वारा इन्हें खरीदा जाता है जिससे जनता का धन इन प्रतिभूतियों में विनियोजित हो जाता है जिससे मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाती है। इसी प्रकार जब रिजर्व वैंक इन प्रतिभूतियो को खरीदता है तो इससे मुद्रा

की पूर्ति बढ़ जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि खुले बाजार की क्रियाओं का साख नियन्त्रण के लिए उपयोग किया जा सकता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को खुले बाजार की क्रियाओ को करने का अधिकार दिया गया है। रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का उपयोग प्रारम्भ से ही किया है। द्वितीय विश्व युद्ध के काल मे इसका प्रयोग सरकार की ऋण नीति को सफल बनाने हेतु किया गया, परन्तु युद्धोत्तर काल में साख नियमन करने के लिए इस अधिकार का उपयोग किया गया। जब से आर्थिक नियोजन प्रारम्भ किया गया तब से इस प्रकार की क्रियाएं करना रिजर्व बैंक के लिए आम बात हो गयी है।

(3) परिवर्तनशील नकद कोषानुपात (Variable Cash Reserve Ratio)—प्रत्येक अनुसूचित बैंक को रिजर्व बैंक के पास अपनी जमाओं का एक न्यूनतम निर्धारित प्रतिशत जमा करना पड़ता है। इस प्रतिशत में परिवर्तन करके रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण करता है। रिजर्व बैंक ने समय-समय पर नकद कोषों में परिवर्तन करके इस नीति को अपनाया है। वर्तमान में रिजर्व बैंक के पास अनुसूचित बैंकों द्वारा रखी जाने वाली न्यूनतम राशि का अनुपात 10.5 प्रतिशत है जिसे रिजर्व बैंक 20 प्रतिशत तक कर सकता है।[1]

(4) तरल कोषानुपात (Liquidity Ratio)—भारतीय बैंकिंग अधिनियम, 1949 की धारा24 के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी कुल जमा का कम से कम 20 प्रतिशत तरल रूप में रखना अनिवार्य है। यह कोष बैंक स्वयं अपने पास ही रखती है। 1962 मे इस अनुपात को बढ़ाकर 25 प्रतिशत कर दिया गया। वर्तमान में यह प्रतिशत 38.5 है।

(5) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा 21 के अनुसार रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह ऋणों की मात्रा व दिशा का नियमन करे। इसी को चयनात्मक नियन्त्रण कहते है। अभी तक रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का उपयोग तीन रूपों में किया है—(i) मूल्यान्तर (Margin) घटना या बढ़ना, (ii) कुछ वस्तुओं या कार्यों के लिए बैंकों द्वारा ऋण देना निषेध कर देना, (iii) बिना रिजर्व बैंक की पूर्व-अनुमति के ऋण स्वीकार न करना।

(6) बिल बाजार योजना (Bill Market Scheme)—देश में साख की मात्रा में वृद्धि करने के उद्देश्य से जनवरी 1952 से यह बिल बाजार योजना लागू की गयी जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को पूर्व-निर्धारित शर्तो पर हुण्डी व प्रोमिसरी नोटों के आधार पर ऋण देता था। 1964 में एक नवीन योजना "प्राथमिक क्षेत्रों के लिए साख की चयनात्मक उदार योजना" (Selective Liberalisation of Credit Scheme) लागू कर बिल बाजार योजना को पुनः आंशिक रूप से जीवित कर दिया गया। 1940 से रिजर्व बैंक ने बिल पुनर्कटौती योजना (Bill Rediscounting Scheme) भी लागू कर दी है। इस प्रकार बिल बाजार योजना आज भी कार्यरत है।

(7) पुनर्वित्त (Refinance)—रिजर्व बैंक ने नवम्बर 1975 से बहुमुखी ब्याज दरों वाली नीति के स्थान पर पुनर्वित्त नीति अपनायी है जिसके अन्तर्गत बैंकों के लिए उनकी कुल मांग व समय देनदारियों के 1% तक बेसिक उधार की सीमा लगायी गयी है।

1 Amendment in R. B. I. Act passed in Sept. 1990.

(8) नैतिक दबाव की नीति (Moral Suasion)—रिजर्व बैंक ने समय-समय पर बैंकों को समझा-बुझाकर एवं नैतिक दबाव डालकर भी साख नियन्त्रण का काम किया है। इसके लिए रिजर्व बैंक समय-समय पर अनुसूचित बैंकों के प्रतिनिधियों की बैठकें आमन्त्रित करता है तथा उन्हें निर्देश देता है। कभी-कभी गश्ती पत्रों के माध्यम से भी बैंकों को सलाह दी जाती है।

गत वर्षों में रिजर्व बैंक ने अग्रिमों में कमी करने, साख का विस्तार रोकने, कृषि एवं लघु तथा प्राथमिक क्षेत्रों को उदारतापूर्वक ऋण देने के लिए भी सलाह एवं निर्देश दिए हैं।

रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण में पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ है। इसकी इस आंशिक सफलता के निम्नांकित कारण हैं :

(1) भारत में व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक पर अधिक निर्भर नहीं हैं। वे तो संकट काल में रिजर्व बैंक से ही सहायता मांगती है। इससे रिजर्व बैंक की ब्याज दरों का बाजार दरों पर अधिक प्रभाव नही पड़ता है।

(2) भारत में अनेक बैंकें है अतः उनकी बैंकिंग सेवा दरो में भारी भिन्नता पायी जाती है। इससे रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीतियां कम सफल हो पाती हैं।

(3) रिजर्व बैंक ने बैंक दर तरलता अनुपात, परिवर्तनशील कोषानुपात आदि रीतियों का प्रयोग संकोचपूर्ण ढंग से किया है जिससे उनकी सफलता सीमित ही रही है।

(4) देशी बैंकों का ग्रामीण साख में एक महत्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उन पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण सदा ही ढीला रहा है। इससे साख नियन्त्रण नीति पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाती है।

लेकिन फिर भी विद्वानों का कहना है कि यदि रिजर्व बैंक ने कोई प्रयास इस ओर न किए होते तो साख स्थिति कहीं अधिक गम्भीर होती।

रिजर्व बैंक की औद्योगिक वित्त व्यवस्था में भूमिका
(ROLE OF RESERVE BANK IN INDUSTRIAL FINANCE)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् औद्योगिक वित्त के लिए मांगें बराबर बढ़ती रही हैं जिसकी पूर्ति के लिए अनेक विशिष्ट वित्त संस्थाएं स्थापित की गयी हैं जैसे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (I.F.C.I.), राज्य वित्त निगम (S.F.C.), राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N.I.D.C.), भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (I.C.I.C.I.), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (I.D.B.I.), यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (U.T.I.) आदि। इनमें से भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (I.D.B.I.) की पूरी पूंजी व वित्त निगमों में भी काफी पूंजी रिजर्व बैंक ने लगायी है। यही नहीं, आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक इन संस्थाओं को ऋण भी प्रदान करता है। इस प्रकार वृहत् उद्योगों की रिजर्व बैंक अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करता है। रिजर्व बैंक ने प्रौद्योगिक वित्त के लिए निम्न विशेष उपाय किए हैं—

(1) राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष—वृहत् उद्योगों की आर्थिक सहायता करने के उद्देश्य से 1964 से रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन कर इस बात की व्यवस्था की गयी कि एक कोष राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष के नाम से स्थापित किया जाए जिसके लिए पहले वर्ष में 10 करोड़ रुपए व प्रति अगले वर्ष में कम से कम 5 करोड़

रुपए डालने की व्यवस्था की गयी। इस कोष का उपयोग निम्न उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है—

(i) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (I.D.B.I.) को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (I.F.C.I.) व राज्य वित्त निगमों (S.F.C.) के अंश एवं ऋणपत्रों को खरीदने के लिए ऋण देना; (ii) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा जारी ऋणपत्रों को खरीदना, 30 जून, 1989 को इस राष्ट्रीय साख (दीर्घकालीन) कोष में 4,626 करोड़ रुपए शेष थे।

(2) लघु उद्योगों के लिए साख गारण्टी योजना—यह योजना 1 जुलाई, 1960 से लागू की गयी है जिसका उद्देश्य लघु उद्योगों के लिए साख की मात्रा में वृद्धि करना है। प्रारम्भ में यह योजना कुछ जिलों में ही लागू की गयी थी, लेकिन बाद में जनवरी, 1963 से इसको पूरे देश में लागू कर दिया गया है। इस योजना की विशेषता यह है कि ऋण लेने वाली संस्था द्वारा भुगतान न किए जाने वाली राशि का 75 प्रतिशत साख गारण्टी संगठन द्वारा वहन किया जाता है।

रिजर्व बैंक की ग्रामीण साख व्यवस्था में भूमिका
(ROLE OF RESERVE BANK IN RURAL CREDIT)

रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान किया है जिसके लिए 1935 से ही इसने अपने यहां कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना की थी। इस विभाग का कार्य रिजर्व बैंक, राज्य सहकारी बैंक व अन्य बैंकों के कार्यकलापों में समन्वय बनाए रखना है।

ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिश पर एक सर्वतोमुखी साख योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) शुरू की गयी जिसमें रिजर्व बैंक की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

रिजर्व बैंक ने फरवरी 1956 में कृषि को अधिक उदारतापूर्वक सहायता देने के लिए दो कोषों की स्थापना की : **(1) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष** [National Agricultural Credit (Long term) Operation Fund]—इस कोष की स्थापना राज्य सरकारों को प्रत्यक्ष रूप में ऋण देने के लिए की गयी जिससे कि वे सहकारी संस्थाओं की पूंजी में भाग ले सकें व राज्य सहकारी बैंकों को कृषि साख की व्यवस्था के लिए ऋण दे सकें तथा भूमि विकास बैंकों को ऋण दे सकें एवं उनके ऋणपत्र क्रय कर सकें। **(2) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष** [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund]—इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों के अल्पकालीन ऋण को मध्यमकालीन ऋणों में परिवर्तित करने के लिए किया जाता था।

कृषि के लिए जो ऋण दिए जाते थे उन पर रिजर्व बैंक रियायती ब्याज दर से ब्याज लगाता था। रिजर्व बैंक व सरकारी प्रयासों के फलस्वरूप ग्रामीण साख की मात्रा भी राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण बैंक की स्थापना के बाद यह कोष इसे हस्तान्तरित कर दिए गए हैं।

रिजर्व बैंक के कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(CRITICAL EVALUATION OF THE PERFORMANCE OF RESERVE BANK)

रिजर्व बैंक को कार्य करते हुए 63 वर्ष पूरे हो गए हैं। इस काल की इसकी उपलब्धियों का विश्लेषण करने से पता लगता है कि इसको पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी है। कुछ क्षेत्रों

में इसको सफलता मिली है तो कुछ में असफलता या आंशिक सफलता। इस बैंक की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

(1) रिजर्व बैंक की सुलभ मुद्रा नीति के फलस्वरूप भारतीय उद्योग, कृषि एवं वाणिज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। (2) मुद्रा बाजार की ब्याज दरों में होने वाले समय-समय पर परिवर्तन या मौसमी उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करने में सफल रहा है। (3) रिजर्व बैंक का अन्य बैंकों पर प्रभावी नियन्त्रण होने से देश मे बैंकिंग का स्वस्थ विकास हुआ है। (4) रिजर्व बैंक ने मुद्रा एवं साख नियन्त्रण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर ली है। (5) यह विनिमय दरों को स्थिर बनाए रखने में सफल रहा है। (6) केन्द्रीय व राज्य सरकारों के लिए सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था की है। (7) भारत सरकार व राज्य सरकारों के बढ़ते हुए आय-व्यय का सफल प्रबन्ध किया है। (8) इसने देश में 345 केन्द्रों पर समाशोधन गृहों की व्यवस्था की है। (9) रिजर्व बैंक ने बिल बाजार के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। (10) रिजर्व बैंक ने औद्योगिक एवं कृषि वित्त की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए स्थापित विभिन्न संस्थाओं की आर्थिक सहायता की है।

लेकिन रिजर्व बैंक कई क्षेत्रों में सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। दूसरे शब्दों में इसको सफलता नहीं मिली है—(1) यह मुद्रा प्रसार को रोकने में सफल नही हुआ है। (2) रुपए का विदेशी मूल्य भी स्थायी नहीं रहा है। (3) सुविकसित बिल बाजार के निर्माण में यह सफल नही हुआ। (4) यह बैंकिंग व्यवस्था भी सुदृढ़ नहीं कर पाया है। (5) देशी बैंकरों व साहूकारों को अभी तक नियन्त्रित नहीं कर सका है। (6) यह कृषि साख का पर्याप्त विकास करने में भी सफल नहीं हुआ है।

प्रश्न

1. भारतीय रिजर्व बैंक की संरचना बताइए। अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में इसकी क्या भूमिका है? (राजस्थान, 1992)
2. भारतीय रिवर्ज बैंक पर एक टिप्पणी लिखिए। (अजमेर, 1995)
3. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के संगठन एवं कार्यकरण को समझाइए। (अजमेर, 1998)

20

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग : संगठन एवं कार्य

[UNIVERSITY GRANTS COMMISSION : ORGANIZATION AND FUNCTIONS]

हमारे देश मे उच्चतर शिक्षा का समन्वय और मानक निर्धारण विषय संघ-सूची में है और इस तरह यह केन्द्र सरकार का विशेष उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' (University Grants Commission—UGC) के माध्यम से किया जाता है। केन्द्रीय सरकार ने इसके अतिरिक्त ऐसी एजेन्सियां भी स्थापित की है जो विशिष्ट क्षेत्रों मे अनुसन्धान प्रयासो की प्रोन्नति और समन्वय का काम करें। इस वक्त देश में ऐसी चार एजेन्सियां हैं—भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद, भारतीय ऐतिहासिक अनुसन्धान परिषद, भारतीय दर्शन अनुसन्धान परिषद और भारतीय एडवान्स्ड अध्ययन संस्थान।

इस समय देश में 11 केन्द्रीय विश्वविद्यालय, 202 विश्वविद्यालय तथा विश्वविद्यालय दर्जे के संस्थान तथा लगभग 8,210 से अधिक महाविद्यालय कार्यरत है। 1995 के प्रारम्भ मे विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों में छात्रों की कुल संख्या 50 07 लाख थी। ऐसी स्थिति में उच्च शिक्षा से जुड़ी विभिन्न समस्याओं के निराकरण, समन्वय और मानक निर्धारित करने के लिए किसी अतिरिक्त भारतीय निकाय की आवश्यकता स्वयसिद्ध है। भारत मे 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' एक ऐसा ही वैधानिक निकाय है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(HISTORICAL BACKGROUND FOR THE FORMATION OF U.G.C.)

जिस प्रकार लन्दन विश्वविद्यालय के ही प्रतिमान के आधार पर भारत के प्रथम तीन विश्वविद्यालयों—कलकत्ता, मद्रास और बम्बई का गठन किया गया, उसी भांति 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' (UGC) का गठन भी इंग्लैण्ड की 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' (U. G. Committee) के प्रतिमान के आधार पर ही किया गया है। स्वतन्त्रता की पूर्व बेला में भारत में कई नए विश्वविद्यालय अस्तित्व में आने लगे थे और भारत की ब्रिटिश सरकार इन पर नियन्त्रण रखने, समन्वय करने और एक रूप मानक बनाए रखने के लिए किसी अखिल

भारतीय अभिकरण के सृजन की आवश्यकता महसूस करने लगी थी। सन् 1919 में इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों में समन्वय हेतु **'विश्वविद्यालय अनुदान समिति'** के सृजन के बाद भारत के लिए भी किसी केन्द्रीय अभिकरण के सृजन की भावना जोर पकड़ने लगी और इसी कारण 1924 के 'कुलपति सम्मेलन' (Vice-Chancellors Conference, 1924) ने **'इण्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड'** (Inter-University Board) की स्थापना का निर्णय लिया था। ऐतिहासिक दृष्टि से इस **'इण्टर-यूनिवर्सिटी बोर्ड'** को इंग्लैण्ड की **'विश्वविद्यालय अनुदान समिति'** की भांति के अखिल भारतीय निकाय की स्थापना की दिशा में प्रथम चरण माना जाना चाहिए।

'इण्टर-यूनिवर्सिटी बोर्ड' भारत के विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की सामूहिक आवाज का प्रतिनिधित्व करता था और उच्च शिक्षा की समस्याओं पर विचार-विमर्श करने का एक मंच था। यद्यपि इसने कतिपय उपयोगी कार्य किए तथापि यह ऐसी परम्परा कायम कराने में असफल हुआ जिससे कुलपतियों की सामूहिक आवाज विधि का आकार ग्रहण कर सके। यह वस्तुतः एक परामर्शदात्री निकाय बनकर ही रह गया।

'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की अनुशंसा पर 1945 मे एक उप समिति (सार्जेण्ट समिति) की नियुक्ति की गयी जिसका प्रमुख कार्य 'भारत में युद्धोत्तर शिक्षा विकास' पर प्रतिवेदन देना था और जिसने 1945 में 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' के गठन पर जोर दिया। इस 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' का सम्बन्ध केवल तीन केन्द्रीय विश्वविद्यालयो—बनारस, अलीगढ़ और दिल्ली से था। बाद में 1946-47 मे किए गए संशोधनों द्वारा राज्यों मे कार्यरत विश्वविद्यालय भी इसके क्षेत्राधिकार में लाए गए। 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' (U. G. Committee) भी केवल एक अनुशंसा करने वाला निकाय था। चूंकि इसे धनराशि आवण्टन करने की शक्ति प्रदान नहीं की गयी थी, अतः यह एक ऐसा अभिकरण था जिसे अनुदान देने की सत्ता नहीं थी।

भारत में विश्वविद्यालयों के लिए नियन्त्रण एवं समन्वय की दिशा में तीसरा महत्वपूर्ण चरण भारत सरकार के 3 नवम्बर, 1952 के प्रस्तावानुसार दिसम्बर 1953 से एक **'अन्तरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग'** का कार्य प्रारम्भ करना था। इन दिनों यह मसला विचाराधीन था कि विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय अभिकरण एक बनाया जाए अथवा दो। यदि राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशों को क्रियान्वित किया जाता है तो **'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग'** (U. G. C.) का प्रमुख कार्य अनुदान आवंटन ही रह जाएगा। विश्वविद्यालयों के **समन्वय और मानको को बनाए रखने** सम्बन्धी कार्य इसके क्षेत्राधिकार के बाहर रह जाएंगे। ऐसी स्थिति में अन्य निकाय की आवश्यकता होगी क्योंकि भारतीय संविधान के अन्तर्गत उपरोक्त तीन कार्यो का विशेष दायित्व केन्द्रीय सरकार के कन्धों पर डाला गया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में भारत सरकार का विचार दो केन्द्रीय निकायों के निर्माण का था। राधाकृष्णन आयोग (1949) की सिफारिशों के आधार पर 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' गठित करना जिसका प्रमुख कार्य अनुदान आवंटन करना था। दूसरा निकाय जिसका स्वरूप 1951 के विधेयक में प्रस्तुत किया गया, मुख्य कार्य विश्वविद्यालयों के समन्वय और मानकों को बनाए रखना था और इसे 'सेण्ट्रल काउन्सिल ऑफ यूनिवर्सिटी एज्यूकेशन' का नाम दिया गया। जब 1951 का प्रारूप विधेयक विश्वविद्यालयों और राज्यों के विचार जानने के लिए प्रस्तुत किया गया तो पता चला कि

उस समय कार्यरत 'इण्टर-यूनिवर्सिटी बोर्ड' ने भी इसे पसन्द नहीं किया। यहां तक कि कतिपय राज्यों एवं विश्वविद्यालयों ने इस प्रारूप विधेयक का जोरदार विरोध किया। इसके बाद भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने अप्रैल 1953 में राज्यों के शिक्षा मन्त्रियों तथा विश्वविद्यालय के कुलपतियों का नई दिल्ली मे एक सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन ने आम सहमति से निर्णय लिया कि इंग्लैण्ड की 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' के मॉडल पर भारत में भी केवल एक सविधिक निकाय (Statutory body) का गठन किया जाए तथा अनुदानो के आवंटन समेत, विश्वविद्यालयो के समन्वय और मानकों की स्थापना सम्बन्धी कार्य उसे सौंपे जाएं।[1]

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निर्माण की दिशा मे चतुर्थ चरण था—1951 के प्रारूप विधेयक को निरस्त करना तथा 1954 में सविधिक 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' (U G. C.) के गठन हेतु कार्यवाही प्रारम्भ करना। 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विधेयक 1954' को सितम्बर 1954 में भारतीय संसद मे प्रस्तुत किया गया तथा 1956 मे '**विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम**' पारित कर दिया गया। 1956 के यू. जी. सी. अधिनियम (UGC Act of 1956) को 1972 में संशोधित किया गया। जहां एक ओर संशोधन ने आयोग के गठन को प्रभावित किया वहां दूसरी ओर इसकी शक्तियों में भी वृद्धि कर दी। 1976 में 42वें संविधान संशोधन ने शिक्षा को समवर्ती सूची का विषय बना दिया। यद्यपि इस परिवर्तन से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्यो को नहीं छुआ गया तथापि व्यवहार में इसने यू. जी. सी. के कार्यो में अप्रत्यक्ष वृद्धि कर दी।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग : संरचना
(U. G. C. · COMPOSITION)

भारत मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एक वैधानिक निकाय है[2] जिसकी स्थापना भारत सरकार के 'यू. जी. सी. ऐक्ट, 1956' के अन्तर्गत की गई है। इसे संसद का शिशु कहा जाता है क्योंकि संसद जब चाहे इसके कार्यो की जांच हेतु ससदीय समिति का गठन कर सकती है।[3]

पहली बार 1956 में '**अन्तरिम विश्वविद्यालय अनुदान आयोग**' का गठन किया गया जिसमें एक अध्यक्ष तथा 5 सदस्य नियुक्त किए गए। इनमें से 3 गैर-सरकारी सदस्य तथा एक-एक शिक्षा एवं वित्त मन्त्रालय के प्रतिनिधि थे। यद्यपि अध्यक्ष का पद पूर्णकालिक था, किन्तु अन्तरिम यू. जी सी. ने अंशकालिक अध्यक्ष से अपना कार्य प्रारम्भ किया। डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर जिन्हें यू. जी. सी. का पहला अध्यक्ष नियुक्त किया गया, प्राकृतिक संसाधन एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान मन्त्रालय में सचिव थे।

Government in the manner laid down in the UGS Act"—R. N. Chaturvedi, University Grants Commission—A Study of Organization Frame, *"The Indian Journal of Public Administration*, October-December 1986, p. 878.

3 "It is a child of the Indian Parliament which can appoint Parliamentary Committees as and when considered necessary to review its activities." —*Ibid.*, p. 878.

1956 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का वैधानिक रूप से गठन किया गया था तव इसमें अध्यक्ष तथा 8 अन्य सदस्य थे। चेयरमैन के अतिरिक्त 8 सदस्यों मे से, 3 कुलपतियों में से, 2 केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों में से और 3 ख्याति-प्राप्त शिक्षाविदों में से थे। अध्यक्ष पूर्णकालिक थे, उन्हें अध्यक्ष पद का वेतन दिया जाता था। वह न तो केन्द्रीय सरकार का अधिकारी था और न किसी राज्य सरकार का। इस प्रकार वैधानिक रूप से गठित यू. जी. सी. की संरचना अन्तरिम यू. जी. सी. की संरचना से तीन बातों में भिन्न थी—प्रथम, अध्यक्ष न तो केन्द्रीय सरकार का और न राज्य सरकार का अधिकारी हो सकता था, जबकि अन्तरिम यू. जी. सी. के अध्यक्ष के साथ ऐसी कोई शर्त नहीं थी। द्वितीय, अन्तरिम यू. जी. सी. में अध्यक्ष सहित 6 सदस्य होते थे जबकि वैधानिक यू. जी. सी. में अध्यक्ष सहित 9 सदस्य थे। तृतीय, अन्तरिम यू. जी. सी. में 3 गैर-सरकारी सदस्यों का प्रावधान था जबकि वैधानिक रूप से गठित यू. जी. सी. में गैर-सरकारी शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया है। वैधानिक रूप से गठित यू. जी. सी. की रचना से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इसमें ख्याति-प्राप्त शिक्षाविदों को स्थान देने पर जोर दिया गया है।

1972 में यू. जी. सी. अधिनियम में संशोधन करके इसकी कुल सदस्य संख्या अध्यक्ष सहित 9 से 12 कर दी गयी। अतः अब यू. जी. सी. की रचना इस प्रकार है—

(अ) अध्यक्ष (Chairman)	1
(ब) उपाध्यक्ष (Vice-Chairman)	1
(स) सदस्य (Members)	10

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया है तथा उपाध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्ष रखा गया है। कोई भी पदाधिकारी—अध्यक्ष, उपाध्यक्ष अथवा सदस्य दो कालावधि से अधिक अपने पद पर नहीं रह सकते।

यू. जी. सी. ऐक्ट के अनुसार अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। ऐक्ट में स्पष्ट प्रावधान है कि अध्यक्ष केन्द्र सरकार या राज्य सरकार का कोई पद धारण नहीं कर सकता। उपाध्यक्ष पदधारी के लिए ऐक्ट में इस भाति का प्रावधान नहीं है।

यू. जी. सी. के अन्य सदस्यों की नियुक्ति के बारे में निम्न प्रावधान महत्वपूर्ण हैं—

1. यू. जी. सी. के सदस्यों मे से 2 सरकारी प्रतिनिधि होते हैं। अन्तरिम यू. जी. सी. में ये सदस्य शिक्षा एवं वित्त मन्त्रालय के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किए जाते थे जबकि 1972 के संशोधन के बाद ये दोनों सदस्य कोई भी सरकारी पदाधिकारी हो सकते हैं जिन्हें भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे नियुक्त किया जा सकता है।

2. यू. जी. सी. ऐक्ट में 1972 के संशोधन के बाद सदस्यों में कुलपतियों के बजाय 'विश्वविद्यालयीन शिक्षको' की नियुक्ति को प्रधानता दी गयी है। शेष 8 सदस्यों में से कम से कम 4 विश्वविद्यालयीन शिक्षक होते हैं। इस प्रकार 1972 का संशोधन इस चिन्तन पर आधारित है कि विश्वविद्यालयों के संचालन और नियमन के इस केन्द्रीय निकाय में देश के विश्वविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के अनुभव का अधिकतम लाभ लिया जाए।

3. यू. जी. सी. ऐक्ट (संशोधित) में कुलपतियों की नियुक्ति के लिए धारा 5 की उपधारा 3 में प्रावधान किया गया है कि ख्याति-प्राप्त शिक्षाविदों में से सदस्य नियुक्त किए जाएं। चूंकि शेष 4 सदस्यों को इसी श्रेणी में से नियुक्त किए जाने का प्रावधान है अतः ये चार सदस्य

कुल मिलाकर तीन श्रेणियों में से नियुक्त किए जा सकते हैं। इनमें से पहली श्रेणी कृषि, वाणिज्य तथा वन का ज्ञान रखने वालों में से है; दूसरी श्रेणी इन्जीनियरी, कानूनी, मेडिकल तथा अन्य विशेषज्ञता वाले व्यवसाय से है तथा तीसरी श्रेणी ख्याति-प्राप्त शिक्षाविदों में से है। इस तीसरी श्रेणी में से कुलपतियों की नियुक्ति का भी प्रावधान है।

1972 के संशोधित अधिनियम से यह स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टिकोण पर सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अधिक जोर दिया गया है। आयोग के अन्तिम श्रेणी के 4 सदस्यों की नियुक्ति में केन्द्रीय सरकार को चयन का विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया गया है। वैसे अपेक्षा तो यह की जाती है कि प्रत्येक श्रेणी से एक सदस्य नियुक्त किया जाए।

आलोचकों के अनुसार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संगठन को देखने से कई त्रुटियां उजागर होती हैं—प्रथम, इसमें शिक्षकों का प्रतिनिधित्व अधिक है, यदि 4 शिक्षक, 1 कुलपति तथा 1 शिक्षाविद को मिला दिया जाए तो किसी भी समय आयोग में लगभग 6 शिक्षक सदस्य हो सकते हैं। द्वितीय, इसमें शिक्षा से सम्बन्धित अन्य हितों का प्रतिनिधित्व समुचित नहीं है। तृतीय, अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया है जबकि उपाध्यक्ष एवं सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्ष। यह विसंगति क्यों? चतुर्थ, सभी नियुक्तियां केन्द्रीय सरकार करती है अतः यह केन्द्रीय सरकार की भुजा बनकर रह जाता है, स्वायत्त निकाय के रूप में व्यवहार में कार्य करना सम्भव नहीं होगा। पंचम, आयोग के सदस्यों के मध्य आयोग के कार्यों का संविधिक विभाजन तर्कसंगत आधार पर नहीं किया गया है। षष्ठ, आयोग के अन्य सदस्यों की स्थिति उस भांति की पूर्णकालिक नहीं है जैसी कि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की है। इसी परिप्रेक्ष्य में संसद की लोक लेखा समिति ने कहा था कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग केवल एक पूर्णकालिक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष के भरोसे उच्च शिक्षा में समन्वय और शिक्षा के मानक निर्धारण का कार्य कुशलतापूर्वक कैसे कर सकता है?

भारत सरकार द्वारा नियुक्त पुनर्निरीक्षण समिति ने 1977 में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में यू. जी. सी. की कार्यक्षमता बढ़ाने की दृष्टि से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सहित सदस्यों की

कॉलेज शिक्षकों में से; (2) 1 सदस्य माध्यमिक शिक्षा क्षेत्र से; (3) 1 सदस्य ग्रामीण उच्च शिक्षा विशेषज्ञ, (4) 1 सदस्य अनौपचारिक शिक्षा, तथा (5) योजना आयोग का सचिव यू. जी. सी. का भी पदेन सदस्य हो।[1] भारत सरकार ने इस रिपोर्ट पर आज तक कोई निर्णय नहीं लिया है और लगता है इसे ठण्डे बक्से में डाल दिया गया है।

1 The Review Committee, 1977 has recommended that the number of members of UGC may be increased from 12 to 18, including Chairman and Vice-Chairman. The break-up of the prposed six additional members was as follows :
1. two college teachers (including Principals) one of whom may as far as possible, be from a women's college,
2. one person from the field of secondary education,
3. one expert from the field of higher education in rural areas,
4. one expert from the field of non-formal education, and
5. Secretary, Planning Commission, as an ex-officio-member.

—*Report of the Review Committee on UGC*, Ministry of Education, Government of India, *Delhi, 1977*, p. 84.

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्य
(FUNCTIONS OF THE U G. C.)

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम के अध्याय 3 में इसके कार्यों एवं शक्तियों का वर्णन किया गया है। इसमें इसके प्रमुख कार्य वतलाए गए हैं—(1) विश्वविद्यालय शिक्षा का विकास एवं समन्वय करना तथा (2) विश्वविद्यालयों में शिक्षण, परीक्षा तथा अनुसन्धान के मानक निर्धारित करना। इसके अतिरिक्त, विश्वविद्यालयों को सहायता अनुदान देना, जांच करना, सूचना एकत्रित करना जैसे कार्यों का उल्लेख भी किया गया है।[1] संक्षेप में, यू. जी. सी. के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं—

(1) अनुदान राशि का आबंटन एवं बंटवारा—यू. जी सी. ऐक्ट के अनुसार आयोग विश्वविद्यालय एवं सम्बद्ध कॉलेजों को अनुदान राशि का आवंटन एवं बंटवारा करता है। आयोग के अनुदान निम्नांकित उद्देश्यों के लिए होते हैं—निर्वाह एवं विकास अथवा किसी विशिष्ट या सामान्य उद्देश्य के लिए। भारत के सभी विश्वविद्यालय—केन्द्रीय अथवा राज्य वि. वि. आयोग से ऐसी सहायता प्राप्त करने के हकदार है। केवल केन्द्रीय विश्वविद्यालय पूर्ण निर्वाह सहायता प्राप्त करने के अधिकारी है। विश्वविद्यालय स्तर का दर्जा प्राप्त संस्थानों को भी सहायता दी जाती है।

(2) विश्वविद्यालयों को सलाह एवं सिफारिशें करना—यू. जी. सी. की अनुशंसात्मक सिफारिशें विश्वविद्यालयों तक ही सीमित हैं, किन्तु इसके सलाहकारी कार्य काफी व्यापक है। इसका कार्य केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें, विश्वविद्यालयों तथा अन्य निकायों को सलाह देना है, किन्तु यह तभी सलाह देती है जव इससे सलाह मांगी जाए। यह कई मामलों में सलाह दे सकती है, जैसे भारत की संचित निधि में से विश्वविद्यालयों को सामान्य या विशिष्ट उद्देश्य के लिए अनुदान सहायता का बंटवारा, नए विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए राज्य सरकारों को सलाह देना, विश्वविद्यालयों के कार्यक्रमों में विस्तार हेतु सलाह देना।

आयोग विना मांगे भी विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्तर में सुधार हेतु विश्वविद्यालयों को आवश्यक कदम उठाने के लिए सलाह दे सकता है। आयोग विश्वविद्यालयों से ऐसी सलाह के क्रियान्वयन हेतु दवाव डाल सकता है।

(3) सूचनाएं एकत्रित करना—आयोग विश्वविद्यालय शिक्षा तथा अन्य सम्बद्ध विषयों के वारे में देश या विदेश से कोई भी ऐसे आंकड़े एकत्रित कर सकेगा जो वह उचित समझे।

(4) निरीक्षण—आयोग देश के किसी भी विश्वविद्यालय के शैक्षणिक, परीक्षा सम्वन्धी तथा अनुसन्धान-विषयक स्तर की जानकारी करने के लिए उस विश्वविद्यालय की सहमति से उसका निरीक्षण कर सकता है। निरीक्षण करने से पूर्व आयोग विश्वविद्यालयों को यह सूचना भेजता है कि वह किन-किन मुद्दों पर विश्वविद्यालय का निरीक्षण करना चाहता है। ऐसे किसी भी निरीक्षण के बाद आयोग अपनी रिपोर्ट का सारांश उस विश्वविद्यालय को भेज सकता है तथा उसकी अनुशंसाओं के क्रियान्वयन हेतु आवश्यक कार्यवाही करने के निर्देश दे सकता है।

[1] *Section* 12, University Grants Commission Act, 1956 (As amended upto 1977).

(5) **अनुदान रोकना**—यदि कोई विश्वविद्यालय आयोग द्वारा दिए सुझावों या अनुशंसाओं की अनुपालना करने में असफल रहता है तो निर्धारित नियमों के भीतर आयोग उस विश्वविद्यालय को कारण बताओ नोटिस जारी करने के बाद उसका अनुदान रोक सकता है।[1]

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका
(ROLE OF THE U. G. C.)

भारत में उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की केन्द्रीय भूमिका है। यह उच्चतर शिक्षा के उन्नयन, विकास एवं सुधार की दिशा में कार्य करने वाला केन्द्रीय निकाय बन गया है। यह केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की न केवल भुजा है अपितु उसको विशेषज्ञ सलाह देने वाला निकाय है। यह भारत के विश्वविद्यालयों की गतिविधियों की न केवल जांच करने वाला निकाय है अपितु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अनुदान सहायता स्थगित करने की धमकी देकर उच्च शिक्षा के मानक कायम करने को बाध्य करने वाली सर्वोपरि संस्था है। संक्षेप में, आज यू. जी. सी. के बिना भारत की उच्चतर शिक्षा की कल्पना करना उसी प्रकार है जिस प्रकार कैबिनेट के बिना संसदीय शासन की।

उच्चतर शिक्षा के अनेक क्षेत्रों में यू. जी. सी. प्रभावक भूमिका का निर्वाह कर रही है। उच्चतर शिक्षा के मानक निर्धारित करने के लिए विश्वविद्यालयों को पाठ्यक्रमों की पुनर्रचना के लिए प्रेरित करता है, उच्चतर और विशिष्ट अध्ययन केन्द्र स्थापित करता है, विश्वविद्यालयों के चयनित विभागों में विशेष सहायता के कार्यक्रम चलाता है, परीक्षा प्रणाली में सुधार हेतु सुझाव प्रेषित करता है, उच्च स्तर की पाठ्यपुस्तकें तैयार करवाता है, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में पुस्तकालय के निर्माण एवं पुस्तकों, जर्नल के क्रय हेतु सहायता राशि प्रदान करता है।

विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों के चयन हेतु राष्ट्रीय मानदण्ड स्थापित करने पर जोर देता है। देशभर में अकार्यात्मक स्टाफ कॉलेजों की स्थापना कर शिक्षकों के लिए अभिनव प्रशिक्षण तथा पुनश्चर्या पाठ्यपुस्तकों के आयोजन पर जोर दिया जाने लगा है। यह शिक्षकों को राष्ट्रीय छात्रवृत्ति, राष्ट्रीय भाषणमाला, शैक्षिक फैलोशिप, यात्रा अनुदान, शोध सहायता आदि भी उपलब्ध कराता है।

देशभर मे फैले हुए महाविद्यालयों के विकास में भी आयोग सक्रिय भूमिका का निर्वाह

के लिए आयोग शोध छात्रवृत्तियां, फैलोशिप, आदि उपलब्ध कराता है। निर्धन छात्रों के लिए आयोग विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में बुक बैंक योजना के क्रियान्वयन हेतु सहायता राशि उपलब्ध कराता है।

1 "It is a function which renders U.G.C dysfunctional *vis-a-vis* the defaulting university. It can review as a reminder that the U.G C. grants are not of the nature of a dole but are closely linked with the objectives of promotion of higher education and maintenance of standards of teaching, examination and research." —R. N. Chaturvedi, *Ibid.*, p. 814.

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालयों में सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN UGC AND UNIVERSITIES)

सिद्धान्ततः भारत में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा अन्य विश्वविद्यालयों की वैधानिक स्थिति लगभग समान है क्योंकि यू. जी. सी. का गठन भी जहां संसद के अधिनियम द्वारा हुआ है वहीं दूसरी तरफ केन्द्रीय विश्वविद्यालयों तथा राज्यों में कार्य करने वाले सभी विश्वविद्यालयों का गठन भी संसद अथवा राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित अधिनियमों के अन्तर्गत हुआ है। वस्तुतः आयोग तथा विश्वविद्यालय स्वायत्तशासी वैधानिक संस्थाएं हैं। अतः विश्वविद्यालय का सम्बन्ध ऐसी दो पृथक् वैधानिक सस्थाओ के बीच का सम्वन्ध है जिनका निर्माण भिन्न-भिन्न अधिनियमो के अन्तर्गत हुआ है तथा जिन्हें इन अधिनियमों के अन्तर्गत प्रदत्त पृथक्-पृथक् कार्यों को पूरा करना है। ऐसे कतिपय साझे क्षेत्र हैं जहां उन्हें सहयोगी के रूप में कार्य करना होता है और इन्हीं क्षेत्रो में उनके आपसी सम्बन्धों का परीक्षण हमारे लिए उपयोगी है।

आयोग तथा विश्वविद्यालयों के बीच पाए जाने वाले सम्वन्धों की तुलना व्यवहार में हम ऐसे दो व्यक्तियों के आपसी सम्वन्धों से कर सकते हैं जिसमें एक वित्तीय सहायता देने वाला है और दूसरा उस सहायता को प्राप्त करने वाला है। एक वैधानिक संस्था के रूप में अनुदान आयोग वित्तीय सहायता राशि का आवंटन एवं बंटवारा करता है और वैधानिक निकायों के रूप में दूसरी तरफ विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के विकास तथा शिक्षण, परीक्षा और अनुसन्धान के क्षेत्रों में उच्च मानकों को स्थापित करने हेतु उस सहायता राशि को ग्रहण करते है। ऐसी स्थिति में विश्वविधालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालयों के मध्य आपसी सम्बन्ध दो स्वायत्तशासी निकायों में समानता के सिद्धान्त पर आधारित सम्बन्ध नही कहे जा सकते। वस्तुतः विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एक निर्देशात्मक और नियन्त्रण करने वाली संस्था की स्थिति प्राप्त कर लेता है और विश्वविद्यालयों को समय-समय पर नीति सम्वन्धी निर्देश भी देने लग जाता है। यू. जी. सी. अधिनियम की धारा 25 एवं 28 को देखने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अनुदान आयोग को विश्वविद्यालयों के कामकाज की जांच करने और उनसे सूचनाएं प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। यदि कोई विश्वविद्यालय आयोग की अनुशंसाओं के क्रियान्वयन में असफल रहता है तो निर्धारित नियमों के अन्तर्गत आयोग उस विश्वविद्यालय को कारण वताओ नोटिस देने के वाद उसका अनुदान रोक सकता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समय-समय पर देश के विश्वविद्यालयों के संचालन हेतु जो नियम और उपनियम वनाता है वे विश्वविद्यालयों के लिए स्वतः प्रभावी नही हो जाते हैं, अपितु विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी अथवा सिण्डीकेट जब उन नियमों को स्वीकार करने का प्रस्ताव पारित करती है तभी वे नियम सम्बन्धित विश्वविद्यालय के लिए प्रभावी होते हैं।

संक्षेप में, आज के परिवेश में विश्वविद्यालयों की तुलना में अनुदान आयोग की स्थिति सर्वोपरि है। आयोग, विश्वविद्यालयों को निर्देशन एवं परामर्श देने की स्थिति में है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा संघ सरकार के बीच सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN UGC AND UNION GOVERNMENT)

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग संसद द्वारा निर्मित अधिनियम के अन्तर्गत एक वैधानिक संस्था है अतः संघ सरकार से इसके सम्बन्धों का निर्धारण विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों से ज्ञात हो जाता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम के अन्तर्गत आयोग के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार के द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत आयोग सचिव सहित अपने कार्मिकों की नियुक्ति करता है। इस प्रकार कार्मिकों की नियुक्ति में आयोग को स्वायत्तता प्राप्त है, किन्तु उसे यह कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत ही करना होता है।

अधिनियम की उपधारा 1 तथा धारा 20 की उपधारा 2 के अन्तर्गत आयोग को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए नीति सम्बन्धी निर्देशो के अन्तर्गत ही कार्य करना होता है। यदि इस बात को लेकर केन्द्रीय सरकार और आयोग के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाए कि मामला नीति से सम्बन्धित है अथवा नहीं तो केन्द्रीय सरकार का निर्णय ही इस सम्बन्ध में अन्तिम माना जाएगा। वस्तुतः आयोग की कार्य-प्रणाली से ऐसा लगता है कि आयोग केन्द्रीय सरकार के अभिकरण के रूप में कार्य करता है।

निष्कर्ष—निष्कर्षतः 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' एक स्वायत्त वैधानिक निकाय है जिसे 1956 में निर्मित संसदीय अधिनियम के अन्तर्गत कार्य करना होता है। आयोग का सम्बन्ध भारत में कार्यरत विश्वविद्यालयों के उच्च मानक स्तर बनाए रखने तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा प्रणाली में समन्वय स्थापित करना है। चूंकि आयोग को नीति सम्बन्धी मामलों में केन्द्रीय सरकार के निर्देशो के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है, अतः इसे केन्द्रीय सरकार की एक अतिरिक्त भुजा कहा जा सकता है। इसीलिए आयोग प्रत्येक वर्ष के अन्त में कार्य निष्पादन का एक वार्षिक प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार को प्रस्तुत करता है जिसे केन्द्र सरकार संसद के दोनों सदनों में विचारार्थ प्रस्तुत करती है। कतिपय आलोचकों के अनुसार वस्तुतः आयोग केन्द्रीय सरकार का एक विभाग ही है, इसकी स्वायत्तता मात्र दिखावा है।

प्रश्न

1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संगठन एवं कार्यो का वर्णन कीजिए। इसकी सार्थकता पर आप अपने विचार प्रकट कीजिए। (राजस्थान, 1995, 97; अजमेर, *1996, 98*)
2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संगठन को बताइए। उच्च शिक्षा की दिशा में इसके द्वारा किए गए प्रयासो पर एक दृष्टि डालिए। (*राजस्थान, 1993, 98*)
3. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग पर एक टिप्पणी लिखिए। (*अजमेर, 1994*)

वस्तुनिष्ठ एवं अति लघु उत्तरीय प्रश्न

[OBJECTIVE AND VERY SHORT-TYPE QUESTIONS]

अध्याय : 1

1. लोकतान्त्रिक समाज का लक्षण बताइए :
   (अ) एक दल प्रणाली (ब) नियतकालिक चुनाव
   (स) साम्यवादी विचारधारा (द) करिश्माती नेतृत्व।
   (उत्तर—ब)
2. लोकतान्त्रिक समाज का लक्षण नहीं है :
   (अ) प्रतियोगी राजनीति (ब) मताधिकार की समानता
   (स) जनता की सम्प्रभुता (द) सर्वाधिकारवाद।
   (उत्तर—द)
3. समाजवादी समाज का लक्षण बताइए :
   (अ) उद्योगों का राष्ट्रीयकरण (ब) व्यक्ति साध्य होता है
   (स) विकेन्द्रीकरण (द) उत्पादन के साधनों पर निजी नियन्त्रण।
   (उत्तर—अ)
4. लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था किस देश मे पायी जाती है :
   (अ) अमरीका (ब) चीन (स) भारत (द) कनाडा।
   (उत्तर—स)
5. भारत में पायी जाने वाली प्रमुख प्रशासनिक सस्था है :
   (अ) उच्च न्यायालय (ब) अखिल भारतीय सेवा
   (स) लोकसभा (द) उपराष्ट्रपति का पद।
   (उत्तर—ब)
6. लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था का उदाहरण नही है :
   (अ) सयुक्त राज्य अमेरिका (स) चीन
   (स) भारत (द) इंग्लैड।
   (उत्तर—ब)
7. समाजवादी समाज व्यवस्था का उदाहरण नहीं है :
   (अ) चीन (ब) वियतनाम
   (स) जापान (द) उत्तरी कोरिया।
   (उत्तर—स)

8. लोकतान्त्रिक समाज का लक्षण नहीं है :
   (अ) खुला विचार विनिमय (ब) पारदर्शिता
   (स) एक दल व्यवस्था (द) नियतकालीन चुनाव।
   (उत्तर—स)
9. समाजवादी समाज व्यवस्था में किसको सर्वाधिक महत्व दिया जाता है :
   (अ) व्यक्ति (ब) राज्य
   (स) समाज (द) परिवार।
   (उत्तर—ब)
10. किस देश के संविधान की प्रस्तावना मे समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना का कृत संकल्प किया गया है :
   (अ) अमेरिका (ब) भारत
   (स) इंग्लैण्ड (द) फ्रांस।
   (उत्तर—ब)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

11. लोकतान्त्रिक समाज की दो विशेषताएं बताइए।
   उत्तर—नियतकालिक चुनाव तथा प्रशासन मे पारदर्शिता।
12 समाजवादी समाज के दो लक्षण बताइए।
   उत्तर—उत्पादन के सभी साधनो पर सामाजिक नियन्त्रण तथा राज्य की शक्तियों मे उत्तरोत्तर वृद्धि।
13. भारत की कोई दो प्रशासनिक संस्थाएं लिखिए।
   उत्तर—अखिल भारतीय सेवाएं तथा केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण।
14. उस देश का नाम बताइए जहा लोकतन्त्र और समाजवाद के लक्षण साथ-साथ दिखाई देते हैं।
   उत्तर—भारत।
15. भारतीय संविधान में वर्णित कोई दो लोकतान्त्रिक प्रावधान बताइए।
   उत्तर—उत्तरदायी कार्यपालिका तथा मौलिक अधिकार एवं व्यक्तिक स्वतन्त्रता।

अध्याय : 2

1 'लेसेज फेयर' किस भाषा का शब्द है :
   (अ) फ्रेन्च (ब) लेटिन (स) इगलिश (द) हिन्दी।
   (उत्तर—अ)
2. एडम स्मिथ ने किस प्रकार के राज्य का समर्थन किया था :
   (अ) लोक कल्याणकारी (ब) समाजवादी
   (स) अहस्तक्षेपवादी (द) साम्यवादी।
   (उत्तर—स)
3. अहस्तक्षेपवादी राज्य की अवधारणा का समर्थक विचारक है :
   (अ) हीगल (ब) कार्ल मार्क्स (स) लास्की (द) हर्बर्ट स्पेन्सर।
   (उत्तर—द)

4. अहस्तक्षेपवादी राज्य का प्रमुख सिद्धान्त है :
   (अ) वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है
   (ब) राज्य एक समाज सेवी संस्था है
   (स) राज्य को अधिक से अधिक कार्य करने चाहिए
   (द) उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए।
   (उत्तर—अ)
5. अहस्तक्षेपवादी राज्य का सिद्धान्त नहीं है :
   (अ) राज्य अयोग्य संस्था है (ब) राज्य एक आवश्यक बुराई है
   (स) राज्य व्यक्ति के लिए है (द) व्यक्ति राज्य के लिए है।
   (उत्तर—द)
6. अहस्तक्षेपवादी राज्य से सम्बन्धित नहीं है :
   (अ) यथेच्छाकारिता (ब) व्यक्तिवादी राज्य
   (स) प्रशासकीय राज्य (द) रामभरोसे सिद्धान्त।
   (उत्तर—स)
7. 'व्यक्ति को अकेला छोड़ दो'—किससे सम्बन्धित है :
   (अ) कल्याणकारी राज्य (ब) समाजवादी राज्य
   (स) मार्क्सवादी राज्य (द) अहस्तक्षेपवादी राज्य।
   (उत्तर—द)
8. आर्थिक अहस्तक्षेपवाद का समर्थन करने वाला विचारक है :
   (अ) एडम स्मिथ (ब) रिकार्डो
   (स) माल्थस (द) उपर्युक्त सभी।
   (उत्तर—द)
9. 'राज्य एक आवश्यक बुराई है।' किसका सिद्धान्त है?
   (अ) कल्याणकारी राज्य (ब) समाजवादी राज्य
   (स) लोकतान्त्रिक राज्य (द) अहस्तक्षेपवादी राज्य।
   (उत्तर—द)
10. "वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम शासन करती है।" यह कथन किसका है?
   (अ) जे. एस. मिल (ब) फ्रीमैन
   (स) कार्ल मार्क्स (द) लेनिन।
   (उत्तर—ब)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

11. अहस्तक्षेपवादी राज्य का अर्थ बताइए।
   उत्तर—अहस्तक्षेपवादी राज्य से अभिप्राय है कि व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार काम करने दिया जाए तथा राज्य उसके जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करे।
12. अहस्तक्षेपवादी राज्य के दो सिद्धान्त बताइए।
   उत्तर—(i) राज्य एक आवश्यक बुराई है,
   (ii) वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है।

13. अहस्तक्षेपवादी राज्य के समर्थक दो विचारकों के नाम बताइए।
उत्तर—जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पेन्सर।

14. अहस्तक्षेपवादी राज्य में लोक प्रशासन की भूमिका कैसी होती है?
उत्तर—अहस्तक्षेपवादी राज्य मे लोक प्रशासन व्यक्ति के लिए कम से कम कार्य करे अर्थात् प्रशासन की सीमित भूमिका होती है।

15 अहस्तक्षेपवादी राज्य के दो दोष बताइए।
उत्तर—(i) अहस्तक्षेपवादी विचारक राज्य की कल्याणकारी भूमिका को स्वीकार नहीं करते,
(ii) अहस्तक्षेपवादी राज्य को अयोग्य एवं निकम्मी संस्था मानते हैं।

अध्याय : 3

1. हैरल्ड लास्की किस प्रकार के राज्य का समर्थन करता है :
(अ) अहस्तक्षेपवादी राज्य (ब) समाजवादी राज्य
(स) लोक कल्याणकारी राज्य (द) सर्वाधिकारवादी राज्य।
(उत्तर—स)

2. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास मे सर्वाधिक योगदान किस देश का माना जाता है :
(अ) चीन (ब) जर्मनी (स) अमरीका (द) इंग्लैण्ड।
(उत्तर—द)

3. लोक कल्याणकारी राज्य का लक्षण नहीं है :
(अ) लोकतन्त्रीय शासन (ब) आर्थिक शोषण
(स) समाजसेवी राज्य (द) सामाजिक न्याय।
(उत्तर—ब)

4. भारतीय सविधान के नीति निदेशक सिद्धान्तों वाले अध्याय में किस प्रकार के राज्य की परिकल्पना की गई है :
(अ) क्रान्तिकारी राज्य (ब) राज्यविहीन समाज
(स) कल्याणकारी राज्य (द) साम्यवादी राज्य।
(उत्तर—स)

5. लोक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य नही है :
(अ) परिवार नियोजन (ब) मुक्त प्रतिस्पर्धा
(स) श्रम का नियमन (द) आर्थिक सुरक्षा।
(उत्तर—ब)

6. लोक कल्याणकारी राज्य का लक्षण नहीं है :
(अ) राज्य एक आवश्यक बुराई है (ब) न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी
(स) आर्थिक सुरक्षा (द) सामाजिक सुरक्षा।
(उत्तर—अ)

7. सर्वप्रथम इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल में 'निर्धन कानून अधिनियम' पारित कर किसकी नीव डाली गयी?
   (अ) प्रशासकीय राज्य (ब) निरंकुश राज्य
   (स) लोक कल्याणकारी राज्य (द) राम भरोसे राज्य।
   (उत्तर—स)
8. इंग्लैण्ड की मजदूर दलीय सरकार ने उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करके किस प्रकार के राज्य की अवधारणा को पुख्ता किया?
   (अ) कल्याणकारी राज्य (ब) साम्यवादी राज्य
   (स) अहस्तक्षेपवादी राज्य (द) समाजवादी राज्य।
   (उत्तर—अ)
9. लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा किन दो विचारधाराओ का मिश्रण है?
   (अ) समाजवाद और मार्क्सवाद (ब) व्यक्तिवाद और समाजवाद
   (स) व्यक्तिवाद और साम्यवाद (द) गाधीवाद और साम्यवाद।
   (उत्तर—ब)
10. कल्याणकारी राज्य का लक्षण है :
   (अ) राज्य अयोग्य संस्था है। (ब) राज्य आवश्यक बुराई है
   (स) राज्य समाजसेवी संस्था है। (द) राज्य साध्य है।
   (उत्तर—स)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

11. लोक कल्याणकारी राज्य के कोई दो कार्य बताइए।
   उत्तर—(i) समाज सुधार,
   (ii) असहाय स्थितियो में व्यक्ति की सहायता।
12. लोक कल्याणकारी राज्य का अर्थ बताइए।
   उत्तर—कल्याणकारी राज्य से अभिप्राय है ऐसा राज्य जो व्यक्ति की सेवा एवं भलाई के लिए अधिक से अधिक कार्य करे।
13. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास के दो कारण बताइए।
   उत्तर—(i) यह व्यक्तिवादी राज्य के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है,
   (ii) यह राज्य की सहायता से कमजोर एवं शोषित वर्ग के उत्थान की योजना है।
14. लोक कल्याणकारी राज्य के दो दोष बताइए।
   उत्तर—(i) राज्य मे नौकरशाही की शक्तियां बढ़ने का भय रहता है,
   (ii) राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उपयोग बढ़ जाता है।
15. लोक कल्याणकारी राज्य की दो समस्याएं बताइए।
   उत्तर—(i) कल्याणकारी कार्यों के लिए आर्थिक संसाधनों की कमी,
   (ii) प्रतिबद्ध नौकरशाही के अभाव मे कल्याणकारी कार्यों के क्रियान्वयन की मंद गति।

अध्याय : 4

1. प्रशासनिक राज्य को एक 'गैरिजन स्टेट' किसने कहा है :
   (अ) मैक्स वेबर (ब) वाल्डो
   (स) कार्ल मार्क्स (द) एफ. एम. मार्क्स।
   (उत्तर—द)

2. नौकरशाही राज्य को क्या कहते हैं :
(अ) प्रशासनिक राज्य (ब) अहस्तक्षेपवादी राज्य
(स) लोकतान्त्रिक राज्य (द) क्रान्तिकारी राज्य।
(उत्तर—अ)

3. प्रशासनिक राज्य का लक्षण नहीं है :
(अ) नौकरशाही का वर्चस्व (ब) राज्य एक आवश्यक बुराई है
(स) सकारात्मक भूमिका का राज्य (द) कार्यपालिका की प्रभावी भूमिका।
(उत्तर—ब)

4. प्रशासनिक राज्य का प्रमुख गुण नहीं है :
(अ) राज्य अयोग्य संस्था है (ब) विशेषज्ञों का शासन
(स) कार्यपालिका का नेतृत्व (द) कानून व नियमों का राज।
(उत्तर—अ)

5. प्रशासनिक राज्य का प्रमुख दोष है :
(अ) लालफीताशाही (ब) लोकतन्त्रीय शासन
(स) राज्य साधन है (द) न्यूनतम शासन।
(उत्तर—अ)

6. पिछली शताब्दी में कैसा राज्य था?
(अ) कल्याणकारी राज्य (ब) पुलिस राज्य
(स) समाजवादी राज्य (द) राज्यविहीन राज्य।
(उत्तर—ब)

7. आधुनिक राज्य को क्या कहा जाता है?
(अ) पुलिस राज्य (ब) निरंकुश राज्य
(स) प्रशासकीय राज्य (द) रामराज्य।
(उत्तर—स)

8. प्रशासकीय राज्य में शक्ति का केन्द्रण किसके पास हो जाता है?
(अ) मन्त्रिमण्डल (ब) नौकरशाही
(स) संसद (द) न्यायपालिका।
(उत्तर—ब)

9. जिस राज्य में नौकरशाही का वर्चस्व हो उसे क्या कहते हैं?
(अ) कल्याणकारी राज्य (ब) अहस्तक्षेपवादी राज्य
(स) प्रशासकीय राज्य (द) लोकप्रिय राज्य।
(उत्तर—स)

10. प्रशासकीय राज्य का दोष है?
(अ) लालफीताशाही (ब) जनसाधारण की मांगों की उपेक्षा
(स) अनुदार नौकरशाही (द) उपर्युक्त सभी।
(उत्तर—द)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

11. प्रशासनिक राज्य के विकास के दो कारण लिखिए।
    उत्तर—(i) समाजवादी विचारधारा का उदय,
    (ii) आर्थिक नियोजन पर आधारित अर्थव्यवस्था।

12. प्रशासनिक राज्य के दो लक्षण बताइए।
    उत्तर—(i) कार्यपालिका की प्रमुख एवं प्रभावी भूमिका,
    (ii) नौकरशाही के वर्चस्व वाला राज्य।

13. प्रशासनिक राज्य के दो गुण बताइए।
    उत्तर—(i) कानून व नियमों का राज्य,
    (ii) विशेषज्ञों द्वारा शासन।

14. गैरिजन राज्य से क्या अभिप्राय है?
    उत्तर—वह राज्य जो स्वयं एक किले के समान होता है तथा जिसमें नौकरशाही की भूमिका सेना की भांति होती है, गैरिजन राज्य कहलाता है।

15. किस विद्वान ने अपनी पुस्तक 'न्यू डेस्पोटिज्म' में कार्यपालिका की नई निरंकुशता की ओर संकेत किया था?
    उत्तर—लॉर्ड हेवर्ट।

अध्याय : 5

1. नियम निर्माण का कार्य करने वाली संस्था को क्या कहते हैं :
   (अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका (स) न्यायपालिका (द) लोकसेवा।
   (उत्तर—अ)

2. किस देश की संसद को संसदों की जननी कहा जाता है :
   (अ) संयुक्त राज्य अमरीका (ब) ब्रिटेन
   (स) भारत (द) स्विट्जरलैण्ड।
   (उत्तर—ब)

3. किस लेखक ने विकासशील राज्यों की संसदों को कानून बनाने वाली संस्थाओं के स्थान पर कानून की स्वीकृति देने वाली संस्थाएं कहा है :
   (अ) सी. एफ. स्ट्रांग (ब) लापालोम्बोरा
   (स) रॉबर्ट सी. बॉन (द) जीन ब्लोण्डेल।
   (उत्तर—स)

4. निम्नलिखित में से कौन सा कार्य व्यवस्थापिकाओं का संवैधानिक कार्य नहीं है :
   (अ) कानूनों का निर्माण (ब) कार्यपालिका पर नियन्त्रण
   (स) वित्त पर नियन्त्रण (द) हितस्वरूपीकरण और हितसमूहीकरण का कार्य।
   (उत्तर—द)

5. राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण एवं प्रभावी नियन्त्रण किसके द्वारा रखा जाता है :
(अ) कार्यपालिका (ब) व्यवस्थापिका
(स) न्यायपालिका (द) नौकरशाही।
(उत्तर—ब)

6 किस देश में व्यवस्थापिका का उच्च सदन सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय का कार्य करता है :
(अ) ब्रिटेन (ब) अमरीका
(स) चीन (द) फ्रांस।
(उत्तर—अ)

7. निम्न में कौन सा व्यवस्थापिका का राजनीतिक कार्य नहीं है :
(अ) प्रतिनिधित्व का कार्य (ब) राजनीतिक समाजीकरण व शिक्षण कार्य
(स) परिवेक्षण एव निगरानी के कार्य (द) सविधान में संशोधन सम्बन्धी कार्य।
(उत्तर—द)

8. निम्नलिखित में किस लेखक ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' में एक अध्याय का शीर्षक 'व्यवस्थापिकाओं का पतन' रखा है :
(अ) हेरल्ड लास्की (ब) ऐलन बॉल
(स) सी. एफ. स्ट्रांग (द) लॉर्ड ब्राइस।
(उत्तर—द)

9. "निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिकाओं की शक्ति मे तो वृद्धि हुई है, किन्तु कार्यपालिका के सापेक्ष मे उनकी शक्तियां करीब-करीब सभी पहलुओं में कम हुई हैं।" यह कथन किसका है :
(अ) राबर्ट सी. बॉन (ब) लॉर्ड ब्राइस
(स) के. सी. व्हीयर (द) हेरल्ड लास्की।
(उत्तर—स)

10. आधुनिक युग में व्यवस्थापिका के पतन अथवा अवनति का प्रमुख कारण है :
(अ) कार्यपालिका के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि
(ब) प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा
(स) रेडियो और टेलीविजन
(द) उपर्युक्त सभी।
(उत्तर—द)

11. संयुक्त राज्य अमरीका में कांग्रेस के दोनो सदनों को किस नाम से पुकारा जाता है :
(अ) लोकसभा और राज्य सभा (ब) लॉर्ड सभा और कॉमन सभा
(स) सीनेट और प्रतिनिधि सभा (द) राष्ट्रीय सभा और सीनेट।
(उत्तर—स)

12. "यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि उससे सहमत हो जाता है तो व्यर्थ है।" यह कथन किसका है :
(अ) ऐलन बॉल (ब) एब्बेसीज
(स) लास्की (द) गार्नर।
(उत्तर—ब)

13. द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में प्रमुख तर्क है :
    (अ) द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर अंकुश लगाता है
    (ब) द्वितीय सदन में संघ की इकाइयो को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है
    (स) द्वितीय सदन प्रथम सदन के कार्यभार को हल्का करता है
    (द) उपर्युक्त सभी।
    (उत्तर—द)
14. किस देश में व्यवस्थापिका के उच्च सदन का गठन वंशानुगत आधार पर किया जाता है :
    (अ) भारत (ब) स्विट्जरलैण्ड (स) अमरीका (द) ब्रिटेन।
    (उत्तर—द)
15. किस देश की शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका को राजनीतिक व्यवस्था की धुरी माना जाता है :
    (अ) संयुक्त राज्य अमरीका (ब) ब्रिटेन
    (स) स्विट्जरलैण्ड (द) पाकिस्तान।
    (उत्तर—ब)
16. भारत की राज्य सभा में कितने सदस्यों का राष्ट्रपति द्वारा मनोनयन होता है :
    (अ) 6 (ब) 12 (स) 18 (द) 24।
    (उत्तर—ब)
17. संघात्मक राज्यों में द्वितीय सदन किसका प्रतिनिधित्व करते हैं :
    (अ) राजनीतिक दलो का (ब) सघ की घटक इकाइयों का
    (स) दवाव समूहों का (द) पेशेवर सगठनों का।
    (उत्तर—ब)
18. "बहुत सामान्य शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि द्वितीय सदन दूसरे मत (Second opinion) की व्यवस्था करते हैं।" यह कथन किसका है :
    (अ) लास्की (ब) के. सी. व्हीयर
    (स) राबर्ट सी. बॉन (द) सी. एफ. स्ट्रांग।
    (उत्तर—ब)
19. बजट किसके द्वारा पारित किया जाता है :
    (अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका (स) न्यायपालिका (द) वित्त मन्त्रालय।
    (उत्तर—अ)
20. अमरीका में राष्ट्रपति द्वारा की गयी सन्धियों का अनुमोदन किसके द्वारा आवश्यक है :
    (अ) सीनेट (ब) प्रतिनिधि सभा (स) सर्वोच्च न्यायालय (द) मन्त्रिमण्डल।
    (उत्तर—अ)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

21. व्यवस्थापिका के दो परम्परागत कार्य बताइए।
    उत्तर—(1) विधायी कार्य, (2) बजट पारित करना।

22. व्यवस्थापिका के दो आधुनिक कार्य बताइए।
उत्तर—1. हित स्वरूपीकरण एवं हित समूहीकरण के कार्य,
2. राजनीतिक समाजीकरण एवं शिक्षण कार्य।

23. द्विसदनीय व्यवस्थापिका के पक्ष में दो तर्क दीजिए।
उत्तर—1. विवेकपूर्ण पुनर्विचार के लिए,
2. विशिष्ट वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधित्व हेतु।

24. व्यवस्थापिका की अवनति के दो कारण बताइए।
उत्तर—1. प्रदत्त व्यवस्थापन का विकास,
2. दलगत राजनीति।

25. 'व्यवस्थापिकाओं का रोग विज्ञान' समझाने का प्रयास किस विद्वान ने किया है?
उत्तर—लार्ड ब्राइस ने 1825 में प्रकाशित अपनी कृति 'माडर्न डेमोक्रेसीज' में व्यवस्थापिकाओं का रोग विज्ञान समझाने का प्रयास किया है।

अध्याय : 6

1. विधि को लागू करने वाली सस्था को क्या कहते हैं :
(अ) व्यवस्थापिका (ब) न्यायपालिका (स) कार्यपालिका (द) सरकार।
(उत्तर—स)

2. किस देश में संसदीय कार्यपालिका पायी जाती है :
(अ) ब्रिटेन (ब) जापान (स) भारत (द) उपर्युक्त सभी में।
(उत्तर—द)

3. किस देश में कार्यपालिका व विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है :
(अ) स्विट्जरलैण्ड (ब) संयुक्त राज्य अमरीका
(स) भारत (द) ब्राजील।
(उत्तर—स)

4. अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का प्रमुख गुण है :
(अ) शासन में स्थिरता (ब) सामूहिक उत्तरदायित्व
(स) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व (द) कार्यकाल की अनिश्चितता।
(उत्तर—अ)

5. संसदात्मक कार्यपालिका का प्रमुख गुण है :
(अ) निर्वाचित राष्ट्रपति (ब) उत्तरदायित्व
(स) स्थायित्व (द) मन्त्रियों की विशेषज्ञता।
(उत्तर—ब)

6. औपचारिक कार्यपालिका का उदाहरण नहीं है :
(अ) अमरीकी राष्ट्रपति (ब) भारतीय राष्ट्रपति
(स) ब्रिटिश सम्राट (द) जापान के सम्राट।
(उत्तर—अ)

7. उत्तरदायी कार्यपालिका का उदाहरण नहीं है :
(अ) भारत का प्रधानमन्त्री (ब) अमरीकी राष्ट्रपति
(स) ब्रिटिश प्रधानमन्त्री (द) जापान में मन्त्रिपरिषद।
(उत्तर—ब)

8. कार्यपालिका का राजनीतिक कार्य है :
(अ) विदेश सम्बन्धों का संचालन (ब) सैनिक कार्यों का संचालन
(स) नेतृत्व (द) आर्थिक कार्यों का संचालन।
(उत्तर—स)

9. निम्न में कौनसा कार्यपालिका का कार्य नहीं है :
(अ) प्रशासन का निर्देशन (ब) कानून व व्यवस्था बनाए रखना
(स) संविधान संशोधन (द) कानूनों को लागू करना।
(उत्तर—स)

10. कार्यपालिका का कार्य नहीं है :
(अ) विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति (ब) सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति
(स) युद्ध का संचालन (द) राजनीतिक समाजीकरण एवं शिक्षण।
(उत्तर—द)

11. निम्नलिखित में से कौनसा वक्तव्य सही नहीं है :
(अ) अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में कार्यपालिका को स्पष्टतया व्यवस्थापिका से पृथक् रखा जाता है।
(ब) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका को व्यवस्थापन प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का विधिवत् अवसर मिल जाता है।
(स) संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है।
(द) संसदीय प्रणाली में संसद का अधिवेशन बुलाना, उसका सत्रावसान, स्थगन तथा विघटन करना कार्यपालिका का ही अधिकार है।
(उत्तर—ब)

12. बहुल कार्यपालिका का उदाहरण है :
(अ) ब्रिटेन का मन्त्रिमण्डल (ब) अमरीकी राष्ट्रपति
(स) भारत का राष्ट्रपति (द) स्विस संघीय परिषद।
(उत्तर—द)

13. किस देश मे कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति के बजाय सात व्यक्तियों की एक समिति मे निहित है :
(अ) जापान (ब) फ्रास (स) स्विट्ज़रलैण्ड (द) ब्रिटेन।
(उत्तर—स)

14. किस देश में कार्यपालिका का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है :
(अ) भारत (ब) स्विट्ज़रलैण्ड
(स) ब्रिटेन (द) संयुक्त राज्य अमरीका।
(उत्तर—ब)

15. "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।" यह कथन किसका है :
(अ) चर्चिल (ब) एलेन बाल (स) रैम्जे म्योर (द) राबर्ट सी. वोन।
(उत्तर—स)

16. कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि के कारण :
(अ) गृह संकट (ब) राजनीतिक दलों का विकास
(स) संचार तथा आवागमन के साधन (द) उपर्युक्त सभी।
(उत्तर—द)

17. "वह एक ऐसा सम्राट है जो कि स्वय ही अपना प्रधानमन्त्री है।" ब्रोगन का यह कथन किसके बारे में है :
(अ) भारतीय राष्ट्रपति (ब) अमरीकी राष्ट्रपति
(स) ब्रिटिश सम्राट (द) फ्रेन्च राष्ट्रपति।
(उत्तर—ब)

18. 'मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति की इच्छा का परिणाम मात्र है।' यह कथन किसकी ओर संकेत करता है :
(अ) भारत (ब) ब्रिटेन (स) जापान (द) अमरीका।
(उत्तर—द)

19 किस देश में मन्त्रिमण्डल तो पाया जाता है, किन्तु मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं :
(अ) भारत (ब) अमरीका (स) फ्रांस (द) जापान।
(उत्तर—ब)

20. किस देश की कार्यपालिका मे संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिकाओं के गुणों का समन्वय पाया जाता है :
(अ) स्विट्जरलैण्ड (ब) भारत (स) अमरीका (द) जापान।
(उत्तर—अ)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

21. नाममात्र की कार्यपालिका किन देशों में पायी जाती है?
उत्तर—भारत, इंगलैण्ड एवं जापान में राष्ट्राध्यक्ष नाममात्र की कार्यपालिका के उदाहरण हैं।

22. बहुल कार्यपालिका किस देश में पायी जाती है?
उत्तर—स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका बहुल है जिसमें 7 सदस्य होते हैं।

23. कार्यपालिका के दो कार्य बताइए।
उत्तर—1. प्रशासन का संचालन,
2. कानूनों का क्रियान्वयन।

24. कार्यपालिका की शक्तियों मे वृद्धि के दो कारण बताइए।
उत्तर—1. केन्द्रीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति,
2. राजनीतिक दलों का विकास।

5. नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका में अन्तर कीजिए।

उत्तर—नाममात्र की कार्यपालिका राज्य की औपचारिक प्रधान होती है जबकि वास्तविक कार्यपालिका प्रशासन सम्बन्धी समस्त कार्य व्यवहार में करती है।

अध्याय : 7

1. कानूनों की व्याख्या करने वाला सरकार का अंग है :
(अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका (स) न्यायपालिका (द) नौकरशाही।
(उत्तर—स)

2. किस देश को प्रशासकीय न्यायालयों के लिए जाना जाता है :
(अ) ब्रिटेन (ब) भारत (स) अमरीका (द) फ्रांस।
(उत्तर—द)

3. न्यायाधीशों के चयन का सर्वश्रेष्ठ तरीका है :
(अ) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति (ब) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन
(स) जनता द्वारा निर्वाचन (द) राजनीतिक दलों द्वारा निर्वाचन।
(उत्तर—अ)

4. किस देश में व्यवस्थापिका सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है :
(अ) अमरीका (ब) भारत (स) ब्रिटेन (द) स्विट्जरलैण्ड।
(उत्तर—द)

5. किस देश में न्यायाधीशों का कार्यकाल जीवन पर्यन्त रखा गया है :
(अ) भारत (ब) अमरीका (स) पाकिस्तान (द) ब्रिटेन।
(उत्तर—ब)

6. किस देश को न्यायिक पुनर्निरीक्षण के लिए जाना जाता है :
(अ) फ्रांस (ब) ब्रिटेन (स) स्विट्जरलैण्ड (द) अमरीका।
(उत्तर—द)

7. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है :
(अ) न्यायाधीशों का निश्चित कार्यकाल
(ब) न्यायाधीशो का जनता द्वारा निर्वाचन
(स) न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की सरल प्रक्रिया
(द) न्यायाधीशों की अल्प पदावधि।
(उत्तर—अ)

8. किस देश में संसद का उच्च सदन अपील के सर्वोच्च न्यायालय के रूप मे कार्य करता है :
(अ) अमरीका (ब) ब्रिटेन (स) भारत (द) फ्रांस।
(उत्तर—ब)

9. संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की सख्या कितनी निश्चित कर दी गई है :
(अ) 9 (ब) 15 (स) 21 (द) 25।
(उत्तर—अ)

10. न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ है :
(अ) न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना
(ब) न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना
(स) कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना
(द) व्यवस्थापिका द्वारा न्यायपालिका और कार्यपालिका के कार्यों की वैधता की जांच करना।
(उत्तर—अ)

11. अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किसकी सहमति से की जाती है :
(अ) उपराष्ट्रपति (ब) सीनेट (स) प्रतिनिधि सभा (द) कांग्रेस।
(उत्तर—ब)

12. न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अवगुण है :
(अ) शक्ति पृथक्करण की भावना के प्रतिकूल
(ब) व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का संरक्षण
(स) संघात्मक व्यवस्था का स्थायीकरण
(द) संविधान की सर्वोच्चता स्थापित करना।
(उत्तर—अ)

13. भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति आयु है :
(अ) 60 वर्ष (ब) 70 वर्ष (स) 65 वर्ष (द) 75 वर्ष।
(उत्तर—स)

14. मार्बरी बनाम मेडीसन विवाद किसके लिए प्रसिद्ध है :
(अ) बैंक राष्ट्रीयकरण (ब) न्यायिक पुनर्निरीक्षण
(स) प्रशासनिक विधि (द) विधि का शासन।
(उत्तर—ब)

15. किन देशों में न्यायिक पुनर्निरीक्षण प्रचलित है :
(अ) ब्रिटेन व अमरीका (ब) अमरीका व स्विट्जरलैण्ड
(स) अमरीका और भारत (द) ब्रिटेन और स्विट्जरलैण्ड।
(उत्तर—स)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

16. न्यायपालिका के दो प्रमुख कार्य बताइए।
उत्तर—1. कानूनों की व्यवस्था करना,
2. नागरिको के अधिकारों की रक्षा।

17. न्यायाधीशों के चयन के दो तरीके बताइए।
उत्तर—1. कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति,
2. विधायिका द्वारा निर्वाचन।

18. न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ बताइए।
उत्तर—न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ है न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना।

19. न्यायिक पुनर्निरीक्षण के विपक्ष में दो तर्क दीजिए।

उत्तर—1. शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रतिकूल,
2. लोकमत और प्रजातन्त्र की उपेक्षा।

20. किस देश में व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों का निर्वाचन किया जाता है?

उत्तर—स्विट्जरलैण्ड में राष्ट्रीय सभा संघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है।

अध्याय : 8

1. लोकतन्त्रात्मक शासन में अन्तिम शक्ति किसके पास होती है :
(अ) नेताओं के पास (ब) मतदाता के पास
(स) प्रशासनिक अधिकारियों के पास (द) विशेषज्ञों के पास।
(उत्तर—ब)

2. प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सामान्यतः किसके साथ सम्बद्ध है :
(अ) जापान (ब) चीन (स) स्विट्जरलैण्ड (द) इंग्लैण्ड।
(उत्तर—स)

3. अधिकांश आधुनिक राज्यों में किस प्रकार का लोकतन्त्र पाया जाता है :
(अ) समाजवादी लोकतन्त्र (ब) बुनियादी लोकतन्त्र
(स) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (द) प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र।
(उत्तर—द)

4. लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता या शक्ति किसमें निहित होती है :
(अ) संसद में (ब) जनता में (स) मन्त्रिमण्डल में (द) राष्ट्रपति में।
(उत्तर—ब)

5. निम्नांकित में कौनसा विचारक लोकतन्त्र की उदारवादी विचारधारा से सम्बद्ध नहीं है :
(अ) कार्ल मार्क्स (ब) जे. एस. मिल (स) जॉन लाक (द) टी. एच. ग्रीन।
(उत्तर—अ)

6. लोकतन्त्र की सफलता के लिए क्या आवश्यक नहीं है :
(अ) पेशेवर राजनीतिज्ञ (ब) शिक्षित जनता
(स) स्वतन्त्र न्यायपालिका (द) लोकमत निर्माण के स्वतन्त्र साधन।
(उत्तर—अ)

7. "मॉडर्न डैमोक्रेसीज" पुस्तक का लेखक कौन है :
(अ) लास्की (ब) माण्टेस्क्यू (स) रूसो (द) लार्ड ब्राइस।
(उत्तर—द)

8. निम्नलिखित में से किसने प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की वकालत की है :
(अ) मार्क्स (ब) हॉब्स (स) लॉक (द) रूसो।
(उत्तर—द)

9. लोकतन्त्र मे अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की बात पर किसने बल दिया है :
(अ) प्लेटो (ब) अरस्तू (स) जे. एस. मिल (द) हॉब्स।
(उत्तर—स)

10. लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का समर्थक है :
(अ) लेनिन (ब) स्टालिन (स) मोस्का (द) जे. एस. मिल।
(उत्तर—स)

11. बहुलतावादी लोकतन्त्र को किसने 'बहुतन्त्रवाद' कहा है :
(अ) प्लेटो (ब) राबर्ट डहल (स) लार्ड ब्राइस (द) लास्की।
(उत्तर—ब)

12. उदारवादी और मार्क्सवादी लोकतन्त्र का समन्वित रूप है :
(अ) विशिष्टवर्गीय लोकतन्त्र (ब) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र
(स) बहुलतावादी लोकतन्त्र (द) समाजवादी लोकतन्त्र।
(उत्तर—द)

13. सम्राट के पद की व्यवस्था होने के बावजूद भी लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है :
(अ) भारत (ब) फ्रांस (स) इंग्लैण्ड (द) स्विट्जरलैण्ड।
(उत्तर—स)

14. 'डेमोक्रेसी' शब्द 'डेमोस' से निकला है जो कि :
(अ) लेटिन भाषा का शब्द है (ब) ग्रीक भाषा का शब्द है
(स) रोमन भाषा का शब्द है (द) फ्रेन्च भाषा का शब्द है।
(उत्तर—ब)

15. किस शासन प्रणाली में पेशेवर राजनीतिज्ञों का बाहुल्य पाया जाता है :
(अ) कुलीनतन्त्र (ब) राजतन्त्र (स)अधिनायकतन्त्र (द) लोकतन्त्र।
(उत्तर—द)

16. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के अनेक साधन हैं, उनमें से सर्वाधिक लोकप्रिय दो साधन कौन से हैं :
(अ) चुनाव और राजनीतिक दल (ब) जनमत संग्रह और आरम्भक
(स) नगर सभाएं और संसद (द) राजनीतिक दल और प्रेस।
(उत्तर—ब)

17. लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्त है :
(अ) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (ब) प्रबुद्ध लोकमत
(स) संसदात्मक शासन (द) करिश्माती नेतृत्व।
(उत्तर—ब)

18. उदारवादी लोकतन्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्त नहीं है :
(अ) उत्तरदायी सरकार (ब) मजदूर वर्ग की अधिनायकता
(स) सीमित सरकार (द) बहुमत शासन।
(उत्तर—ब)

19. लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से ऐतिहासिक घटना है :
(अ) बोल्शेविक क्रान्ति (ब) फ्रेन्च राज्य क्रान्ति
(स) औद्योगिक क्रान्ति (द) चीन की साम्यवादी क्रान्ति।
(उत्तर—ब)

20. वह विचारक जिसने लोकतन्त्र की कटु आलोचना की है :
(अ) प्लेटो (ब) जॉन लॉक (स) लार्ड ब्राइस (द) जे. एस. मिल।
(उत्तर—अ)

21. लोकतान्त्रिक प्रशासन का लक्षण है :
(अ) गोपनीयता (ब) पारदर्शिता
(स) लालफीताशाही (द) केन्द्रीकरण।
(उत्तर—ब)

22. लोकतान्त्रिक प्रशासन का लक्षण नहीं माना जाता :
(अ) उत्तरदायित्व (ब) खुला विचार विमर्श
(स) जन सम्पर्क (द) स्वेच्छाचारिता।
(उत्तर—द)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

23. लोकतान्त्रिक प्रशासन के दो लक्षण बताइए।
उत्तर—(1) जवाबदेहिता तथा (2) विकेन्द्रीकरण।

24. विकेन्द्रीकरण से क्या तात्पर्य है?
उत्तर—प्रशासन में निर्णय जनता के नजदीक लिए जाना और स्थानीय स्तर पर जन प्रतिनिधियों के साथ मिलकर निर्णय लेने को विकेन्द्रीकरण कहते हैं।

25. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र से आप क्या समझते हैं?
उत्तर—प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में स्वयं जनता अथवा मतदाता शासन सम्बन्धी निर्णय लेते हैं।

26. लोकतान्त्रिक प्रशासन का अर्थ बताइए।
उत्तर—वह प्रशासन जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो एवं जिस पर संसद एवं न्यायपालिका का प्रभावी नियन्त्रण हो उसे लोकतान्त्रिक प्रशासन कहते हैं।

27. लोकतान्त्रिक प्रशासन के लिए आवश्यक दो शर्त बताइए।
उत्तर—1. जन इच्छा का सम्मान किया जाना चाहिए।
2. प्रशासन का व्यापक आधार होना चाहिए।

अध्याय : 9

1. मेक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही का आधार है :
(अ) राजनीतिक सत्ता (ब) परम्परागत सत्ता
(स) करिश्माती सत्ता (द) कानूनी-बौद्धिक सत्ता।
(उत्तर—द)

2. नौकरशाही के 'आदर्श प्रकार' का वर्णन किसने किया है :
(अ) कार्ल मार्क्स (ब) मैक्स वेबर
(स) एफ. एम. मार्क्स (द) माइकल क्रोजियर।
(उत्तर—ब)

3. नौकरशाही शब्द का सबसे पहले किसने प्रयोग किया :
   (अ) लास्की (ब) एफ. एम. मार्क्स
   (स) जे. एस. मिल (द) दि गार्ने।
   (उत्तर—द)
4. नौकरशाही का प्रमुख लक्षण नहीं है :
   (अ) जनसम्प्रभुता (ब) पदसोपान
   (स) स्पष्ट श्रम विभाजन (द) निश्चित कार्यविधियां।
   (उत्तर—अ)
5. एफ. एम. मार्क्स द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही का प्रकार नहीं है :
   (अ) अभिभावक नौकरशाही (ब) जातीय नौकरशाही
   (स) योग्यता नौकरशाही (द) राजनीतिक नौकरशाही।
   (उत्तर—द)
6. किस विद्वान ने नौकरशाही को 'नवीन निरंकुशता' का नाम दिया है?
   (अ) लास्की (ब) लार्ड हेवार्ट
   (स) बेजहाट (द) रैम्जे म्योर।
   (उत्तर—ब)
7. ऐसा कौनसा समाजशास्त्री था जिसने नौकरशाही पर सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन किया?
   (अ) फैरेल हेडी (ब) मैक्स वेबर
   (स) रिग्स (द) एल्टन मेयो।
8. 'पार्किन्सन लॉ' नौकरशाही की किस बुराई को इंगित करता है?
   (अ) भ्रष्टाचार (ब) लालफीताशाही
   (स) नौकरशाही में उदासीनता एवं अनुदारवाद
   (द) नौकरशाही के आकार में वृद्धि।
   (उत्तर—द)
9. नौकरशाही को 'डेस्क सरकार' अथवा 'ब्यूरो के द्वारा प्रबन्ध' कहकर पुकारता है—
   (अ) मेक्स वेबर (ब) डी. गोर्नी
   (स) जॉन वीग (द) कार्ल मार्क्स।
   (उत्तर—स)
10. भारतीय नौकरशाही का लक्षण है :
    (अ) जातीय नौकरशाही (ब) संरक्षक नौकरशाही
    (स) योग्यता नौकरशाही (द) प्रतिबद्ध नौकरशाही।
    (उत्तर—स)
11. भारत में कितनी अखिल भारतीय सेवाएं हैं?
    (अ) तीन (ब) चार
    (स) पांच (द) ग्यारह।
    (उत्तर—अ)

12. लूट प्रणाली के किए कौनसा देश जाना जाता है?

(अ) भारत (व) इग्लैण्ड

(स) अमेरिका (द) फ्रान्स।

(उत्तर—स)

13. भारतीय नौकरशाही का लक्षण नही है?

(अ) राजनीति से तटस्थता (व) पदसोपान

(स) लालफीताशाही (द) राजनीतिक प्रतिवद्धता।

(उत्तर—द)

14. नौकरशाही के 'आदर्श रूप' का वर्णन करने वाला समाजशास्त्री विद्वान है

(अ) मैक्स वेवर (व) कार्ल मार्क्स

(स) हेराल्ड लास्की (द) फ्रेड रिग्स।

(उत्तर—अ)

15. नौकरशाही को प्रशासन की तर्कपूर्ण व्यवस्था किसने वतलाया है?

(अ) हर्बर्ट साइमन (व) एम. मार्क्स

(स) फ्रेड रिग्स (द) मैक्स वेवर।

(उत्तर—द)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

16. मैक्स वेवर द्वारा वतलाए नौकरशाही के दो लक्षण बताए।

उत्तर—1. स्पष्ट श्रम विभाजन,

2. निश्चित कार्यविधिया।

17. एफ. एम. मार्क्स ने नौकरशाही के कौनसे चार प्रकार वताए हैं?

उत्तर—1. अभिभावक नौकरशाही,

2. जातीय नौकरशाही,

3. सरक्षक नौकरशाही,

4. योग्यता नौकरशाही।

18. नौकरशाही के दो दोष वताइए।

उत्तर—1. लालफीताशाही,

2. आकार मे वृद्धि और कुशलता मे कमी।

19. नौकरशाही के दोपों को दूर करने के दो उपाय वताइए।

उत्तर—1. योग्य मत्रियो की नियुक्ति,

2. सत्ता का विकेन्द्रीकरण।

20. पार्किन्सन नियम से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पार्किन्सन नियम का अर्थ है आकार में वृद्धि और कुशलता मे कमी।

अध्याय : 10

1. किस शासन प्रणाली के संचालन हेतु राजनीतिक दल अनिवार्य हैं :

(अ) अधिनायकतन्त्र (व) लोकतन्त्र

(स) राजतन्त्र (द) कुलीनतन्त्र।

(उत्तर—व)

2. निम्नांकित कार्यों में से कौनसा कार्य राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है :
   (अ) अस्पतालो का निर्माण करना (ब) निर्धनों की मदद करना
   (स) निर्वाचन में प्रत्याशी खड़े करना (द) शिक्षा का प्रसार करना।
   (उत्तर—स)
3. द्विदलीय प्रणाली किस देश में पायी जाती है :
   (अ) फ्रांस (ब) इंग्लैण्ड (स) भारत (द) जापान।
   (उत्तर—ब)
4. ब्रिटेन में किस प्रकार की दल प्रणाली है :
   (अ) दलविहीन व्यवस्था (ब) एकदल व्यवस्था
   (स) द्विदल व्यवस्था (द) बहुदल व्यवस्था।
   (उत्तर—स)
5. बहुदलीय प्रणाली निम्न देशों में से किस में पायी जाती है :
   (अ) चीन (ब) भारत (स) इंग्लैण्ड (द) अमरीका।
   (उत्तर—ब)
6. एक दल प्रणाली किस देश में पायी जाती है :
   (अ) फ्रांस (ब) स्विट्जरलैण्ड (स) भारत (द) चीन।
   (उत्तर—द)
7. निम्नलिखित में से राजनीतिक दल का कौनसा उद्देश्य नहीं है :
   (अ) सता प्राप्त करने की इच्छा (ब) सरकार की आलोचना करना
   (स) लोकमत का निर्माण (द) लोगों का आध्यात्मिक विकास करना।
   (उत्तर—द)
8. लोकतन्त्र में राजनीतिक दल किसके बीच कड़ी है :
   (अ) सरकार और नेता (ब) विधानमण्डल और मतदाता
   (स) विधानमण्डल और सरकार (द) सरकार और दबाव समूह।
   (उत्तर—ब)
9. संसदीय शासन की सफलता के लिए कौनसी दलीय प्रणाली श्रेष्ठ है :
   (अ) एकदलीय प्रणाली (ब) बहुदलीय प्रणाली
   (स) द्विदलीय प्रणाली (द) दलविहीन प्रणाली।
   (उत्तर—स)
10. राजनीतिक दलों का निर्माण सामान्यतः किस आधार पर होता है :
   (अ) धार्मिक हितों के आधार पर
   (ब) जातीय हितों के आधार पर
   (स) सामान्य हितों व राष्ट्रीय हितों के आधार पर
   (द) आर्थिक एवं व्यापारिक हितों के आधार पर।
   (उत्तर—स)

11. बहुदलीय प्रणाली का दोष है :
(अ) स्थिर सरकार (ब) स्थायी नीतियों का निर्माण
(स) सरकार का निर्माण करना सरल (द) कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति।
(उत्तर—द)

12. बहुदलीय प्रणाली का प्रमुख गुण है :
(अ) कठोर दलीय अनुशासन
(ब) बहुमत दल की तानाशाही
(स) शासन में सभी हितों एवं विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व
(द) मतदाताओं के लिए चयन की कम स्वतन्त्रता।
(उत्तर—स)

13. द्विदलीय प्रणाली का प्रमुख गुण है :
(अ) शासन में अस्थिरता (ब) स्थायी नीतियों का निर्माण
(स) दीर्घकालीन नीतियों का अभाव (द) कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति।
(उत्तर—ब)

14. द्विदलीय प्रणाली का प्रमुख दोष है :
(अ) बहुमत दल की तानाशाही (ब) शासन में अस्थिरता
(स) सरकार का सीधा चुनाव (द) स्थिर सरकार।
(उत्तर—अ)

15. किस दल प्रणाली में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का लोप हो जाता है :
(अ) एकदल प्रणाली (ब) द्विदल प्रणाली
(स) बहुदल प्रणाली (द) दलविहीन प्रणाली।
(उत्तर—अ)

16. एक दल प्रणाली का गुण नहीं है :
(अ) अनुशासन (ब) सुदृढ़ शासन
(स) आर्थिक विकास में सहायक (द) उत्तरदायी शासन।
(उत्तर—द)

17. ब्रिटेन के दो प्रमुख राजनीतिक दलों के नाम हैं :
(अ) जनता दल एवं बहुजन समाजवादी पार्टी
(ब) साम्यवादी एवं मार्क्सवादी पार्टी
(स) अनुदार दल एवं श्रमिक दल
(द) डेमोक्रेटिक पार्टी एवं रिपब्लिकन पार्टी।
(उत्तर—स)

18. भारत में एक क्षेत्रीय दल है :
(अ) मार्क्सवादी पार्टी (ब) शिव सेना
(स) भारतीय जनता पार्टी (द) कांग्रेस (इ)।
(उत्तर—ब)

19. बहुदल प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है :
(अ) फ्रांस (ब) इंग्लैण्ड (स) अमरीका (द) चीन।
(उत्तर—अ)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

20. राजनीतिक दलों के दो कार्य बताइए।
उत्तर—(1) शासन का सचालन एवं
(2) लोकमत का निर्माण।

21. दल प्रणाली के दो लाभ बताइए।
उत्तर—(1) निर्वाचन को सरल बनाना एवं
(2) शासन को क्रान्ति से बचाना।

22. दल प्रणाली के दो दोष बताइए।
उत्तर—(1) जनता में द्वेष एवं कटुता पैदा करना तथा
(2) देश में गुटबन्दी पैदा करना।

23. द्विदलीय प्रणाली के दो गुण बताइए।
उत्तर—(1) स्थिर सरकारें तथा
(2) स्थायी नीतियों का निर्माण।

24. बहुदलीय प्रणाली के दो दोष बताइए।
उत्तर—(1) शासन में अस्थिरता तथा
(2) कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति।

25. एकदलीय प्रणाली के दो गुण बताइए।
उत्तर—(1) सुदृढ़ शासन तथा
(2) अनुशासन।

अध्याय : 11

1. दबाव समूह का लक्षण नहीं है :
(अ) विशिष्ट हितो से सम्बन्ध (ब) गैर राजनीतिक संगठन
(स) सरकार पर आधिपत्य की अनिच्छा (द) चुनाव मे अपने प्रत्याशी खड़े करना
(उत्तर—द)

2. दबाव समूहों द्वारा अपनायी जाने वाली तकनीक नही है :
(अ) आकड़े प्रकाशित करना (ब) सरकार गठित करना
(स) लाबीइंग (द) गोष्ठियां।
(उत्तर—ब)

3. निम्नांकित में कौनसा दबाव समूह है :
(अ) शिव सेना (ब) तेलगू देशम
(स) नेशनल कान्फ्रेन्स (द) भारतीय मजदूर संघ।
(उत्तर—द)

4. दबाव समूह किस प्रकार के संगठन हैं :
   (अ) विशुद्ध सैनिक संगठन
   (ब) विशुद्ध गैर-राजनीतिक संगठन
   (स) विशुद्ध राजनीतिक संगठन
   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
   (उत्तर—ब)
5. दबाव समूह कहां पाए जाते हैं :
   (अ) केवल लोकतान्त्रिक देशों में
   (ब) केवल पूंजीवादी देशों में
   (स) केवल अधिनायकवादी देशों में
   (द) सभी देशों में पाए जाते हैं।
   (उत्तर—द)
6. कौनसा वक्तव्य गलत है :
   (अ) राजनीतिक दल विधानमण्डल में कार्य करते हैं जबकि दबाव समूह विधान मण्डल के बाहर
   (ब) राजनीतिक दल का संकुचित उद्देश्य होता है जबकि दबाव समूह के विस्तृत उद्देश्य होते हैं
   (स) राजनीतिक दल का विस्तृत संगठन होता है जबकि दबाव समूह छोटे होते हैं
   (द) राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेते हैं, दबाव समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते।
   (उत्तर—ब)
7. भारत में प्रमुख परम्परावादी दबाव समूह है :
   (अ) अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद
   (ब) अखिल भारतीय किसान सभा
   (स) जाति
   (द) आल इण्डिया रेलवे मेन ऐसोसिएशन।
   (उत्तर—स)
8. लाबीइंग किससे सम्बन्धित है :
   (अ) राजनीतिक दल
   (ब) दबाव समूह
   (स) प्रतिनिधित्व
   (द) निर्वाचन।
   (उत्तर—ब)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

9. दबाव समूह का अर्थ बताइए।
   उत्तर—व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मसलों से होता है।
10. दबाव समूह और राजनीतिक दल में दो अन्तर बताइए।
   उत्तर—दबाव समूह और राजनीतिक दल में अन्तर इस प्रकार है—(1) राजनीतिक दल चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं जबकि दबाव समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते। (2) राजनीतिक दल विधानमण्डल में कार्य करते हैं, जबकि दबाव समूह विधान मण्डल के बाहर कार्य करते हैं।
11. दबाव समूहों द्वारा अपनाए जाने वाले दो तरीके बताइए।
   उत्तर—दबाव समूहों द्वारा अपनाए जाने वाले तरीके हैं—
   (1) आंकड़े प्रकाशित करना, तथा (2) लाबीइंग।

12. भारत के कोई दो परम्परावादी दबाव समूहों के नाम बताइए।
उत्तर—भारत में पाए जाने वाले परम्परावादी दबाव समूह हैं :
(1) जाति पर आधारित दबाव समूह,
(2) साम्प्रदायिक दबाव समूह।

अध्याय : 12

1. वित्त आयोग की नियुक्ति कौन करता है :
(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमन्त्री (स) वित्त मन्त्री (द) संसद।
(उत्तर—अ)
2. वित्त आयोग मे एक अध्यक्ष तथा कितने अन्य सदस्य हो सकते हैं :
(अ) तीन (ब) चार (स) पांच (द) छः।
(उत्तर—ब)
3. भारत के संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेद के अन्तर्गत एक वित्त आयोग की स्थापना की व्यवस्था है :
(अ) 352 (ब) 356 (स) 370 (द) 280।
(उत्तर—द)
4. अब तक भारत में कितने वित्त आयोग नियुक्त हो चुके हैं :
(अ) दस (ब) नौ (स) आठ (द) सात।
(उत्तर—अ)
5. वित्त आयोग के अध्यक्ष के लिए आवश्यक अर्हता है :
(अ) सार्वजनिक कार्यों का अनुभव (ब) वित्तीय कार्यों का अनुभव
(स) तकनीकी कार्यों का अनुभव (द) उपर्युक्त तीनों।
(उत्तर—अ)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. वित्त आयोग का प्रमुख कार्य क्या है?
उत्तर—वित्त आयोग के प्रमुख कार्य हैं :
(1) संघ तथा राज्यों के बीच में करों के शुद्ध आगम के बंटवारे हेतु सिफारिश करना,
(2) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वो के सहायक अनुदान देने में पाल[illegible] सिद्धान्तों के बारे में अनुशंसा करना।
7. वित्त आयोग का संगठन कैसे होता है?
उत्तर—वित्त आयोग में एक सभापति तथा चार अन्य सदस्य होते हैं जिन्हें राष्ट्रपति नि[illegible] करता है।
8. वित्त आयोग अपना प्रतिवेदन किसे सौंपता है?
उत्तर—वित्त आयोग अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को सौंपता है।
9. भारत में अब तक कितने वित्त आयोग नियुक्त हो चुके हैं?
उत्तर—भारत में अब तक दस वित्त आयोग नियुक्त किए गए हैं।

11. वित्त आयोग की कार्यप्रणाली के दो दोष बताइए।

उत्तर—(1) वित्त आयोग राज्यों द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों और सूचनाओं पर निर्भर करता है जो हो सकता है कि सही न हों।

(2) वित्त आयोग मौके पर जाकर राज्यों में उनकी सिफारिशों के आधार पर मिलने वाले अनुदान से चलने वाले कार्यक्रमों की प्रगति का अध्ययन नहीं कर पाता।

अध्याय : 18

1. योजना आयोग के अध्यक्ष होते हैं :
   (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) प्रधानमन्त्री (द) वित्त मन्त्री।
   (उत्तर—स)
2. योजना आयोग किस मन्त्रालय के अन्तर्गत आता है :
   (अ) गृह मन्त्रालय (ब) कल्याण मन्त्रालय
   (स) वित्त मन्त्रालय (द) योजना मन्त्रालय।
   (उत्तर—द)
3. अब तक योजना आयोग ने कितनी पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया है :
   (अ) दस (ब) आठ (स) सात (द) पांच।
   (उत्तर—ब)
4. योजना आयोग भारत सरकार का एक :
   (अ) मन्त्रालय है (ब) विभाग है
   (स) स्टाफ अभिकरण है (द) सूत्र अभिकरण है।
   (उत्तर—स)
5. योजना आयोग का निम्नांकित में से किसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है :
   (अ) राष्ट्रपति (ब) मन्त्रिमण्डल
   (स) लोक लेखा समिति (द) सर्वोच्च न्यायालय।
   (उत्तर—ब)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. योजना आयोग का प्रमुख कार्य बताइए।

उत्तर—1. पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार करना,

2. योजना की क्रियान्विति के चरणों का निर्धारण तथा उनके लिए संसाधनों का निगमन करना।

7. वर्तमान में योजना आयोग का उपाध्यक्ष कौन है?

उत्तर—वर्तमान में योजना आयोग के उपाध्यक्ष है भाजपा नेता श्री जसवंत सिंह।

8. योजना आयोग की स्थापना कब हुई थी?

उत्तर—भारत में योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च 1950 को हुई जिसके बारे में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने संकल्प पारित किया था।

9. योजना आयोग में कितने विषय विभाग हैं ?
उत्तर—योजना आयोग में 19 विषय विभाग हैं।

10. योजना आयोग में कितने सामान्य विभाग है?
उत्तर—योजना आयोग में 12 सामान्य विभाग हैं।

अध्याय : 14

1. राष्ट्रीय विकास परिषद की अध्यक्षता करता है :
(अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) प्रधानमन्त्री (द) योजना मन्त्री।
(उत्तर—स)

2. राष्ट्रीय विकास परिषद का सदस्य नहीं होता :
(अ) उपराष्ट्रपति (ब) राष्ट्रपति (स) स्पीकर (द) उपर्युक्त सभी।
(उत्तर—द)

3. राष्ट्रीय विकास परिषद का पहली बार गठन कब किया गया :
(अ) 1947 (ब) 1950 (स) 1952 (द) 1957।
(उत्तर—स)

4. राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव होता है :
(अ) कैबिनेट सचिव (ब) वित्त सचिव
(स) मुख्य सचिव (द) योजना आयोग का सचिव।
(उत्तर—द)

5. राष्ट्रीय विकास परिषद के निर्णय प्रायः :
(अ) सर्वसम्मति से होते हैं (ब) बहुमत से होते हैं
(स) दो-तिहाई बहुमत से होते हैं (द) तीन-चौथाई बहुमत से होते हैं।
(उत्तर—अ)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. राष्ट्रीय विकास परिषद के दो प्रमुख कार्य बताइए।
उत्तर—राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य हैं :
(1) राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-समय पर विचार करना,
(2) योजना आयोग द्वारा तैयार की गई राष्ट्रीय योजना पर विचार करना।

7. राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन कैसे होता है?
उत्तर—राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन निम्नांकित से मिलकर होता है :
(1) प्रधानमन्त्री तथा कैबिनेट स्तर के मन्त्री,
(2) सभी राज्यों तथा संघीय प्रदेशों के मुख्यमन्त्री,
(3) योजना आयोग के उपाध्यक्ष एवं सदस्य।

8. राष्ट्रीय विकास परिषद के दो उद्देश्य बताइए।
उत्तर—(1) योजना आयोग की सहायता के लिए राष्ट्र के स्रोतों तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना, (2) सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समरूप आर्थिक नीतियों को अपनाने को प्रोत्साहित करना।

9. राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना कब की गई?

उत्तर—राष्ट्रीय विकास परिषद का पहली बार गठन मन्त्रिमण्डल सचिवालय द्वारा जारी किए गए अगस्त 1952 के प्रस्ताव के अन्तर्गत हुआ।

10. राष्ट्रीय विकास परिषद की अध्यक्षता कौन करता है?

उत्तर—प्रधानमन्त्री राष्ट्रीय विकास परिषद का अध्यक्ष होता है अतः वही इसकी अध्यक्षता करता है।

अध्याय : 15

1. कौनसी संवैधानिक संस्था है :

(अ) योजना आयोग (ब) राष्ट्रीय विकास परिषद
(स) निर्वाचन आयोग (द) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग।
(उत्तर—स)

2. संविधान के किस अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन किया जाता है :

(अ) 280 (ब) 324 (स) 315 (द) 352।
(उत्तर—ब)

3. वर्तमान में निर्वाचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त के अतिरिक्त कितने सदस्य और हैं :

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पांच।
(उत्तर—अ)

4. निर्वाचन आयुक्त का कार्यकाल कितना रखा गया है :

(अ) 6 वर्ष या 62 वर्ष की आयु तक (ब) 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु तक
(स) 6 वर्ष तक (द) 6 वर्ष या 60 वर्ष की आयु तक।
(उत्तर—ब)

5. निर्वाचन आयोग की प्रमुख विशेषता है :

(अ) एक सदस्यीय आयोग (ब) सरकार का अंग है
(स) बहुसदस्यीय आयोग (द) न्यायालय का अंग है।
(उत्तर—स)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. निर्वाचन आयोग की रचना बताइए।

उत्तर—भारत में निर्वाचन आयोग एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा दो अन्य निर्वाचन आयुक्तों से मिलकर बनता है। इस प्रकार यह एक तीन सदस्यीय साविधानिक निकाय है जिसमें तीनों सदस्यो के अधिकार बराबर हैं।

7. निर्वाचन आयोग के दो कार्य बताइए।

उत्तर—निर्वाचन आयोग के प्रमुख कार्य हैं—(1) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन, (2) मतदाता सूचियां तैयार करना, (3) राजनीतिक दलो को मान्यता प्रदान करना, आदि।

8. निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र निकाय किस प्रकार है, दो तर्क दीजिए।

उत्तर—निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र निकाय है क्योंकि (1) यह एक साविधानिक संस्था है, (2) मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों का वेतन भारत की संचित निधि

में से दिया जाता है। (3) उनका सेवा निवृत्ति कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो भी पूर्व हो, कर दी गई है, (4) मुख्य निर्वाचन आयुक्त को महाभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।

9. निर्वाचन आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल बताइए।

उत्तर—निर्वाचन आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यो का कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो भी पूर्व हो, कर दी गई है।

10. भारत में चुनाव व्यवस्था की दो कमियां बताइए।

उत्तर—भारतीय निर्वाचन व्यवस्था के प्रमुख दोष है

1. राजनीतिक दलों को प्राप्त जन समर्थन और सीटों के अनुपात में अन्तर,
2. चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका,
3. चुनावों में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग,
4. जाली मतदान।

अध्याय : 16

1. संघ लोक सेवा आयोग का प्रमुख कार्य क्या है :

(अ) प्रशिक्षण (ब) भर्ती (स) निर्वाचन (द) प्रशासन का संचालन।

(उत्तर—ब)

2. संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति कौन करता है :

(अ) राष्ट्रपति (ब)प्रधानमन्त्री (स) संसद (द) मुख्य सचिव।

(उत्तर—अ)

3. संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों का कार्यकाल कितना है :

(अ) 6 वर्ष तक
(ब) 65 वर्ष की आयु तक
(स) 6 वर्ष तक अथवा 65 वर्ष की आयु तक
(द) 6 वर्ष अथवा 62 वर्ष की आयु तक।

(उत्तर—स)

4. संघ लोक सेवा आयोग का स्वरूप कैसा है :

(अ) बाध्यकारी (ब) सलाहकारी (स) सरकारी (द) सूत्र अभिकरण।

(उत्तर—ब)

5. संघ लोक सेवा आयोग अपना प्रतिवेदन किसे सौंपता है :

(अ) स्पीकर को (ब) वित्त मन्त्री को
(स) राष्ट्रपति को (द) वेतन आयोग को।

(उत्तर—स)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. संघ लोक सेवा आयोग के दो प्रमुख कार्य बताइए।

उत्तर—संघ लोक सेवा आयोग के कार्य हैं :

(1) संघ की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना,
(2) भर्ती के तरीकों के बारे में संघ सरकार को परामर्श देना।

7. संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को कितना वेतन मिलता है?
   उत्तर—संघ लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष को 9,000 रु. मासिक वेतन मिलता है।

8. संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को किस प्रकार अपने पद से हटाया जा सकता है?
   उत्तर—संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को दुराचार के लिए राष्ट्रपति के आदेश द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। दुराचार को प्रमाणित करने की प्रक्रिया संविधान द्वारा निश्चित की गई है। राष्ट्रपति द्वारा ऐसा मामला सर्वोच्च न्यायालय के विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा।

9. संघ लोक सेवा आयोग एक स्वतन्त्र संस्था किस प्रकार है, दो कारण लिखिए।
   उत्तर—संघ लोक सेवा आयोग एक सांविधानिक निकाय है किसी सदस्य के वेतन, भत्तों तथा सेवा की अन्य शर्तों को उसकी पदावधि में बदला नहीं जा सकता; आयोग के वेतन, भत्ते तथा प्रशासनिक व्यय भारत सरकार की संचित निधि पर भारित हैं।

10. संघ लोक सेवा आयोग की भूमिका सलाहकारी क्यों रखी गई?
    उत्तर—आयोग की सलाहकारी भूमिका होने से वह अधिक प्रभावी रहता है; बाध्यकारी भूमिका होने से उसकी सरकार से टकराहट हो सकती है। आयोग की सिफारिशों को प्रायः सरकार द्वारा मान लिया जाता है।

अध्याय : 17

1. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना कब की गई :
   (अ) 1953-54 (ब) 1955-56 (स) 1957-58 (द) 1958-59।
   (उत्तर—अ)

2. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड किसके द्वारा वित्त पोषित है :
   (अ) दिल्ली शासन द्वारा (ब) भारत सरकार द्वारा
   (स) राज्य सरकारों द्वारा (द) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा।
   (उत्तर—ब)

3. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है :
   (अ) भारत सरकार द्वारा (ब) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा
   (स) संसद द्वारा (द) योजना आयोग द्वारा।
   (उत्तर—अ)

4. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का सर्वोच्च अधिकारी होता है :
   (अ) सचिव (ब) अध्यक्ष (स) संरक्षक (द) महामन्त्री।
   (उत्तर—ब)

5. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का प्रमुख अंग नहीं है :
   (अ) अध्यक्ष (ब) कार्यकारी निदेशक
   (स) सामान्य निकाय (द) राज्य परिषद।
   (उत्तर—द)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के दो कार्य बताइए।

उत्तर—(1) केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा कल्याण कार्य में सलग्न संगठनों को दी जा रही सहायता में समन्वय करना, (2) स्वयं सेवी संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन देना।

7. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के दो उद्देश्य बताइए।

उत्तर—1. समाज कल्याण संगठनों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का समय-समय पर संरक्षण, शोध और मूल्यांकन के माध्यम से समुचित अध्ययन करना,
2. अनुदान प्राप्त सगठनों के कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन करना।

8. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की कार्यकारिणी समिति का गठन कैसे होता है?

उत्तर—कार्यकारिणी समिति में बोर्ड के अध्यक्ष तथा कार्यकारी निदेशक सहित 15 सदस्य होते हैं।

9. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति कौन करता है?

उत्तर—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है।

10. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के सामान्य निकाय का गठन किस प्रकार होता है?

उत्तर—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के 'सामान्य निकाय' मे बोर्ड के अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्य हैं। बोर्ड के सामान्य निकाय के अध्यक्ष एवं सभी सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।

अध्याय : 18

1. भारत में रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष को क्या कहते हैं :

(अ) महासचिव (ब) प्रधान सचिव (स) चेयरमैन (द) उपाध्यक्ष।

(उत्तर—स)

2. रेलवे बोर्ड के चेयरमैन का दर्जा किसके समान है :

(अ) सचिव (ब) कैबिनेट सचिव (स) मुख्य सचिव (द) विशेष सचिव।

(उत्तर—अ)

3. रेलवे बोर्ड के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :

(अ) 7 वर्ष (ब) 6 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 2 वर्ष।

(उत्तर—स)

4. रेलवे बोर्ड का लक्षण नहीं है :

(अ) एक सदस्यीय निकाय (ब) सामूहिक निकाय
(स) विशेषज्ञ संस्था (द) अधिकांश सदस्य इन्जीनियर्स।

(उत्तर—अ)

5. भारत सरकार का सबसे बड़ा मन्त्रालय/विभाग है :

(अ) वित्त मन्त्रालय (ब) रेल मन्त्रालय
(स) गृह मन्त्रालय (द) विदेश मन्त्रालय।

(उत्तर—ब)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. रेलवे बोर्ड का गठन कैसे होता है?

उत्तर—रेलवे बोर्ड एक अध्यक्ष, एक वित्त आयुक्त, 5 अन्य कार्यालक सदस्यों तथा एक सचिव से मिलकर गठित होता है।

7. रेलवे बोर्ड के दो कार्य बताइए।

उत्तर—(1) नीति सम्बन्धी मामलों मे बोर्ड रेल मन्त्री को परामर्श देता है,
(2) बोर्ड ही रेलवे का वार्षिक बजट तैयार करता है।

8. रेलवे बोर्ड की दो विशेषताएं बताइए।

उत्तर—रेलवे बोर्ड की विशेषताएं हैं कि—
(1) यह एक सामूहिक निकाय है,
(2) यह विशेषज्ञों की संस्था है जिसके अधिकाश सदस्य इंजीनियर्स हैं,
(3) बोर्ड का प्रत्येक सदस्य कार्यात्मक है।

9. रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष की स्थिति बताइए।

उत्तर—रेलवे बोर्ड की समस्त गतिविधियां बोर्ड के अध्यक्ष के नेतृत्व में संचालित होती हैं; अध्यक्ष स्वयं एक कार्यकारी सदस्य होता है और उसे भारत सरकार के प्रमुख सचिव का दर्जा प्राप्त है। वह रेलवे विभाग का प्रशासनिक अध्यक्ष भी होता है और रेलवे सम्बन्धी नीति निर्धारण में रेल मन्त्री को परामर्श देता है।

10. रेलवे बोर्ड के सदस्यों का कार्यकाल कितना होता है?

उत्तर—रेलवे बोर्ड के सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष है, किन्तु सेवा निवृत्ति आयु पूरी होने पर उन्हें पूर्व में भी सेवानिवृत्त किया जा सकता है।

अध्याय : 19

1. भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना कब हुई :
(अ) 1935 (ब) 1947 (स) 1949 (द) 1950।
(उत्तर—अ)

2. रिजर्व बैंक के सर्वोच्च अधिकारी को क्या कहते हैं :
(अ) चेयरमैन (ब) गवर्नर (स) निदेशक (द) महानिदेशक।
(उत्तर—ब)

3. रिजर्व बैंक के गवर्नर एव डिप्टी गवर्नर का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :
(अ) 7 वर्ष (ब) 6 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 4 वर्ष।
(उत्तर—स)

4. रिजर्व बैंक का स्थानीय मण्डल कहां नहीं है :
(अ) बम्बई (ब) कलकत्ता (स) मद्रास (द) जयपुर।
(उत्तर—द)

5. रिजर्व बैंक का केन्द्रीय कार्यालय कहा पर है :
(अ) दिल्ली (ब) बम्बई (स) कलकत्ता (द) लखनऊ।
(उत्तर—ब)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. रिजर्व बैंक का गठन कैसे होता है?
   उत्तर—रिजर्व बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय निदेशक मण्डल करता है जिसके 20 सदस्य होते हैं—एक गवर्नर व चार डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार द्वारा, चार संचालक स्थानीय मण्डलों द्वारा, 10 संचालक व एक अधिकारी भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।
7. केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक के दो कार्य बताइए।
   उत्तर—केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक के कार्य हैं :
   (1) नोट निर्गमन (2) साख नियमन आदि।
8. व्यापारिक बैंक के रूप में रिजर्व बैंक के दो कार्य बताइए।
   उत्तर—व्यापारिक बैंक के रूप में रिजर्व बैंक के कार्य हैं :
   (1) केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों, बैंकों व व्यक्तियों से बिना ब्याज के जमा स्वीकार करना,
   (2) विश्व बैंक के साथ लेन-देन करना।
9. रिजर्व बैंक को बैंकों का बैंक क्यों कहा गया है?
   उत्तर—रिजर्व बैंक को अन्य बैंको के नियमन का अधिकार है। कोई भी नई बैंक बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के स्थापित नहीं हो सकती और न पुरानी बैंक अपनी नई शाखाएं ही खोल सकती है। यह बैंकों के बिलों को भुनाती है, उनके समाशोधन की व्यवस्था करती है तथा उनकी साख नीति को निर्धारित करती है। वस्तुतः रिजर्व बैंक बैंकों का बैंक है, उनका शुभचिन्तक है तथा संरक्षक एवं नियन्त्रक सभी कुछ है।
10. रिजर्व बैंक की दो कमियां बताइए।
    उत्तर—(1) रिजर्व बैंक मुद्रा प्रसार को रोकने में सफल नहीं हो पाया है।
    (2) यह बैंकिंग व्यवस्था भी सुदृढ़ नहीं कर पाया है।

अध्याय : 20

1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम कब पारित हुआ :
   (अ) 1947 (ब) 1950 (स) 1952 (द) 1956।
   (उत्तर—द)
2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में कितने उपाध्यक्ष होते हैं :
   (अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार।
   (उत्तर—अ)
3. यू. जी. सी. के अध्यक्ष की नियुक्ति कौन करता है :
   (अ) केन्द्र सरकार (ब) राज्य सरकारें
   (स) संघ लोक सेवा आयोग (द) मुख्यमन्त्री।
   (उत्तर—अ)
4. यू. जी. सी. के अध्यक्ष का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :
   (अ) 6 वर्ष (ब) 5 वर्ष (स) 4 वर्ष (द) 3 वर्ष।
   (उत्तर—ब)

5. यू. जी. सी. के गठन में किसका प्रतिनिधित्व अधिक है :
(अ) राजनीतिज्ञों (ब) प्रशासकों (स) शिक्षकों (द) विद्यार्थियों।
(उत्तर—स)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. यू. जी. सी. के दो कार्य बताइए।
उत्तर—यू. जी. सी. के कार्य हैं—(1) विश्वविद्यालय एवं सम्बद्ध कालेजों को अनुदान राशि का आवंटन एवं बंटवारा करना, (2) देश के विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक, परीक्षा सम्बन्धी तथा अनुसन्धान विषयक स्तर की जानकारी के लिए उस विश्वविद्यालय की सहमति से निरीक्षण करना।

7. यू. जी. सी. का गठन किस प्रकार होता है?
उत्तर—यू. जी. सी. का गठन एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष एवं 10 सदस्यों से होता है।

8. यू. जी. सी. के सदस्यों का कितना कार्यकाल होता है?
उत्तर—यू. जी. सी. के अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष तथा उपाध्यक्ष एवं सदस्यो का कार्यकाल 3 वर्ष रखा गया है।

9. यू. जी. सी. के दो लक्षण बताइए।
उत्तर—यू. जी. सी. एक सलाहकारी संस्था है तथा यह केन्द्रीय सरकार के अभिकरण के रूप में कार्य करती है।

10. यू. जी. सी. में शिक्षकों का प्रतिनिधित्व किस भांति रखा गया है?
उत्तर—यू. जी. सी. में शिक्षकों का प्रतिनिधित्व अधिक है यदि 4 शिक्षक, एक कुलपति तथा एक शिक्षाविद को मिला दिया जाए तो किसी भी समय आयोग में लगभग 6 शिक्षक सदस्य हो सकते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर के लिए मॉडल लघु उत्तरात्मक प्रश्न

नोट : प्रत्येक प्रश्न के उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए।

अध्याय 1

1. लोकतान्त्रिक समाज से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—वह समाज जिसमें लिए गए निर्णयो का आधार खुला विचार-विनिमय होता है, निर्णय प्रक्रिया में सम्पूर्ण समाज को सहभागी बनाया जाता है तथा सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित हो उसे लोकतान्त्रिक समाज कहा जाता है।

लोकतन्त्र में शासकों को सत्ता जनता की धरोहर के रूप में प्राप्त होती है तथा इस सत्ता का उन्हे जनता के हित में, जनता की उन्नति व प्रगति के लिए ही प्रयोग करना होता है। केवल वही राजनीतिक समाज लोकतान्त्रिक माने जाते है। जहां शासक निरन्तर उत्तरदायित्व निभाते है।

वस्तुतः लोकतान्त्रिक समाज की पहचान जनता की संप्रभुता होती है।

2. समाजवादी समाज से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—समाजवादी समाज व्यवस्था में राज्य को विशिष्ट महत्व दिया जाता है तथा उत्पादन के सभी साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। ऐसा समाज आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न करता है; धन का वितरण लोगों की योग्यता तथा कार्य के अनुसार करने के लिए अमीरों पर अधिक कर लगाता है ताकि उपलब्ध धनराशि को सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च किया जा सके।

समाजवादी समाज में राज्य शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि श्रमिकों को उचित वेतन मिले, उन्हे आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों तथा मुनाफाखोरी बंद की जाए।

अध्याय 2

1. अहस्तक्षेपवादी राज्य से आप क्या समझते है?

उत्तर—'लैसेज फेयर' फ्रेन्च भाषा का शब्द है जिससे अभिप्राय है कि व्यक्ति को अकेला छोड़ दो ताकि वह अपना कार्य स्वयं अपनी इच्छानुसार कर सके। अहस्तक्षेपवाद (लैसे फेयर) का अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार काम करने दिया जाए क्योंकि वह अपने निजी हितों का सर्वोत्तम सरक्षक है। यह व्यक्ति की प्रधानता को स्वीकार करता है और व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता देने के पक्ष मे है। इस सिद्धान्त को 'हस्तक्षेप न करने की नीति' भी कहा गया है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य से तात्पर्य है कि राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य को 'न्यूनतम कार्य' करने चाहिए तथा व्यक्ति को अपने निजी मामलों मे अधिकतम स्वतन्त्रता देनी चाहिए। अहस्तक्षेपवादी राज्य का प्रबल समर्थक हर्बर्ट स्पेन्सर राज्य को एक आवश्यक बुराई स्वीकार कर उसके कार्यों एवं शक्तियों का विरोध करता है।

2. अहस्तक्षेपवादी राज्य के पक्ष में आर्थिक तर्क क्या है?

उत्तर—अहस्तक्षेपवादी राज्य के समर्थक व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो एवं जे. एस. मिल प्रमुख हैं। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ-हानि को भली-भांति समझता है अतः राज्य को व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वस्तुओं का मूल्य मांग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होता है यदि वस्तु की मांग अधिक होगी और पूर्ति कम होगी तो दाम बढ़ जाएगा। मांग कम होगी और उत्पादन अधिक होगा तो कीमत घट जाएगी। अतः राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, भावों का नियमन नहीं करना चाहिए और न मूल्य ही निर्धारित करना चाहिए। स्वतन्त्र आर्थिक प्रतियोगिता होनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक परिश्रम कर अपने हितों की पूर्ति कर सके।

अध्याय 3

1. लोक कल्याणकारी राज्य से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस राज्य में व्यक्ति की भलाई अथवा कल्याण के लिए अधिक से अधिक कार्य संपन्न किए जाते हैं तथा जो राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए आवश्यक रूप से लोकतान्त्रिक राज्य होता है, उसे लोक कल्याणकारी राज्य कहते हैं।

सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन स्तर को ऊपर उठाना लोक कल्याणकारी राज्य के बुनियादी तत्व हैं।

डा. आशीर्वादम के अनुसार, कल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार ताकि अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो सके। ऐसा राज्य अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।

ऐसा राज्य व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मिश्रण होता है। यह व्यक्तिवाद की भांति व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता और समाजवाद की भांति अधिक से अधिक कार्यों का सम्पादन करता है।

लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण बताइए।

उत्तर—लोक कल्याणकारी राज्य एक लोकतान्त्रिक राज्य होता है जो सामाजिक न्याय के आदर्श पर कार्य करता है। ऐसा राज्य नागरिकों को अधिक से अधिक सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य नागरिकों के सामान्य जीवन स्तर को बनाए रखने का प्रयास करता है। यह एक समाज सेवी राज्य होता है। हॉब्मैन के अनुसार, "यह दो अतियों में एक समझौता है जिसमें एक तरफ साम्यवाद है और दूसरी तरफ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।"

अध्याय 4

प्रशासकीय राज्य से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आधुनिक राज्य को 'प्रशासकीय राज्य' कहा गया है। राज्य में मन्त्रिमण्डल, संसद और न्यायपालिका जैसी संस्थाएं विद्यमान होती हैं, किन्तु एक आम व्यक्ति का दिन-प्रतिदिन का काम प्रशासकों एवं लोकसेवकों द्वारा ही पूरा किया जाता है।

वस्तुतः प्रशासन आज के राज्य का हृदय बन गया है। राज्य की नीतियों का क्रियान्वयन प्रशासन ही करता है। सरकार एक आकार है जिसमें प्रशासक एक चित्रकार की भांति रंग भरता है, उसे क्रियाशील एवं प्रभावी बनाता है। प्रशासन राज्य का [illegible] है।

सरकार के हाथ, पैर और चक्षु है, सरकार की सफलता का रहस्य है। इसलिए वर्तमान युग को 'प्रशासनिक राज्य' का युग कहा गया है।

राज्य का स्वरूप प्रशासकीय हो गया है इसका कारण यह है कि आज विधायिका और न्यायपालिका की तुलना में प्रशासकीय कार्य अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। कार्यपालिका की शक्तियों में विस्तार का अन्तर्निहित परिणाम प्रशासन की शक्तियों का ही विस्तार है। कार्यपालिका के सांविधानिक कार्यों एवं दायित्वों का निर्वाह प्रशासन ही करता है। प्रशासन ही कार्यरत सरकार है।

संक्षेप में, प्रशासकीय राज्य से तात्पर्य है—"नौकरशाही राज्य" अथवा ऐसा राज्य जहां सर्वत्र प्रशासक छाए रहते हों। क्रोजियर के अनुसार "प्रशासकीय राज्य ब्यूरोक्रेसी द्वारा सरकार है।"

2. प्रशासकीय राज्य की प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।

उत्तर—प्रशासकीय राज्य की अनेक विशेषताएं हैं—प्रथम, ऐसा राज्य किसी खास विचारधारा से सम्बद्ध नहीं है, सभी राज्य चाहे वे लोकतान्त्रिक हों, समाजवादी या अधिनायकवादी हों, किसी न किसी सीमा तक प्रशासकीय राज्य होते हैं। द्वितीय, प्रशासकीय राज्य में सिद्धान्ततः भले ही जनता के हाथों में सत्ता रहती हो, किन्तु व्यवहार में नौकरशाही ही शासन का सूत्रधार होती है। तृतीय, एफ. एम. मार्क्स ने प्रशासकीय राज्य को एक 'गैरिजन स्टेट' का नाम दिया है। ऐसा राज्य स्वयं एक किले के समान है जिसमें नौकरशाही एक सेना के रूप में है। चतुर्थ, प्रशासकीय राज्य में लोकसेवकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है और पंचम, प्रशासकीय राज्य में संरचनात्मक विशिष्टीकरण पाया जाता है।

संक्षेप में, प्रशासकीय राज्य ऐसा राज्य है जिसमें नौकरशाही अत्यधिक महत्वपूर्ण, शक्तिशाली और सर्वत्र छायी रहती है।

अध्याय 5

1. व्यवस्थापिका किसे कहते हैं?

उत्तर—व्यवस्थापिका सरकार का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह जनता का दर्पण है। आधुनिक समय में 'नियम निर्माण' का कार्य करने वाली संस्थाओं को व्यवस्थापिका कहा जाता है।

व्यवस्थापिका व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक संगठन है जो विधि निर्माण के अधिकार से युक्त होता है। व्यवहारवादियों के अनुसार, "विधानमण्डल समाज विशेष के लिए मूल्यों के अधिकारिक वितरण करने की शक्ति से युक्त व्यक्ति संगठन है।"

2. व्यवस्थापिकाओं के पतन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—लार्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'माडर्न डेमोक्रेसीज' में 'व्यवस्थापिकाओं के पतन' की चर्चा की है। ब्राइस ने 'व्यवस्थापिकाओं का रोग विज्ञान' समझाने का प्रयास किया है जिससे व्यवस्थापिकाएं पीड़ित होकर पतन की ओर जा रही हैं।

के. सी. व्हीयर के अनुसार, "निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है, किन्तु कार्यपालिका के परिप्रेक्ष्य में उनकी शक्तियां करीब-करीब सभी पहलुओं में कम हुई है।"

व्यवस्थापिकाओं के पतन या अवनति के सामान्य कारण निम्नलिखित हैं :

(1) कार्यपालिका के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि,

(2) प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा,

(3) रेडियो और टेलीविजन,

(4) सेना पर कार्यपालिका का नियन्त्रण,

(5) सकारात्मक राज्य का उदय,

(6) दलगत राजनीति।

यह सच है कि व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों और स्थिति में कमी आई है, लेकिन इस स्थिति का बोध उनके 'निधन' से नहीं किया जा सकता।

अध्याय 6

1. कार्यपालिका से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों का क्रियान्वयन करता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को क्रियान्वित करता है।"

कार्यपालिका शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—व्यापक और संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत राज्य का कार्यकारी अध्यक्ष, प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद तथा प्रशासनिक कर्मचारी सम्मिलित किए जा सकते हैं। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका में वे ही व्यक्ति सम्मिलित हैं जो नीति निर्धारित करते हैं, योजनाएं बनाते हैं और कानूनों का क्रियान्वयन करते है। इसे राजनीतिक कार्यपालिका कहते है। इस अर्थ में इंग्लैण्ड में सम्राट, प्रधानमन्त्री और उसका मन्त्रिमण्डल; भारत में राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल; अमरीका में राष्ट्रपति और उसका मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका के अन्तर्गत आएंगे।

2. कार्यपालिका के कार्य बतलाइए।

उत्तर—कार्यपालिका सरकार शब्द का पर्यायवाची बन गई है और अग्रलिखित कार्य करती है:

(1) प्रशासन का संचालन—देश का प्रशासन चलाना कार्यपालिका का कार्य है। (2) कूटनीतिक कार्य विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना कार्यपालिका का दायित्व है।

भी कार्यपालिका का है। (5) न्यायिक कार्य—कार्यपालिका न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है अपराधियों को क्षमादान करती है।

अध्याय 7

1. न्यायपालिका से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—न्यायपालिका शासन का वह अंग होती है जो विधियों की व्याख्या करती है तथा उनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। यह उन व्यक्तियों का समूह है जिन्हें कानून के अनुसार समाज के विवादों को हल करने का अधिकार प्राप्त रहता है।

न्यायपालिका न्यायिक प्रक्रिया की संरचनात्मक व्यवस्था है। यह व्यवस्थित कानूनी लड़ाई के लिए की गई व्यवस्था के अन्तर्गत जांच करने का तरीका है। यह समाज में प्रचलित विधियों को लेकर उठने वाले विवादों का समाधान करने का संस्थागत यन्त्र है।

2. न्यायिक पुनर्निरीक्षण से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—न्यायपालिका की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार है। न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ है न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के

कार्यों की वैधता की जांच करना। डिमॉक के अनुसार न्यायिक पुनर्निरीक्षण व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून और कार्यपालिका या प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा किए गए कार्यों से सम्बन्धित अपने सामने आए मुकदमों में न्यायालय द्वारा उस जांच को कहते हैं जिसके अन्तर्गत वे निर्धारित करते हैं कि कानून का कार्य संविधान द्वारा प्रतिबन्धित है या नहीं।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण की पद्धति का चलन अमरीकी मुख्य न्यायाधीश मार्शल द्वारा सन् 1803 में मार्बरी बनाम मेडीसन के मामले में दिए गए निर्णय से माना जाता है।

अध्याय 8

1. लोकतान्त्रिक प्रशासन से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—लोकतान्त्रिक प्रशासन शासन का वह रूप है जिसमें सरकारी तन्त्र के संचालन में स्वयं [illegible]

[illegible]

है तथा प्रशासकों को जन प्रतिनिधियों द्वारा जनहित में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। लोकतान्त्रिक प्रशासन आम लोगों के हित में काम करते हुए नौकरशाही प्रवृत्तियों से मुक्त रहता है। प्रशासन पारदर्शी होता है और लोगों को प्रशासन से हर प्रकार की सूचना पाने का अधिकार होता है।

2. लोकतान्त्रिक प्रशासन के प्रमुख लक्षण बतलाइए।

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि यदि किसी देश में लोकतान्त्रिक ढंग की सरकार है तो वहां प्रशासन भी पूर्णतया लोकतान्त्रिक ही हो। तीसरी दुनिया के अनेक देशों में लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था विद्यमान है परन्तु प्रशासन का स्वरूप अभी भी सामन्तवादी एवं नौकरशाही जैसा ही है।

लोकतान्त्रिक प्रशासन के कई लक्षण या विशेषताएं हैं : लोकतन्त्र में प्रशासन जनता का सेवक होता है न कि मालिक; प्रशासन में लोगों की सहभागिता होती है; प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है; प्रशासन पारदर्शी होता है अर्थात प्रशासन द्वारा लिए गए निर्णयों की पूरी जानकारी जनता को उपलब्ध करायी जाती है; प्रशासन निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता, उसे अनेक संवैधानिक एवं संस्थागत नियन्त्रणों में कार्य करना होता है; लोक सेवा के अधिकारी चाहे कितने ही उच्च पद पर आसीन हों, राजनीतिक नेतृत्व के निदेशन एवं अधीक्षण में कार्य करते हैं।

अध्याय 9

1. नौकरशाही से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—नौकरशाही का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'ब्यूरोक्रेसी' फ्रेन्च भाषा के 'ब्यूरो' शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ एक विभागीय उपसम्भाग अथवा विभाग से है। यह प्रायः सरकारी विभाग का परिचायक है। फ्रांस में इस शब्द का प्रयोग ड्राअर वाली मेज अथवा लिखने की डेस्क के लिए हुआ करता था। इस डेस्क पर ढके कपड़े को 'ब्यूरल' कहा जाता था तथा इसी के आधार पर निर्मित 'ब्यूरो' शब्द सरकारी कार्यों का परिचायक था। आगे चलकर इसका हासकारी प्रयोग सारे यूरोप में किया जाने लगा। जहां-जहां सरकार मे निरंकुशता, संकुचित दृष्टिकोण तथा सरकारी अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता दिखायी पड़ी वहीं उसे नौकरशाही कहा जाने लगा। धीरे-धीरे इसका भावार्थ नियमों का कठोर पालन, अनुत्तरदायित्व, जटिल प्रक्रियाओं तथा निहित स्वार्थों से लिया जाने लगा।

रावर्ट सी. स्टोन के अनुसार, "नौकरशाही का अर्थ कार्यालय द्वारा शासन या अधिकारियों द्वारा शासन है। सामान्यतः इसका प्रयोग दोषपूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं के संदर्भ में किया जाता है।" नौकरशाही संगठनों में लालफीताशाही, कठोर नियम और कार्यविधि पर जोर दिया जाता है।

2. संरक्षक नौकरशाही किसे कहते हैं?

उत्तर—एफ. एम. मार्क्स ने नौकरशाही के चार प्रकार बतलाए हैं—अभिभावक नौकरशाही, जातीय नौकरशाही, संरक्षक नौकरशाही तथा योग्यता नौकरशाही।

संरक्षक नौकरशाही नौकरशाही का वह रूप है जिसमें लोक सेवाओं की नियुक्ति उनकी तुलनात्मक योग्यता के आधार पर नहीं की जाती है वरन् नियोक्ता और प्रत्याशियों के राजनीतिक सम्बन्धों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की नौकरशाही में चुनाव में विजयी राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को ऊंचे पदों पर नियुक्त करते हैं। इसका दूसरा नाम 'लूट पद्धति' है। इस तरह की लोक सेवा का अस्तित्व वहां होता है जहां सरकारी पद पर नियुक्ति किसी व्यक्तिगत अनुग्रह या राजनीतिक पुरस्कार के रूप में की जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक नवनिर्वाचित राष्ट्रपति के साथ अनेक कार्यरत उच्च प्रशासनिक अधिकारी पद मुक्त कर दिए जाते हैं और उनके स्थान पर ऐसे व्यक्ति नियुक्त कर दिए जाते हैं जिन्होंने उसके निर्वाचन में उसे सहायता की हो।

अध्याय 10

1. एक दल प्रणाली से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यदि किसी देश में केवल एक ही राजनीतिक दल हो और शासन शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों तो वहां की दल पद्धति को एकदलीय कहा जाता है।

एक दल प्रणाली वाले देशों में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है, अन्य किसी दल को संगठित होने की स्वतन्त्रता नही होती; दल के विरुद्ध बोलना या सोचना राष्ट्रद्रोह समझा जाता है।

एकदलीय शासन के उदाहरण हैं—साम्यवादी चीन, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली। एकदलीय शासनों में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सक्रियता के सब पहलुओं पर पार्टी का अत्यधिक नियन्त्रण रहता है तथा केवल शासक दल के हाथों में राजनीतिक श्रेष्ठजन की भर्ती का अधिकार रहता है।

2. द्विदलीय प्रणाली के गुण बतलाइए।

उत्तर—द्विदलीय प्रणाली से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य मे केवल दो ही राजनीतिक दल हों, प्रत्युत हमारा आशय यह है कि यदि अन्य दल हों तो उतने छोटे कि उनका राजनीति पर विशेष प्रभाव न हो। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन द्विदलीय पद्धति के उदाहरण हैं।

द्विदलीय पद्धति वाले देशों में कार्यपालिका अधिक स्थायी होती है और स्थायी नीतियों का निर्माण किया जा सकता है। विरोधी दल सरकार की सदैव रचनात्मक आलोचना करता है, सरकार का निर्माण सरल होता है तथा शासन द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से हो जाता है। लास्की के अनुसार इस व्यवस्था में जनता सरकार का प्रत्यक्ष निर्वाचन करती है।

अध्याय 11

1. दवाव समूह किसे कहते हैं?

उत्तर—व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दवाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मसलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनावों में अपना प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

कार्टर तथा हर्ज के अनुसार, "एक दवाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिसके एक से अधिक स्वार्थ या उद्देश्य होते हैं। ये सार्वजनिक नीति निर्माण को तथा नीति निर्माताओ को इसलिए प्रभावित करने में लगे रहते हैं ताकि उनके अपने हितों की अभिवृद्धि हो सके।"

दवाव समूह विभिन्न नामों से जाने जाते हैं—प्रभावक गुट, हित समूह, लॉबीज, हितबद्ध गुट आदि।

2. दवाव समूह एवं राजनीतिक दल में क्या अन्तर है?

उत्तर—दवाव समूह एवं राजनीतिक दल गैर सांविधानिक अभिकरण है। गैर सांविधानिक अभिकरण होने के बावजूद ये साविधानिक संस्थाओं को आधार एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं।

राजनीतिक दलों और दवाव समूहों में काफी अन्तर पाया जाता है—(1) राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेते हैं जबकि दवाव समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते। (2) राजनीतिक दलो के विशाल संगठन होते हैं जबकि दवाव समूह अपेक्षाकृत लघु होते हैं। (3) राजनीतिक दल के व्यापक उद्देश्य होते हैं जबकि दवाव समूह के उद्देश्य सीमित एवं विशिष्ट होते हैं। (4) राजनीतिक दल विधानमण्डल में कार्य करते हैं जबकि दवाव समूह विधानमण्डल के बाहर सक्रिय रहते हैं। (5) कोई भी व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है जबकि एक व्यक्ति एक समय पर उतने ही दवाव समूहों का सदस्य बन सकता है जितने उसके हित होते हैं।

अध्याय 12

1. भारत में वित्त आयोग का गठन कैसे होता है?

उत्तर—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान के लागू होने की तिथि से दो वर्ष के भीतर और उसके बाद हर पांचवें वर्ष की समाप्ति पर या आवश्यक होने पर उससे भी पहले वित्त आयोग नियुक्त करना चाहिए।

वित्त आयोग में एक सभापति तथा चार अन्य सदस्य होंगे, जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करेगा। सन् 1951 के वित्त आयोग अधिनियम में धारा 3 के अधीन सभापति और सदस्यों की अर्हताएं इस प्रकार दी गई हैं—आयोग का अध्यक्ष ऐसे व्यक्तियों में से किया जाएगा जिन्हें सार्वजनिक कार्यों का अनुभव हो और अन्य चारो सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से मनोनीत किए जाएंगे—(i) जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हों या रह चुके हों या इस प्रकार की नियुक्ति के पात्र हों, अथवा (ii) जिन्हें सरकार के वित्त और लेखों का विशेष ज्ञान हो, अथवा (iii) जिन्हें वित्तीय मामलों और प्रशासन का व्यापक अनुभव हो, अथवा (iv) जिन्हें अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान हो।

2. वित्त आयोग के कार्य बतलाइए।

उत्तर—संविधान के अनुच्छेद 280 (3) में वित्त आयोग के लिए निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए गए हैं :

(क) संघ तथा राज्यों के बीच करों के शुद्ध आगम के वितरण हेतु अनुशंसाएं करना,

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वों के सहायक अनुदान देने में पालनीय सिद्धान्तों की अनुशंसाएं करना,

(ग) सुस्थिर वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिश करना।

अध्याय 13

1. भारत में योजना आयोग का संगठन किस प्रकार होता है?

उत्तर—भारत में योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च 1995 को हुई जिसके बारे में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने एक संकल्प पारित किया था।

योजना आयोग का गठन अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, पूर्णकालिक सदस्यो तथा कतिपय केबिनेट मन्त्रियों के अंशकालिक सदस्य के रूप में किया जाता है। प्रधानमन्त्री योजना आयोग के पदेन अध्यक्ष होते है। आयोग का एक उपाध्यक्ष नियुक्त किया जाता है। आयोग में विशेषज्ञों के साथ-साथ राजनीतिक प्रभाव वाले मन्त्रिगण शामिल किए जाते हैं। पूर्णकालिक सदस्यों को आर्थिक मामलों या प्रशासन के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट ख्याति के आधार पर नियुक्त किया जाता है। सदस्यों के लिए कोई निश्चित योग्यता नही है, प्रधानमन्त्री की इच्छा से सदस्य नियुक्त किए जाते हैं। व्यवहार में सरकार के बदलते ही योजना आयोग का पुनर्गठन हो जाता है।

2. योजना आयोग के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा क्या अनुशंसाएं की गई थी?

उत्तर—प्रशासनिक सुधार आयोग ने योजना आयोग के बारे में कई अनुशंसाएं की गई थीं जिनमें प्रमुख हैं :

(1) प्रधानमन्त्री को योजना आयोग का अध्यक्ष नहीं बनाया जाना चाहिए, परन्तु उसके कार्यों से प्रधानमन्त्री का निकट सम्पर्क आवश्यक है; (2) योजना आयोग में अन्य किसी मन्त्री को भी सदस्य नहीं बनाया जाना चाहिए; (3) योजना आयोग के सदस्यों की सख्या 7 से अधिक नहीं होनी चाहिए; (4) आयोग के सदस्यों की नियुक्ति 5 वर्ष के निश्चित कार्यकाल के लिए की जानी चाहिए; (5) आयोग के सदस्यों को राज्यमन्त्री और अध्यक्ष को केबिनेट मन्त्री का दर्जा प्रदान किया जाना चाहिए; (6) आयोग के विभिन्न कार्यों का आवंटन सदस्यों की विशेषज्ञता एवं ज्ञान को देखकर ही किया जाना चाहिए।

अध्याय 14

1. राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन कैसे होता है?

उत्तर—राष्ट्रीय विकास परिषद का पहली बार गठन मन्त्रिमण्डल सचिवालय द्वारा जारी किए गए अगस्त 1952 के प्रस्ताव के अन्तर्गत हुआ है।

राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमन्त्री, योजना आयोग के सभी सदस्य सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री तथा संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा भारत सरकार केबिनेट स्तर के सभी मन्त्री सम्मिलित होते हैं। प्रधानमन्त्री इस परिषद का अध्यक्ष होता है। योजना आयोग

का सचिव राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव होता है। परिषद की बैठकों में प्रत्येक विषय पर खुलकर चर्चा होती है और निर्णय प्रायः सर्वसम्मति से होता है।

2. राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य क्या है?

उत्तर—योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समन्वय की स्थापना के लिए 'राष्ट्रीय विकास परिषद' की रचना की गई। इसके प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

1. राष्ट्रीय योजना की प्रगति पर समय-समय पर विचार करना;
2. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों सम्बन्धी विषयों पर विचार करना;
3. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिए पथ प्रदर्शक सूत्र निश्चित करना;
4. योजना आयोग द्वारा तैयार की गई राष्ट्रीय योजना पर विचार करना;
5. समय-समय पर योजना के कार्य की समीक्षा करना तथा राष्ट्रीय योजना में प्रतिपादित उद्देश्यों तथा कार्यलक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक उपायों की सिफारिश करना।

चूंकि राष्ट्रीय योजना के निर्माण के पथ प्रदर्शक सिद्धान्त राष्ट्रीय विकास परिषद तय करती है अतः अब यह शासन में नीति निर्धारण करने वाली सर्वोपरि संस्था बन गई है।

अध्याय 15

1 भारत में निर्वाचन आयोग का गठन कैसे होता है?

उत्तर—सविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों के निरीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण के लिए एक निर्वाचन आयोग का प्रावधान किया गया है।

अब निर्वाचन आयोग एक बहुसदस्यीय संस्था है जिसमे मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा दो अन्य निर्वाचन आयुक्त होते हैं। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तो की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। निर्वाचन आयोग के सभी सदस्यों के अधिकार समान है; किसी मसले पर मतभेद होने की स्थिति में बहुमत से निर्णय लिए जाने का प्रावधान है।

2 निर्वाचन आयोग को स्वतन्त्र साविधानिक निकाय क्यो कहा जाता है?

उत्तर—भारत मे निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र साविधानिक निकाय है; दूसरी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की दृष्टि से निम्नलिखित प्रावधान बड़े महत्वपूर्ण हैं :

1. आयोग एक संवैधानिक संस्था है, इसका निर्माण सविधान ने किया है न कि मन्त्रिमण्डल या सदन ने।
2. मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं।
3. नियुक्ति के पश्चात् उनकी सेवा शर्तों मे कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
4. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तो का वेतन भारत की संचित निधि में से दिया जाता है।
5. उनका सेवानिवृत्ति कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो भी पूर्व हो, कर दिया गया है।

संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे वे अपने दायित्वो को निकटता, निष्पक्षता तथा बिना किसी हस्तक्षेप के सम्पादित कर

अध्याय 16

1. *संघ लोक सेवा आयोग के प्रमुख कार्य बतलाइए।*

उत्तर—संविधान के अनुच्छेद 320 के अनुसार संघ लोक सेवा आयोग के निम्नांकित कार्य है:

1. संघ की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना;
2. यदि दो या अधिक राज्य आयोग को संयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिए आग्रह करें तो राज्यों को इस प्रकार की योजनाएं बनाने में सहायता करना;
3. संघ सरकार के लिए निम्नांकित मामलों पर आयोग के साथ परामर्श करना अपेक्षित है—(क) लोक सेवाओं में भर्ती के तरीकों के बारे में, (ख) लोक सेवाओं में नियुक्ति और पदों के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों पर, (ग) अनुशासनात्मक मामलो पर, (घ) पेंशन से सम्बन्धित मामलों पर।

2. संघ लोक सेवा आयोग को सलाहकारी निकाय क्यों रखा गया है?

उत्तर—संविधान में लोक सेवा आयोगों का कार्य सिर्फ सलाह देना रखा गया है। सरकार आयोग *द्वारा चयनित प्रत्याशियों को नियुक्ति देने के लिए बाध्य नही है।* आमतौर से आयोग की सलाह स्वीकार कर ली जाती है। यदि आयोग सलाहकारी न हों तो सरकार से उनकी टकराहट हो सकती है। पायली के अनुसार यदि आयोग को बाध्यकारी सत्ता प्रदान की जाए तो सरकार तथा आयोग के बीच विवाद उत्पन्न होगे। वस्तुतः कोई भी मन्त्रालय आयोग की सिफारिशों को अस्वीकार नहीं करता जब तक कि मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की स्वीकृति नही ले लेता। औसतन आयोग की प्रतिवर्ष हजारों मे से बहुत ही कम सिफारिशो को सरकार ने अस्वीकार किया है।

अध्याय 17

1. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का गठन किस प्रकार होता है?

उत्तर—1953-54 में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का गठन किया गया। अप्रैल 1969 से *यह कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत स्वायत्तशाली निकाय है। बोर्ड पूर्ण रूप से भारत* सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

बोर्ड का संगठन—1. अध्यक्ष, 2. कार्यकारी निदेशक, 3. सामान्य निकाय, तथा 4. कार्यकारिणी समिति से मिलकर होता है।

बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती है। बोर्ड का कार्यकारी निदेशक दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करता है। बोर्ड के सामान्य निकाय मे बोर्ड के अध्यक्ष और कार्यकारी निदेशक सहित 51 सदस्य हैं। बोर्ड के कार्यों का संचालन कार्यकारिणी समिति द्वारा किया जाता है जिसमें बोर्ड के अध्यक्ष सहित 15 सदस्य हैं।

2. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के प्रमुख उद्देश्य बतलाइए।

उत्तर—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के निम्नांकित उद्देश्य हैं :

1. समाज कल्याण मे लगे सगठनो की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का *समय-समय पर संरक्षण, शोध और मूल्यांकन करना;*

2. अनुदान प्राप्त संगठनों के कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन करना;
3. समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्य करने वाले स्वयं सेवी संगठनों के निर्माण को प्रोत्साहित करना;
4. समाज के दुर्बल वर्गों—महिलाओं, बच्चों, वृद्धों के सामान्य कल्याण से प्रेरित हो विभिन्न सामाजिक कल्याण की गतिविधियों को प्रोत्साहित करना;
5. केन्द्रीय मंत्रालयों अथवा राज्य सरकारों द्वारा कल्याण कार्य में संलग्न संगठनों को दी जा रही सहायता में समन्वय करना।

अध्याय 18

1. रेलवे बोर्ड की संरचना समझाइए।

उत्तर—रेलवे बोर्ड एक अध्यक्ष, एक वित्त आयुक्त, 5 अन्य कार्यात्मक सदस्यों तथा एक सचिव से मिलकर गठित होता है।

रेलवे बोर्ड की समस्त गतिविधियां बोर्ड के अध्यक्ष के नेतृत्व में संचालित होती हैं। चेयरमेन स्वयं एक कार्यकारी सदस्य होता है और उसे भारत सरकार के प्रमुख सचिव का दर्जा प्राप्त है। वही रेलवे विभाग का प्रशासनिक अध्यक्ष भी होता है और रेलवे सम्बन्धी नीति निर्धारण में रेल मन्त्री को परामर्श देता है।

रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की सिफारिश पर रेलमन्त्री द्वारा की जाती है।

2. रेलवे बोर्ड की प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।

उत्तर—भारत में रेल मन्त्रालय अवश्य है किन्तु व्यवहार में रेलवे बोर्ड ही वह सर्वोच्च सत्ता है जो रेलों की प्रशासनिक देखभाल और उनका निर्देशन करता है।

रेलवे बोर्ड एक सामूहिक निकाय है; बोर्ड का प्रत्येक सदस्य कार्यात्मक है। बोर्ड में सचिवालयी तथा प्रशासनिक (लाइन तथा स्टाफ कार्य) कार्यों का सामंजस्य कर दिया गया है। बोर्ड विशेषज्ञों की संस्था है और इसके अधिकांश सदस्य इंजीनियर्स हैं। बोर्ड के अध्यक्ष को व्यापक अधिकार दिए गए हैं और बोर्ड भारत सरकार के मन्त्रालय के रूप में कार्य करता है।

अध्याय 19

1. रिजर्व बैंक का संगठन समझाइए।

उत्तर—रिजर्व बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय निदेशक मण्डल करता है जिसके 20 सदस्य होते हैं—एक गवर्नर व चार डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार द्वारा, चार संचालक स्थानीय मंडलों द्वारा, दस संचालक व एक अधिकारी भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।

गवर्नर व डिप्टी गवर्नर का कार्यकाल 5 वर्ष होता है लेकिन उन्हें पुनः नियुक्त किया जा सकता है। दस संचालकों का कार्यकाल 4 वर्ष का होता है, लेकिन स्थानीय मंडलों द्वारा मनोनीत संचालक स्थानीय मंडल की सदस्यता के काल में ही संचालक रह सकते हैं तथा सरकारी अधिकारी सरकार द्वारा निर्धारित समय के लिए ही संचालक बन सकता है। बैंक के गवर्नर व डिप्टी गवर्नर बैंक के पूर्णकालिक अधिकारी होते हैं शेष संचालक पूर्णकालिक नहीं होते हैं।

2. रिजर्व बैंक को बैंकों का बैंक क्यों कहा जाता है?

उत्तर—रिजर्व बैंक भारत के सभी बैंकों का नियमन करता है। कोई भी नई बैंक बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के स्थापित नही हो सकती और न पुरानी बैंक अपनी नई शाखाएं ही खोल सकती है। वह बैंकों के बिलों को भुनाती है, उसके समाशोधन की व्यवस्था करती है तथा उनकी साखनीति को निर्धारित करती है। रिजर्व बैंक के द्वारा बैंकों द्वारा अवांछनीय कार्यों को करने से रोका जाता है। इस प्रकार रिजर्व बैक बैंकों का बैंक है, उनका शुभचिन्तक है तथा संरक्षक एवं नियन्त्रण सभी कुछ है।

अध्याय 20

1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) का गठन कैसे होता है?

उत्तर—वर्तमान में यू. जी. सी. की कुल सदस्य संख्या अध्यक्ष सहित 12 है, जो इस प्रकार है :

अध्यक्ष 1
उपाध्यक्ष 1
सदस्य 10

यू. जी. सी. के अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया है तथा उपाध्यक्ष एवं सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्ष रखा गया है। यू. जी. सी. ऐक्ट के अनुसार इनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है।

यू. जी. सी. के सदस्यों में से 2 सरकारी प्रतिनिधि होते हैं। शेष 8 सदस्यों में से कम से कम 4 विश्वविद्यालयीन शिक्षक होते हैं।

2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्य बतलाइए।

उत्तर—विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एक विधिक निकाय है जिसकी स्थापना भारत सरकार के 'यू. जी. सी. ऐक्ट, 1956' के अन्तर्गत की गई है। इसके प्रमुख कार्य हैं :

1. विश्वविद्यालय एवं सम्बद्ध कालेजों को अनुदान राशि का आवंटन एवं बंटवारा;
2. विश्वविद्यालयों को सलाह देना;
3. उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में सूचनाएं एकत्रित करना;
4. विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक, परीक्षा सम्बन्धी एवं शोध विषयक स्थिति का निरीक्षण करना;
5. शिक्षकों के वेतनमानों की सिफारिशें करना;
6. विश्वविद्यालयों को निर्देश देना और आवश्यक हो तो उनका अनुदान रोकना।

महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

B.A. (Part II) EXAMINATION, 1998

PUBLIC ADMINISTRATION

First Paper : (Administrative Institutions)

Time allowed : Three hours] [*Maximum Marks* : 100

प्रत्येक इकाई में से कम से कम एक प्रश्न का चयन करते हुए, किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नो के अंक समान हैं।

इकाई-I

1. अपने देश में प्रजातान्त्रिक प्रशासन के प्रमुख लक्षण बताइए। 20

Or

2. अहस्तक्षेपवादी राज्य की मुख्य विशेषताएं क्या हैं? यह लोक कल्याणकारी राज्य से किस प्रकार भिन्न है? 20

इकाई-II

3. कार्यपालिका के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए। इनमें से आप किसे बेहतर समझते हैं और क्यों?

Or

4. न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए। लोकतन्त्र में स्वतन्त्र न्यायपालिका के महत्व को समझाइए।

इकाई-III

5. लोकतन्त्र में नौकरशाही की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

Or

6. दबाव समूहो से आप क्या समझते हैं? प्रजातन्त्र में इनकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।

इकाई-IV

7. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संगठन एवं कार्यकरण की व्याख्या कीजिए। इसकी उपादेयता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

Or

8. संघीय लोक सेवा आयोग के संगठन को बताइए एवं इसकी भूमिका एवं कार्यों का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिए।

इकाई-V

9. भारत मे निर्वाचन आयोग के संगठन एवं कार्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

Or

10. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के संगठन एवं कार्यकरण को समझाइए।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

B.A. (Part II) EXAMINATION, 1998

[Also Common with Subsidiary Paper of B.A. (Hons.)
Part II Three-Year Scheme of 10+2+3 Pattern]

PUBLIC ADMINISTRATION

First Paper : (Administrative Institutions in India)

OBJECTIVE TYPE QUESTIONS

Time : 30 Minutes] [*Maximum Marks* : 20

प्रत्येक प्रश्न का 1 अंक है। प्रत्येक प्रश्न के अन्त में कोष्ठक में दिए गए स्थान पर सही उत्तर की क्रम संख्या लिखिए।

1. वित्त आयोग की नियुक्ति कौन करता है?
   (अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमन्त्री
   (स) वित्तमन्त्री (द) संसद। (अ)
2. योजना आयोग का अध्यक्ष होता है :
   (अ) प्रधानमन्त्री (ब) वित्तमन्त्री
   (स) राष्ट्रपति (द) सरकार द्वारा नियुक्त। (अ)
3. आर्थिक विकास में अधिकारी तन्त्र की भूमिका स्पष्ट होती है :
   (अ) सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा (ब) आर्थिक नियोजन द्वारा
   (स) करारोपण द्वारा (द) (अ) और (ब) दोनों। (द)
4. राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन किया गया :
   (अ) 1947 में (ब) 1950 में
   (स) 1952 में (द) 1971 में। (स)
5. न्यायिक पुनरीक्षण का अर्थ है :
   (अ) न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना
   (ब) न्यायपालिका द्वारा व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना
   (स) कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जाच करना
   (द) न्यायपालिका का व्यवस्थापिका पर नियन्त्रण। (अ)
6. 'लेसे फेयर' कौन-सी भाषा का शब्द है?
   (अ) फ्रेन्च (ब) लैटिन
   (स) अंग्रेजी (द) हिन्दी। (अ)
7. वह राज्य जो लोकतान्त्रिक शासन, सामाजिक विकास एव सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है:
   (अ) प्रशासनिक राज्य (ब) अहस्तक्षेपवादी राज्य
   (स) कल्याणकारी राज्य (द) उपर्युक्त सभी। (स)
8. प्रशासनिक राज्य का प्रमुख दोष है :
   (अ) लोकतन्त्रीय शासन (ब) न्यूनतम शासन
   (स) लालफीताशाही (द) उपर्युक्त सभी। (स)

9. व्यवस्थापिका का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है .
(अ) कार्यपालिका पर नियन्त्रण (ब) कानून निर्माण
(स) बजट बनाना (द) लोकहितों की चर्चा। (ब)

10 एडम स्मिथ ने किस प्रकार के राज्य का समर्थन किया?
(अ) लोक कल्याणकारी राज्य (ब) समाजवादी राज्य
(स) अहस्तक्षेपवादी राज्य (द) साम्यवादी राज्य। (स)

11 संविधान के किस अनुच्छेद में निर्वाचन आयोग का प्रावधान है?
(अ) 280 (ब) 324
(स) 315 (द) 352। (ब)

12 निर्वाचन आयोग की प्रमुख विशेषता है :
(अ) एकसदस्यीय (ब) सरकार का अंग
(स) बहुसदस्यीय (द) न्यायालय का अंग। (स)

13. संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यो का कार्यकाल कितना है?
(अ) 6 वर्ष
(ब) 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक
(स) 6 वर्ष अथवा 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक
(द) 6 वर्ष अथवा 62 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक। (स)

14. दसवें वित्त आयोग के अध्यक्ष का नाम है :
(अ) के. सी. पंत (ब) ए. के. चन्द्रा
(स) महावीर त्यागी (द) एन. के. पी. साल्वे। (अ)

15. रिजर्व बैंक का केन्द्रीय कार्यालय कहां है?
(अ) दिल्ली (ब) मुम्बई
(स) कलकत्ता (द) लखनऊ। (ब)

16. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम कब पारित हुआ?
(अ) 1947 (ब) 1950
(स) 1952 (द) 1956। (द)

17. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति कौन करता है?
(अ) भारत सरकार (ब) संसद
(स) योजना आयोग (द) इनमे से कोई नही। (अ)

18. भारत सरकार का सबसे बड़ा मन्त्रालय/विभाग है :
(अ) वित्त मन्त्रालय (ब) रेल मन्त्रालय
(स) गृह मन्त्रालय (द) विदेश मन्त्रालय। (ब)

19. दबाव समूह किस प्रकार के संगठन हैं ?
(अ) विशुद्ध सैनिक संगठन (ब) विशुद्ध गैर-राजनीतिक संगठन
(स) विशुद्ध राजनीतिक संगठन (द) उपर्युक्त मे से कोई नहीं। (ब)

20. एक दल प्रणाली का गुण नहीं है : (द)
(अ) अनुशासन (ब) द्वि-दल प्रणाली
(स) बहु-दल प्रणाली (द) उत्तरदायी शासन।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

B.A. (Part II) EXAMINATION, 1998

[Also Common with Subsidiary Paper of B.A. (Hons.)
Part II Three-Year Scheme of 10+2+3 Pattern]

PUBLIC ADMINISTRATION

First Paper : (Administrative Institutions in India)

Time : $2\frac{1}{2}$ Hours] [*Maximum Marks* : 80

किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नो के अंक समान है।

1. अहस्तक्षेपवादी राज्य से आप क्या समझते हैं? वह राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य से किस प्रकार भिन्न है?
2. एक प्रजातान्त्रिक समाज मे अधिकारी तन्त्र की भूमिका समझाइए।
3. योजना आयोग के संगठन व कार्यों को समझाइए।
4. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संगठन को समझाइए। उच्च शिक्षा की दिशा में इसके द्वारा किए गए प्रयासो पर दृष्टि डालिए।
5. केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल के संगठन एवं कार्यों को विस्तार से समझाइए।
6. रेलवे मण्डल के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
7. प्रजातान्त्रिक प्रशासन की महत्वपूर्ण विशेषताओं को विस्तार से समझाइए।
8. राजनीतिक दलो से आप क्या समझते हैं? प्रजातन्त्र मे इसकी क्या भूमिका है?
9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :

   (अ) न्यायिक पुनरीक्षण; (ब) राष्ट्रीय विकास परिषद्;

   (स) व्यवस्थापिका का पतन; (द) दबाव समूह।